प्रमेयरत्नार्णव

केदारनाथ मिश्र

सुहृद्वर श्री कमलाकर मिश्र को
सस्नेह
के. ना. मिश्र
१३।३।'८२



श्रीरत्नकृष्णभट्टविरचित

प्रमेयरत्नार्णव

(हिन्दी अनुवाद सहित)

सम्पादक एवं अनुवादक

केदारनाथ मिश्र

लेक्चरर,
दर्शन विभाग, कला सङ्काय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

श्री नागरदास का० बाँभणिया
सेठ हरजीवनदास पुरुषोत्तमदास प्रोफ़ेसर ऑफ़ शुद्धाद्वैत फ़िलासफ़ी
द्वारा लिखित
आमुख सहित

प्रकाशक

आनन्द प्रकाशन

वाराणसी-१

प्रकाशक
आनन्द मिश्र
आनन्द प्रकाशन
बी० २।१७८ ए, भदैनी
वाराणसी–१ (भारत)

प्रथम संस्करण, दिसम्बर १९७१.

मूल्य—दस रुपये

मुद्रक
गौरीशङ्कर प्रेस
मध्यमेश्वर
वाराणसी

PRAMEYA-RATNĀRNAVA

OF

ŚRĪ BĀLA-KṚṢṆA BHAṬṬA

Edited and Translated by

KEDAR NATH MISHRA

Lecturer,

Department of Philosophy,

Faculty of Arts,

Banaras Hindu University.

With a Foreword by

PROF. N. K. Bambhania,

Shetha Harjivandas Purushottamdas Professor of Śuddhādvaita Philosophy, (Ahmedabad).

ĀNANDA PRAKĀŚANA

VARANASI-1

Published by

ĀNANDA PRAKĀŚANA

B 2/178 A, Bhadaini,

VARANASI-1 (INDIA).

First Edition, December 1971.

Price Rs. 10.00

Printers

GAURI SHANKAR PRESS

Madhyameshwar,

VARANASI.

शुद्धाद्वैतदर्शन एवं पुष्टिमार्ग में
सर्वप्रथम मेरी अभिरुचि जाग्रत करने वाले
अपने समादरणीय विद्यागुरु
आचार्य चन्द्रधर शर्मा
डी० फिल्०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य,
प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन-विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय
के करकमलों में
सादर समर्पित



विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठसङ्ख्या



पुस्तक में प्रयुक्त संकेतों का विवरण

उ० या उप०	उपनिषद्
ऐतरेयोप०	ऐतरेयोपनिषद्
कठोप०	कठोपनिषद्
का०	कारिका
कृष्णोप०	कृष्णोपनिषद्
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
गोपालपूर्वता०	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
गोपालोत्तरता०	गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
छान्दो०	छान्दोग्य (उपनिषद्)
तैत्ति०	तैत्तिरीय (उपनिषद्)
नारा०	नारायण (उपनिषद्)
निरोधल०	निरोधलक्षणम्
नृसिंहोत्तरता०	नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
पुष्टिप्र०	पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः
प्र०	प्रकाशः (टीका)
प्रश्नोप०	प्रश्नोपनिषद्
बृह०	बृहदारण्यक (उपनिषद्)
भा० या भाग०	भागवत (श्रीमद्भागवतम्)
भागवतार्थप्र०	भागवतार्थप्रकरणम्
महाना०	महानारायण (उपनिषद्)
मुण्ड०	मुण्डक (उपनिषद्)
शास्त्रार्थप्र०	शास्त्रार्थप्रकरणम्
श्रीपुष्टिमा०	श्रीपुष्टिमार्गलक्षणानि
श्वेता०	श्वेताश्वतर (उपनिषद्)
सर्वनिर्णयप्र०	सर्वनिर्णयप्रकरणम्
सिद्धान्तमु०	सिद्धान्तमुक्तावली
सुबो०	सुबोधिनी (श्रीमद्भागवतटीका) ।

FOREWORD

It will be no exaggeration to say that the scriptural description of *Parabrahman* as *Aṇoraṇīyān mahato mahīyān* can well apply to this *Prameya-ratnārṇava* of Śrī Lālūbhaṭṭajī. One very rarely comes across such a clear, compact, concise and yet comprehensive work. There is not a single important aspect of the religion and philosophy of Śri Vallabhācārya which has not been lucidly treated in this little tract. The real excellence of the author lies in his very clear grasp and in an equally lucid presentation of essential principles. And it is a matter of no small joy that in Sri Kedar Nath Mishra, one of my very brilliant students, we have found an equally worthy editor and translator, whose grasp and presentation are in no way less clear. The special feature of the present edition of the work lies in the fact that therein we find for the first time the indication of the sources of quotations and the completion of certain incomplete ones. When one thinks of the time and trouble taken by the editor in tracing all these quotations, one cannot help feeling highly obliged to him. Moreover, the printing is almost absolutely flawless. This shows how very great care the editor has taken in correcting proofs. It gives me genuine pleasure to recommend this edition.

That a few works of Srī Bāla-Kṛṣṇa Bhaṭṭa are to be had in print is our great fortune. Śrī Vallabhācārya's *Brahmasūtrāṇubhāṣyam* and *Bhāgavata-subodhinī* are well-known. The author's commentary on the first

three Sūtras of the first and that on certain portions of the second are to be had in print. Besides these two commentaries we have in print his two small works, Sevā Kaumudī and Nirṇayārṇava over and above the present Prameya-ratnārṇava. In Nirṇayārṇava he has very brilliantly pointed out certain misreadings that have crept into the writings of Śrī Vallabhācārya through the want of proper care on the part of scriber. After doing so, he has suggested correct readings which make the sense of the line absolutely clear and consistent. This speaks volumes of his critical acumen. Whatever little our author has written is really a very rich contribution to the Sāmpradāyika literature. The definition 'Paricchedo hi pāṇḍityam' fits him fully well. His clear grasp and simple and forth-right presentation are really admirable. At times he shows wonderful originality. That we find, in our Prameya-ratnārṇava, in his treatment of such topics as *Bhagavanmūrti-svarūpa-vicāra*, *Dehātmabuddhi-svarūpa-viveka*, *Tirobhāva-svarūpa-nirūpaṇa*, and *Ādhunika-Jīva-viṣayaka-vicāra*.

I conclude this small Foreword of mine with humble obeisance to this mighty author and hearty congratulations to the editor-cum-translator for his excellent performance and very valuable service.

Campāraṇya-Madhuvana
Ellis Bridge
Ahmedabad-6.

N. K. Bambhania
21-9-1971

आमुख

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि परब्रह्म का निरूपक श्रुतिवाक्य **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** श्रीलालूभट्टजी के इस **प्रमेय-रत्नार्णव** पर भी भली-भाँति लागू हो सकता है। इस प्रकार के सुस्पष्ट, सुसंहत और संक्षिप्त होते हुए भी परिग्राही ग्रन्थ यदा-कदा ही मिल पाते हैं। श्रीवल्लभाचार्य के धर्म और दर्शन का ऐसा एक भी महत्त्वपूर्ण पक्ष नहीं है जिसका इस छोटी-सी कृति में विशद निरूपण न किया गया हो। ग्रन्थकार का वास्तविक वैशिष्ट्य सारभूत सिद्धान्तों को सुस्पष्ट रूप से हृदयङ्गम कर लेने तथा उन्हें उतनी ही स्पष्टता से उप-स्थापित कर देने में है; और यह कम प्रसन्नता की बात नहीं है कि मेरे एक अति तेजस्वी विद्यार्थी श्रीकेदारनाथ मिश्र के रूप में हमें एक उतने ही योग्य सम्पादक एवं अनुवादक मिल गये हैं जिनका वाल्लभ सिद्धान्तों का अवबोध एव प्रत्युपस्थापन किसी भी रूप में कम स्पष्ट नहीं है। प्रस्तुत संस्करण की विशेषता यह है कि इसमें पहली बार उद्धरणों के मूल निर्दिष्ट कर दिये गये हैं एवं अपूर्ण उद्धरणों को पूरा कर दिया गया है। इन सारे उद्धरणों का मूलस्थल खोजने में कितना समय और परि-श्रम लगा होगा यह सोचने पर किसी भी व्यक्ति को सम्पादक के प्रति कृतज्ञता की अनुभूति हुए विना न रहेगी। इतना ही नहीं, मुद्रण भी प्रायः पूर्णतया निर्दोष है। इससे पता चलता है कि सम्पादक ने प्रूफ संशोधन कितनी सावधानी से किया है। इस संस्करण की अनुशंसा करने में मुझे हार्दिक आनन्द का अनुभव होता है।

यह हमारे सौभाग्य की बात है कि प्रमेयरत्नार्णवकार की कुछ कृतियाँ छप गयी हैं। श्रीवल्लभाचार्य के ब्रह्मसूत्राणुभाष्य और भागवत-

three Sūtras of the first and that on certain portions of the second are to be had in print. Besides these two commentaries we have in print his two small works, Sevā Kaumudī and Nirṇayārṇava over and above the present Prameya-ratnārṇava. In Nirṇayārṇava he has very brilliantly pointed out certain misreadings that have crept into the writings of Śrī Vallabhācārya through the want of proper care on the part of scriber. After doing so, he has suggested correct readings which make the sense of the line absolutely clear and consistent. This speaks volumes of his critical acumen. Whatever little our author has written is really a very rich contribution to the Sāmpradāyika literature. The definition 'Paricchedo hi pāṇḍityam' fits him fully well. His clear grasp and simple and forth-right presentation are really admirable. At times he shows wonderful originality. That we find, in our Prameya-ratnārṇava, in his treatment of such topics as *Bhagavanmūrti-svarūpa-vicāra*, *Dehātmabuddhi-svarūpa-viveka*, *Tirobhāva-svarūpa-nirūpaṇa*, and *Ādhunika-Jīva-viṣayaka-vicāra*.

I conclude this small Foreword of mine with humble obeisance to this mighty author and hearty congratulations to the editor-cum-translator for his excellent performance and very valuable service.

Campāraṇya-Madhuvana
Ellis Bridge
Ahmedabad-6.

N. K. Bambhania
21-9-1971

आमुख

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि परब्रह्म का निरूपक श्रुतिवाक्य **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** श्रीलालूभट्टजी के इस **प्रमेय-रत्नार्णव** पर भी भली-भाँति लागू हो सकता है। इस प्रकार के सुस्पष्ट, सुसंहत और संक्षिप्त होते हुए भी परिग्राही ग्रन्थ यदा-कदा ही मिल पाते हैं। श्रीवल्लभाचार्य के धर्म और दर्शन का ऐसा एक भी महत्त्वपूर्ण पक्ष नहीं है जिसका इस छोटी-सी कृति में विशद निरूपण न किया गया हो। ग्रन्थकार का वास्तविक वैशिष्ट्य सारभूत सिद्धान्तों को सुस्पष्ट रूप से हृदयङ्गम कर लेने तथा उन्हें उतनी ही स्पष्टता से उपस्थापित कर देने में है; और यह कम प्रसन्नता की बात नहीं है कि मेरे एक अति तेजस्वी विद्यार्थी श्रीकेदारनाथ मिश्र के रूप में हमें एक उतने ही योग्य सम्पादक एवं अनुवादक मिल गये हैं जिनका वाल्लभ सिद्धान्तों का अवबोध एव प्रत्युपस्थापन किसी भी रूप में कम स्पष्ट नहीं है। प्रस्तुत संस्करण की विशेषता यह है कि इसमें पहली बार उद्धरणों के मूल निर्दिष्ट कर दिये गये हैं एवं अपूर्ण उद्धरणों को पूरा कर दिया गया है। इन सारे उद्धरणों का मूलस्थल खोजने में कितना समय और परिश्रम लगा होगा यह सोचने पर किसी भी व्यक्ति को सम्पादक के प्रति कृतज्ञता की अनुभूति हुए विना न रहेगी। इतना ही नहीं, मुद्रण भी प्रायः पूर्णतया निर्दोष है। इससे पता चलता है कि सम्पादक ने प्रूफ संशोधन कितनी सावधानी से किया है। इस संस्करण की अनुशंसा करने में मुझे हार्दिक आनन्द का अनुभव होता है।

यह हमारे सौभाग्य की बात है कि प्रमेयरत्नार्णवकार की कुछ कृतियाँ छप गयी हैं। श्रीवल्लभाचार्य के ब्रह्मसूत्राणुभाष्य और भागवत-

सुबोधिनी नामक सुविदित ग्रन्थों में से प्रथम के प्रारम्भिक तीन सूत्रों तथा द्वितीय के कुछ अंशों पर उनकी टीका मुद्रित रूप में मिलती है। इन दोनों टीकाओं के अतिरिक्त, प्रस्तुत प्रमेयरत्नार्णव के साथ ही उनके दो अन्य लघुग्रन्थ **सेवाकौमुदी** तथा **निर्णयार्णव** भी मुद्रित हो चुके हैं। निर्णयार्णव में उन्होंने लिपिकारों के प्रमाद से श्रीवल्लभाचार्य की कृतियों में आये हुए अनेक अपपाठों का बड़ी निपुणता से निर्देश करके शुद्ध पाठ सुझाये हैं जिनसे पंक्ति का भाव पूर्णतया सुस्पष्ट एवं सुसंगत हो जाता है। यह उनकी समीक्षात्मक योग्यता का प्रभूत प्रमाण है। उन्होंने जो भी थोड़े से ग्रन्थ लिखे हैं वे वस्तुतः साम्प्रदायिक साहित्य को एक महती देन हैं। पाण्डित्य का लक्षण **'परिच्छेदो हि पाण्डित्यम्'** उनके सम्बन्ध में अक्षरशः उपयुक्त है। उनका सिद्धान्तों का सुस्पष्ट अवबोध तथा सरल एवं निश्चायक प्रत्युपस्थापन निस्सन्देह प्रशंसनीय है। कभी-कभी उनमें अद्भुत नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की झलक मिलती है जिसे प्रमेयरत्नार्णव में हम भगवन्मूर्तिस्वरूपविचार, देहात्मबुद्धिस्वरूपविवेक, तिरोभावस्वरूपनिरूपण तथा आधुनिक जीवविषयक विचार जैसे विषयों के विवेचन में पाते हैं।

मैं अपने इस लघु आमुख को इस समर्थ ग्रन्थकार के प्रति विनम्र प्रणति तथा इस ग्रन्थ के सम्पादक एवं अनुवादक को उनके उत्कृष्ट कृतित्व एवं अति मूल्यवान् सेवा के लिये हार्दिक बधाई के साथ समाप्त करता हूँ।

चम्पारण्य-मधुवन
एलिस ब्रिज
अहमदाबाद—६

नागरदास का० बाँभणिया
२९।९।१९७१

उपोद्घात

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित पुष्टिमार्ग एवं शुद्धाद्वैतवाद के मर्म को समझने की इच्छा रखने वाले प्रबुद्ध पाठकों के लाभार्थ वाल्लभ सिद्धान्त के तलस्पर्शी विद्वान् एवं समर्थ ग्रन्थकार श्रीबालकृष्ण-भट्ट द्वारा प्रणीत 'प्रमेयरत्नार्णवः' नामक इस प्राचीन ग्रन्थरत्न का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए हमें एक अनिर्वचनीय आत्मतोष का अनुभव हो रहा है।

प्रमेयरत्नार्णवकार श्रीबालकृष्णभट्ट—जो वाल्लभ-सम्प्रदाय में श्रीलालू-भट्ट के नाम से प्रसिद्ध हैं—के विषय में हमारा ज्ञान बहुत सीमित है। श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला और श्रीधैर्यलाल सांकलीया ने 'सेवाफलम्' की अपनी प्रस्तावना में उन्हें श्रीमधुसूदनभट्ट का पुत्र बताया है। तैलङ्गदेश के जिन सजातीय विद्वान् ब्राह्मणों को गोस्वामी विट्ठलनाथ दीक्षित ने गोकुल में बसा लिया था उनमें श्रीविश्वनाथभट्ट के गोविन्द एवं कृष्ण नामक दो पुत्र भी थे—जिनकी एक बहिन रुक्मिणी को श्रीविट्ठलनाथ दीक्षित ने अपनी धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार किया था। श्रीमधुसूदनभट्ट इन्हीं विश्वनाथभट्ट के वंशज थे[1]। अणुभाष्यम्[2],

---

१. "केचिदाचार्यज्ञातिजनाः तैलङ्गदेशीया विद्वांसो ब्राह्मणाः श्रीमद्-विट्ठलेश्वरप्रभुचरणैः गोकुले समानीताः। तैः सह श्रीमत्प्रभुचरणैः कन्या-दानव्यवहारो रक्षितः। एतादृशेषु ब्राह्मणेषु द्वौ भ्रातरौ गोविन्द-कृष्णभट्टौ बभूवतुः ययोर्भगिनी श्रीरुक्मिणी श्रीमत्प्रभुचरणैः स्वपत्नीत्वेन स्वीकृता। आत्रेयापस्तम्बविश्वनाथस्य पुत्रौ ह्येतौ। विश्वनाथभट्टवंश्येषु कश्चिन्मधु-सूदनभट्टो बभूव। तस्य मधुसूदनभट्टस्य सूनव एते लालूभट्टोपनामबालकृष्ण-दीक्षिताः।" ('सेवाफलम्' के प्रारम्भ में 'विवरणकर्तां परिचयः' पृष्ठ ३)।

२. "Lālūbhaṭṭajī was a descendant of Śrī

सेवाफलम्[1] और सिद्धान्तरहस्यम्[2] के सम्पादकीय में श्रीतेलीवाला एवं श्रीसांकलीया ने लिखा है कि श्रीवल्लभाचार्य के वंश की कन्याओं के वंशज भट्ट कहे जाते हैं और श्रीलालूभट्ट भी इसीलिए भट्ट कहे जाते थे। 'दशम-तामसफलप्रकरण-सुबोधिनी-योजना' के 'निवेदनम्' में श्रीतेलीवाला ने श्रीलालूभट्ट को बागरोदी दीक्षित और श्रीभाणेजभट्ट का पुत्र बताया है तथा उन्हें गोस्वामिवंश का जामाता न मानने के श्रीकल्याणशास्त्री के मत का उल्लेख किया है[3]। सम्भव है श्रीमधुसूदन-भट्ट उसी प्रकार भाणेजभट्ट के नाम से प्रसिद्ध रहे हों जिस प्रकार श्रीबालकृष्णभट्ट लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध थे।

श्री तेलीवाला एवं श्रीसांकलीया के अनुसार श्रीलालूभट्ट सम्राट् सवाई जयसिंह (जन्म संवत् १६८८ वि० तथा मृत्यु संवत् १७२८ वि०) के आश्रित थे और इस दृष्टि से उन्हें ईसा की सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध

Vallabhācārya from the female side."

(Introduction, p. 9 of श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्).

१. "प्रायः श्रीमद्गोस्वामिनां दुहितृतो वंश्या भट्टा इत्युच्यन्ते, लालू-भट्टा अपि तथैव।" ('सेवाफलम्' के प्रारम्भ में, 'विवरणकर्तां परिचयः', पृष्ठ ३)।

२. "The other two are also descendants of Vallabhācārya from daughters and they are known as Bhaṭṭas or Lālajīs." ('सिद्धान्तरहस्यम्', Editors Note, p. II.).

३. "बागरोदीदीक्षितश्रीलालूभट्टकृता योजनाधुना प्रकाश्यते। श्रीभाणेजभट्टसुतेत्यनेन लालूभट्टा न गोस्वामिजामातरः अपि तु तत्पुत्रा इति कल्याणशास्त्रिणः।" ('दशमतामसफलप्रकरणसुबोधिनीयोजना' के अन्त में 'निवेदनम्' पृष्ठ ४०)।

में विद्यमान होना चाहिए[1]। सम्प्रदाय के विद्वान् उन्हें गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम (जन्म संवत् १७२४ वि०) का समसामयिक मानते हैं[2]। श्री बालकृष्णभट्ट ने अपनी कृतियों में गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे उक्त धारणाओं की पुष्टि होती है[3]। वे प्रायः राजस्थान के कोटा नगर में रहा करते थे, जहाँ उनका श्रीबालकृष्णप्रभु का मन्दिर आज भी विराजमान है[4]। उन्होंने अपनी प्रायः सभी कृतियों के प्रारम्भ में श्रीगिरिधारी[5] तथा श्रीबालकृष्ण-

---

१. "एते लालूभट्टोपनामबालकृष्णदीक्षिताः सम्राट्सवाईजयसिंहस्याश्रिताः। सवाईजयसिंहस्तु संवत् १६८८ वर्षे प्रादुर्भूतः, १७२८ वर्षे पञ्चत्वं गतः, अतोऽस्मिन् समये लालूभट्टा विद्यमाना आसन्।" ('सेवाफलम्' के प्रारम्भ में, 'विवरणकृतां परिचयः', पृष्ठ ३)।

२. "इमे श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणसमये वैक्रमे चतुर्विंशत्युत्तरे सप्तदशशतके (१७२४) आसन्निति साम्प्रदायिकविद्वत्प्रसिद्धिः। ....वैदुष्यमहिम्ना चैते जयपुरपुरन्दरादिविविधमहाराजेभ्यः सम्मानमवापुः।" ('वादावलिः' के प्रारम्भ में श्रीरमानाथभट्टलिखित 'ग्रन्थकर्तृपरिचयः', पृष्ठ ८)।

३. "अधुना तु श्रीमदाचार्यहस्ताक्षरपत्रात्कुतश्चिल्लब्धाच्छ्रीपुरुषोत्तमगोस्वामिभिः तदुत्तरग्रन्थ आनीतोऽस्ति।...अतः...इत्यन्तो ग्रन्थो गोस्वामिपुरुषोत्तमानीतो लेख्यः।" ('निर्णयार्णवः', पृष्ठ ११)।

४. "स्थितिस्त्वेतेषां राजपुत्रप्रदेशे कोटानगरे आसीत्। सम्प्रत्यपि तेषां श्रीमद्बालकृष्णप्रभुमन्दिरं तत्रास्ति।" ('वादावलिः' के प्रारम्भ में श्रीरमानाथभट्टलिखित 'ग्रन्थकर्तृपरिचयः', पृष्ठ ८)।

५. (अ) श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि। ('निर्णयार्णवः' के प्रत्येक तरङ्ग, 'भक्तिवर्द्धिनीविवृतिः' एवं 'प्रमेयरत्नार्णवः' के प्रारम्भ में)।
श्रीगिरिधारी करोतु कुशलानि। ('दशमतामसफलप्रकरणसुबोधिनीयोजना' के प्रारम्भ में)।

प्रभु[1] की वन्दना की है और अनेक स्थलों पर श्रीबालकृष्ण को अपना

१

(ब) श्रुत्येकसिद्धश्रृङ्गारमूर्तिमानन्दविग्रहम् ।
गोवर्द्धनधरं वन्दे श्रीराधाप्राणवल्लभम् ॥ १ ॥
('सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना' के प्रारम्भ में)।

रासे राधिकया समं विहरतो मोदैर्मुहुर्नृत्यतः ।
श्रीगोवर्द्धनधारिणो भगवतः सेवेय पादद्वयम् ॥ ४ ॥
('सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना' के अन्त में)।

वन्दे वेदशिरःसमीडितगुणं गोवर्द्धनेशं प्रभुम् ॥ १ ॥
('सिद्धान्तरहस्यटीका' के प्रारम्भ में)।

श्रीगोवर्द्धनधारिणं शुभकरं श्रृङ्गारमूर्तिं भजे ॥ १ ॥
('जन्मप्रकरणसुबोधिनोयोजना' के प्रारम्भ में)।

गोवर्द्धनधरं वन्दे व्रजराजकिशोरकम् ॥ १ ॥
('सेवाफलटीका' के प्रारम्भ)।

गोपिकानयनानन्दं गोवर्धनधरं भजे ॥ १ ॥
('सेवाकौमुदी' के प्रारम्भ में)।

श्रीगोवर्द्धनधारिणं रसिकहृच्चोरं किशोरं भजे ॥ १ ॥
('निर्णयार्णवः' के प्रारम्भ में)।

देखिए, 'निर्णयार्णवः' के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ तरङ्गों तथा 'प्रमेयरत्नार्णवः' के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्ध के प्रारम्भिक श्लोक।

१. वन्दे नन्दपुराणपुण्यफलितं श्रीबालकृष्णं प्रभुम् ॥ १ ॥
('जन्मप्रकरणसुबोधिनीयोजना' के प्रारम्भ में)।

वन्दे श्रीबालकृष्णाख्यं प्रभुमानन्दमन्दिरम् ॥ २ ॥
('प्रमेयरत्नार्णवः', उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में)।

चित्ते क्रीडतु नन्दगोपतनयः श्रीबालकृष्णः प्रभुः ॥ २ ॥
('निर्णयार्णवः' के प्रारम्भ में)।

कुलदेवता[1] तथा अपने को 'बालकृष्णाङ्घ्रिसेवी[2]' कहा है। अपने प्रायः सभी ग्रन्थों के प्रारम्भ में उन्होंने श्रीवल्लभाचार्य एवं श्रीविट्ठलनाथ की स्तुति की है तथा इतिश्री में अपने को 'श्रीगोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवक' कहा है। श्रीतेलीवाला एवं श्रीसांकलीया

यशोदोत्संगसंशोभिबालकृष्णं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

('निर्णयार्णवः' के चतुर्थ तरङ्ग के प्रारम्भ में)।

वेदबोधितशृङ्गारस्थायिभावात्मकं महः।
सुखाकारं परं ब्रह्म बालकृष्णाभिधं भजे ॥ १ ॥

('अणुभाष्यम्' की टीका के प्रारम्भ में)।

१. यश्चिन्त्यो ब्रह्मरुद्राद्यैर्वल्लवीजनचिन्तकः।
अस्मत्कुलपतिः श्रीमद्बालकृष्णः प्रसीदतु ॥ ५ ॥

('सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना' के अन्त में)।

श्रीबालकृष्णोऽस्मत्कुलपतिः प्रसीदतु।

('निर्णयार्णवः', पृष्ठ ४५)।

श्रीबालकृष्णः कुलदैवतं मे।

('प्रमेयरत्नार्णवः', पूर्वार्द्ध, श्लोक २)।

बालकृष्णो मम स्वामी मह्यं भक्तिं प्रयच्छतु ॥

('भक्तिवर्द्धिनीविवृतिः' के अन्त में)।

सेवां पुष्टिपथप्रोक्तां कारयित्वा निजां फलम्।
ददातु प्रथमं देवो बालकृष्णो मदीश्वरः ॥ १ ॥

('सेवाफलम्' की टीका के अन्त में)।

२. यदुक्तं वल्लभाचार्यैर्विवृतं विट्ठलेश्वरैः।
कृतं तदनुसार्येतद् बालकृष्णाङ्घ्रिसेविना ॥ १ ॥

('सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना' के अन्त में)।

निखिलोपनिषद्वेद्यो बालकृष्णो व्रजाधिपः।
तदङ्घ्रौ बालकृष्णेन मया सर्वं समर्पितम् ॥

('सिद्धान्तरहस्यम्' के नवमश्लोक की टीका की समाप्ति में)।

के अनुसार गोस्वामी श्रीगिरिधारी श्रीलालूभट्ट के गुरु थे[१]; किन्तु श्रीलालूभट्ट की कृतियों के प्रारम्भ में की गयी श्रीगिरिधारी की वन्दना गुरुवन्दना नहीं ही है[२]।

'तत्त्वार्थदीपनिबन्धः' के 'शास्त्रार्थप्रकरणम्' के अपने उपोद्घात में हम बता चुके हैं कि अर्थबोध, चिन्तन और लेखन की स्पष्टता-स्वच्छता, समन्वयात्मकता-सुसम्बद्धता, प्रवाह एवं प्राञ्जलता की दृष्टि से विचार करने पर श्री बालकृष्णभट्ट वाल्लभ मत के अप्रतिम व्याख्याता सिद्ध होते हैं। जिन्होंने इनके ग्रन्थों का अध्ययन किया है उन्हें इनके वैदुष्य और प्रस्तुत 'प्रमेयरत्नार्णवः' आदि ग्रन्थों की उपयोगिता के सम्बन्ध में शुद्धाद्वैतभूषण (स्व०) श्री रमानाथभट्ट का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं लगेगा कि 'एतद्वैदुष्ये तु कृतमनेनैव यद्यदि नाभविष्यन् प्रमेय-रत्नार्णवादय एतत्कृता ग्रन्थाः तर्हि नाकल्पिष्यन्तैव पुष्टिसम्प्रदायसिद्धान्तं विदुषां मतयः।' ('वादावलिः', 'ग्रन्थकर्तृपरिचयः', पृष्ठ ८)।

वाल्लभ सिद्धान्त को जिज्ञासुओं को हृदयङ्गम कराने के लिए श्री बालकृष्णभट्ट ने सुस्पष्ट और सरल भाषा में श्रीमद्वल्लभाचार्य की कुछ कृतियों की टीका लिखी थी और साथ ही कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की थी। प्रस्तुत 'प्रमेयरत्नार्णवः', जिसमें वाल्लभ मत के प्रायः सभी पक्षों का संक्षेप में प्रामाणिक और सुगम विवेचन किया गया है, उनकी इसी प्रकार की एक स्वतन्त्र कृति है। 'प्रमेयरत्नार्णवः' के साथ ही श्री लालूभट्ट ने 'सेवाकौमुदी' और 'निर्णयार्णवः' नामक दो अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। 'सेवाकौमुदी' के प्रथम प्रकरण में पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवा का निरूपण तथा दूसरे प्रकरण में उस सेवा के विषय का निर्द्धारण अर्थात् परमकाष्ठापन्न ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण

१. गोस्वामिश्रीगिरिधारिणां शिष्याः। ('सेवाफलम्' के प्रारम्भ में, 'विवरणकर्तां परिचयः', पृष्ठ ३)।

२. देखिए, ऊपर पृष्ठ 16 टिप्पणी ५ (ब).

किया गया है। उनकी यह कृति (श्रीरमानाथभट्टकृतहिन्दीभाषान्तर-सहित, वि० सं० १९७५ में, श्री बालकृष्ण शुद्धाद्वैत संस्कृत पुस्तकालय, बम्बई से) छप चुकी है। 'निर्णयार्णवः' के तीन चौथाई अंश में श्रीमद्वल्लभाचार्य की कृतियों के सम्बन्ध में तथा शेष चतुर्थांश में श्री विट्ठलनाथ की कृतियों के सम्बन्ध में विमर्श उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य इन दोनों आचार्यों की कृतियों में होने वाले संशयों का समाधान कर उनके तात्पर्य को समझने की चेष्टा करना है[1]। इसीलिए इस ग्रन्थ में विवेच्य विषयों में कोई क्रम उपलब्ध नहीं होता[2]। इसमें श्रीवल्लभाचार्यकृत 'अणुभाष्यम्', 'सुबोधिनी', 'एकादशस्कन्धार्थनिरूपणकारिकाः', 'तत्त्वार्थदीपनिबन्धः', 'पत्रावलम्बनम्' 'पुरुषोत्तमनामसहस्रम्' 'त्रिविधलीलानामावली' तथा षोडशग्रन्थान्तर्गत 'यमुनाष्टकम्' 'नवरत्नस्तोत्रम्' 'संन्यासनिर्णयः' एवं 'निरोधलक्षणम्' और श्रीविट्ठलनाथकृत 'टिप्पणी', 'विद्वन्मण्डनम्' 'भक्तिहंसः', 'नवरत्न-प्रकाशः', 'गोकुलाष्टकम्', 'रससर्वस्वम्' एवं 'गुप्तरसः' आदि के सम्बन्ध में विचार किया गया है। 'निर्णयार्णवः' में 'प्रमेयरत्नार्णवः' का जिस प्रकार उल्लेख हुआ है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना

---

१. नत्वा श्रीवल्लभाचार्यं प्रभुं श्रीविट्ठलेश्वरम्।
तदुक्तबोधसिद्धयर्थं क्रियते निर्णयार्णवः ॥ ३ ॥
सुबोधिन्यां निबन्धे च भाष्ये प्रकरणादिषु।
टिप्पण्यां च तथा विद्वन्मण्डनादिषु संशयाः ॥ ४ ॥
बुद्धिदोषादुद्भवन्ति तन्निरासो विधीयते।
श्रीमद्गोवर्द्धनाधीशपदाम्भोजप्रसादतः ॥ ५ ॥
('निर्णयार्णवः', पृष्ठ १)।

२. श्रीमदाचार्यवर्याणां विट्ठलेशस्य च प्रभोः।
वचो बोध्यमितीच्छातः क्रमादिर्न विवक्षितः ॥ ६ ॥
('निर्णयार्णवः' पृष्ठ १)।

'प्रमेयरत्नार्णवः' की रचना के बाद ही हुई है[1]।

हम कह चुके हैं कि श्रीलालूभट्ट ने श्रीमद्वल्लभाचार्य की कुछ कृतियों पर टीका लिखी थी। श्री वल्लभाचार्य के 'तत्त्वार्थदीपनिबन्धः' पर उनके द्वारा लिखित 'निबन्धयोजना' टीका के होने का उल्लेख श्री तेलीवाला एवं श्री सांकलीयां[2] तथा डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त[3] आदि[4] ने किया है। सेठ नारायणदास तथा जेठानन्द आसनमल पुष्टिमार्गीय ग्रन्थमाला में वि० सं० १९९९ में प्रकाशित 'तत्त्वार्थदीपनिबन्धः' के श्री हरिशङ्कर शास्त्री द्वारा सम्पादित संस्करण में प्रथम प्रकरण (अर्थात् 'शास्त्रार्थप्रकरणम्') की योजना टीका मुद्रित हो चुकी है, किन्तु द्वितीय एवं तृतीय प्रकरणों (अर्थात् 'सर्वनिर्णयप्रकरणम्' और 'भागवतार्थ-प्रकरणम्') पर श्री लालूभट्ट की टीका अभी नहीं उपलब्ध हो सकी है अतः यह कह सकना कठिन है कि उन्होंने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के तीनों प्रकरणों की टीका लिखी थी। इस सम्बन्ध में यह अवधेय है कि उनके 'निर्णयार्णवः' (की प्रथम तरङ्ग) में प्रायः सात पृष्ठों में 'शास्त्रार्थप्रकरणम्' के विभिन्न स्थलों का विवेचन है जो इस प्रकरण के उक्त संस्करण में प्रकाशित योजना टीका में तत्तत् स्थलों में साधारण पाठभेद के साथ ज्यों-का-त्यों सन्निविष्ट मिलता है, यद्यपि (चतुर्थ तरङ्ग में उपलब्ध होने वाला) प्रायः चार पृष्ठ का विवेचन उक्त टीका में मुद्रित नहीं मिलता है। इसी प्रकार 'निर्णयार्णवः' (की द्वितीय और तृतीय तरङ्गों में प्रायः

---

१. एतत्तु मया प्रमेयरत्नार्णवे ख्यातिविवेके स्फुटीकृतम्।
('निर्णयार्णवः', पृष्ठ १७)।
एतच्च मया ख्यातिविवेके प्रपञ्चितम्। ('निर्णयार्णवः', पृष्ठ १८)।

२. 'सेवाफलम्' के प्रारम्भ में 'विवरणकर्तां परिचयः' पृष्ठ ३।

३. A History of Indian Philosophy, Vol. IV., p. 375.

४. श्रीवल्लभवंशवृक्ष तथा उत्तरभारतीय आन्ध्र (तैलङ्ग) भट्ट वंशवृक्ष।

आधे-आधे पृष्ठों में तथा चतुर्थ तरङ्ग में प्रायः चार पृष्ठों) में 'सर्व-निर्णयप्रकरणम्' के कुछ स्थलों का विमर्श उपलब्ध होता है जो 'सर्व-निर्णयप्रकरणम्' (के उपर्युक्त ग्रन्थमाला में प्रकाशित संस्करण) में मुद्रित नहीं मिलता। 'भागवतार्थप्रकरणम्' के सम्बन्ध में भी 'निर्णयार्णवः' में दो स्थलों पर विचार किया गया है, एक तो द्वितीय तरङ्ग के प्रारम्भ में, जहाँ श्रीवल्लभाचार्य द्वारा नवमस्कन्धनिबन्ध की ७९वीं कारिका में कही गयी इस बात की पुष्टि के लिए कि श्रीरामचन्द्र का जन्म पुष्य नक्षत्र में हुआ था श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण के अयोध्याकाण्ड के पन्द्रहवें सर्ग का एक श्लोक उद्धृत किया गया है और दूसरे तृतीय तरङ्ग में (पृष्ठ ४८-४९ पर), जहाँ पञ्चमस्कन्धनिबन्ध की मङ्गलाचरणकारिका के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है।

श्रीलालूभट्ट ने श्रीमद्भागवत की श्रीवल्लभाचार्यकृत 'सुबोधिनीटीका' की भी योजना नाम से एक व्याख्या लिखी थी जिसका उल्लेख अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र उन्होंने स्वयं किया है[1]। दशमस्कन्ध के जन्मप्रकरण (अर्थात् अध्याय १–४) की सुबोधिनी की उनकी योजना (वि० सं० १९८३ में श्री मन्नलाल शास्त्री एवं श्रीहरिकृष्ण शास्त्री द्वारा, निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित) 'जन्मप्रकरणसुबोधिनी' में तथा तामस प्रमाण, प्रमेय और साधन प्रकरणों (अर्थात् अध्याय ५–२८) की उनकी योजना (वि० सं० १९९३ में श्रीधैर्यलाल सांकलीया द्वारा प्रकाशित) सुबोधिनीविवरण-त्रयम् में मुद्रित हुई थी। तामसफलप्रकरण (अर्थात् अध्याय २९–३५) की सुबोधिनी की उनकी योजना श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीवाडी-लाल शाह ने (वि० संवत् १९८१ में 'गुजराती न्यूस' मुद्रणालय से मुद्रित करा कर) प्रकाशित की थी। इस प्रकरण के अन्तिम अध्याय की योजना सम्पादकों को उपलब्ध नहीं हो सकी थी अतः वह इस पुस्तक में मुद्रित नहीं की जा सकी। यह टीका संक्षिप्त है और इसके प्रारम्भ में स्वयं श्रीबालकृष्णभट्ट ने लिखा है कि 'इह पञ्चाध्यायीसुबोधिन्या अर्थः

१. देखिए, पृष्ठ २६६ पर परिशिष्ट २ का अन्तिम वाक्य।

स्फुटतया' विस्तारेण च टिप्पण्यां 'निरूपित' इति मया योजनायां ताः फक्किकाः न विविस्यन्ते, किन्तु टिप्पण्यां या फक्किकाः न विवृताः ता एव योज्यन्त इत्याकलनीयम्[1]।'

श्रीवल्लभाचार्यकृत 'एकादशस्कन्धार्थनिरूपणकारिकाः' को श्री लालूभट्ट 'सुबोधिनी' से भिन्न ग्रन्थ मानते हैं। इन कारिकाओं की उन्होंने विस्तृत व्याख्या लिखी है[2] जिसे 'निर्णयार्णवः' में सन्निविष्ट कर दिया है[3]।

'षोडशग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध श्रीवल्लभाचार्यविरचित सोलह लघुग्रन्थों में से कुछ पर श्रीलालूभट्टलिखित टीका मिलती है। इन कृतियों में आनेवाली 'सिद्धान्तमुक्तावली' नामक कृति की उनकी 'योजना' नाम से लिखी गयी टीका विक्रम संवत् १९४१ में 'सद्धर्मस्मारकः' के द्वितीय वर्ष के प्रथम मास के अङ्क में छपी थी। श्री धैर्यलाल सांकलीया द्वारा वि० सं० १९९६ में प्रकशित (छः टीकाओं तथा दो परिशिष्टों सहित) 'सिद्धान्तमुक्तावली' में भी इस टीका का मुद्रण हो चुका है। वि० सं० २०१६ में गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराज ने इसे अपनी 'विषमस्थलटिप्पणी' से विभूषित कर 'लघुव्याख्याग्रन्थसमुच्चयः' में प्रकाशित किया है। 'सिद्धान्तरहस्यम्', 'भक्तिवर्द्धिनी' और 'सेवाफलम्' की उनकी टीका श्री तेलीवाला एवं श्री सांकलीया द्वारा प्रकाशित 'सिद्धान्तरहस्यम्' (एकादशविवरणसमेतम्, वि० सं० १९८० में), 'भक्तिवर्द्धिनी' (चतुर्दशविवृतिसमेता, वि० सं० १९७७ में) और 'सेवाफलम्' (द्वादशविवरणसमेतम्, वि० सं० १९७३ में) में मुद्रित हो चुकी है। 'नवरत्नस्तोत्रम्' पर उनकी कोई टीका उपलब्ध

१. 'तामसफलप्रकरणसुबोधिनीयोजना', पृष्ठ १।

२. एकादशस्कन्धार्थनिरूपणकारिकाः सुबोधिनीतो भिन्नतयैवोपलभ्यमानाः सन्ति····अथैतासां व्याख्या। ('निर्णयार्णवः' पृष्ठ २९–३०),

३. देखिए, 'निर्णयार्णवः', पृष्ठ २९–४०।

नहीं है। श्री पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय नडियाद से वि० सं० १९९८ में प्रकाशित 'नवरत्नम्' में श्रीलालूभट्टलिखित एक 'परिशिष्टम्' (पृष्ठ ३८-३९ पर) छपा है जो वस्तुतः उनके 'निर्णयार्णवः' की प्रथम तरङ्ग (के पृष्ठ १३–१५) से उद्धृत नवरत्नविषयक विमर्श तथा द्वितीय तरङ्ग (के पृष्ठ २७–२९) से उद्धृत नवरत्नप्रकाश (नवरत्न की श्रीविट्ठलनाथकृत टीका) से सम्बद्ध विवेचन ही है। वि० सं० २००७ में प्रकाशित 'श्रीवल्लभवंशवृक्ष तथा उत्तरभारतीय आन्ध्र (तैलङ्ग) भट्ट वंशवृक्ष' (पृष्ठ १२) में उल्लिखित श्रीलालूभट्टकृत 'नवरत्नस्फुटलेख' से भी सम्भवतः परिशिष्ट रूप में मुद्रित यह लेख ही अभिप्रेत है। इसी प्रकार वि० सं० २०१७ में प्रोफ़ेसर गोविन्दलाल हरगोविन्द भट्ट द्वारा सम्पादित 'पत्रावलम्बनम्' में, 'पत्रावलम्बनम्' की श्रीलालूभट्टकृत किसी टीका के अभाव में, 'निर्णयार्णवः' में आये पत्रावलम्बनविषयक विमर्श को 'बालकृष्णभट्टविरचिते निर्णयार्णवे पत्रावलम्बनग्रन्थविमर्शः' शीर्षक से परिशिष्ट के रूप में (पृष्ठ ८०-८१ पर) मुद्रित किया गया है। इसी तरह 'यमुनाष्टकम्', 'संन्यासनिर्णयः' और 'निरोधलक्षणम्' पर भी उनकी टीका उपलब्ध नहीं है यद्यपि 'निर्णयार्णवः' में इन तीनों कृतियों के सम्बन्ध में विचार किया गया है। 'षोडशग्रन्थ' के अन्तर्गत आने वाले 'बालबोधः', 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः', 'अन्तःकरणप्रबोधः', 'विवेकधैर्याश्रयः', 'श्रीकृष्णाश्रयः', 'चतुःश्लोकी', 'जलभेदः' और 'पञ्चपद्यानि' पर उनकी कोई टीका नहीं मिलती है। 'निर्णयार्णवः' में भी इन कृतियों के सम्बन्ध में कोई विवेचन नहीं मिलता है। ऐसी स्थिति में किसी निश्चयात्मक प्रमाण के अभाव में हमारे लिए यह कह सकना कठिन है कि उन्होंने षोडशग्रन्थ के अन्तर्गत आनेवाले सभी लघुग्रन्थों की टीका लिखी है और इसीलिए 'सेवाफलम्' के प्रारम्भ में 'विवरणकृतां परिचयः' (पृष्ठ ३) में कहे गये, श्री तेलीवाला एवं श्रीसांकलीया के, 'निर्णयार्णव-प्रमेयरत्नार्णव-षोडशग्रन्थविवरणादयो बहवो ग्रन्थास्तेषां प्रकाशकर्तॄन् प्रतीक्षन्ते', इस वाक्य में हुए षोडशग्रन्थविवरण के

उल्लेख का हम यही अभिप्राय समझते हैं कि श्री लालूभट्ट ने षोडश-ग्रन्थ के अन्तर्गत आने वाले कुछ लघुग्रन्थों का विवरण लिखा है जिनके प्रकाशित होने की अपेक्षा है। इस सम्बन्ध में पं० श्रीधर शर्मा पाठक तथा डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के कथनों[1] का भी यही तात्पर्य समझना चाहिए।

श्रीलालूभट्ट ने श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित 'ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्' पर भी एक टीका लिखी थी जिसका विभिन्न विद्वानों ने 'अणुभाष्य-निगूढार्थप्रकाशिका[2]', 'अणुभाष्यविवरणार्थप्रकाशिका[3]' तथा 'योजना' नामों से उल्लेख किया है। श्रीतेलीवाला का मत है कि श्रीलालूभट्टने अणुभाष्य पर योजना नाम से टीका लिखना प्रारम्भ किया था—जिसे बाद में उन्होंने 'निगूढार्थप्रकाशिका' नाम दे दिया, किन्तु यह टीका वे पूरी नहीं कर सके[4]। अणुभाष्य के त्रिसूत्रीपरिमित भाग की

---

१. लालूभट्टानां ग्रन्थाः,··· षोडशग्रन्थटीकाश्च। ('श्रीमदणुभाष्यम्', भाग २, उपोद्घातः, पृष्ठ ४६)।

A History of Indian Philosophy, Vol. IV., p. 375.

२. देखिए, सेवाफलम् (द्वादशविवरणसमेतम्) के प्रारम्भ में श्री तेलीवाला तथा श्री सांकलीया द्वारा लिखित 'विवरणकृतां परिचयः' पृष्ठ ३ और S. N. Dasgupta: A History of Indian Philosophy, Vol. IV., p. 375.

३. श्रीवल्लभवंशवृक्ष तथा उत्तरभारतीय आन्ध्र (तैलङ्ग) भट्ट वंशवृक्ष, पृष्ठ १२।

४. "Lālūbhaṭṭajī......has attempted to write a commentary on the Aṇu Bhāṣya, but has not completed the same. His commentary is named

श्रीलालूभट्टकृतटीका का मुद्रण, 'गूढार्थदीपिका' के नामसे (पुष्टिमार्गसिद्धान्तकार्यालय, बम्बई से सन् १९२१ में प्रकाशित, पञ्चटीकासहित अणुभाष्यके त्रिसूत्रीपरिमित भाग में) हो चुकी है ।

'प्रमेयरत्नार्णवः' के पूर्वार्द्धमात्र का मूल चौखम्बा संस्कृत बुकडिपो बनारस से प्रकाशित होने वाले चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ के ९७ वें गुच्छ के अन्तर्गत श्रीरामकृष्णभट्टविरचित-प्रकाशाख्यव्याख्यासंवलित 'शुद्धाद्वैतमार्तण्डः' के साथ, जनवरी सन् १९०६ में, विद्याविलास प्रेस बनारस से छपा था, जिसका संशोधन शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के विद्वान् श्री रत्नगोपाल भट्ट ने किया था। इस संस्करण में न तो कोई भूमिका है और न परिशिष्ट। एक ही प्रकार के टाइप में पृष्ठों लम्बे अनुच्छेदों में गद्य-पद्य का भेद या अल्प-विराम, उद्धरण-चिह्न आदि का प्रयोग किये विना ही सारी पुस्तक ४४ पृष्ठों में छाप डाली गयी है जिससे प्रबुद्ध पाठकों को भी अर्थ समझने में कठिनाई होती है क्योंकि अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ, उद्धरणों के मूलस्थल का कहीं भी निर्देश न होने के कारण, पाठक यह नहीं निश्चय कर पाता है कि वाक्य का कितना अंश उद्धरण है और कितना मूल ग्रन्थ का अंश। ग्रन्थ में संशोधन में परिश्रम किया गया है फिर भी मुद्रण की अनेक अशुद्धियाँ रह गयी हैं, जिनका शुद्धिपत्र देनेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी है।

इस पूर्वार्द्धमात्र के मूलमात्र का ही पुनः प्रकाशन साठ वर्ष बाद वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान संस्थान से वल्लभवेदान्त-ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में (सप्रकाश 'शुद्धाद्वैतमार्तण्डः' और श्रीहरिरायविरचित 'ब्रह्मवादः' के साथ,) सन् १९६६ में हुआ है,

---

by him as योजना first and then as निगूढार्थप्रकाशिका".
'श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्' (रश्मिपरिबृंहितम्); तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । Introduction, p. 9.

उल्लेख का हम यही अभिप्राय समझते हैं कि श्री लालूभट्ट ने षोडश-ग्रन्थ के अन्तर्गत आने वाले कुछ लघुग्रन्थों का विवरण लिखा है जिनके प्रकाशित होने की अपेक्षा है। इस सम्बन्ध में पं० श्रीधर शर्मा पाठक तथा डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के कथनों[1] का भी यही तात्पर्य समझना चाहिए।

श्रीलालूभट्ट ने श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित 'ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्' पर भी एक टीका लिखी थी जिसका विभिन्न विद्वानों ने 'अणुभाष्य-निगूढार्थप्रकाशिका[2]', 'अणुभाष्यविवरणार्थप्रकाशिका[3]' तथा 'योजना' नामों से उल्लेख किया है। श्रीतेलीवाला का मत है कि श्रीलालूभट्टने अणुभाष्य पर योजना नाम से टीका लिखना प्रारम्भ किया था— जिसे बाद में उन्होंने 'निगूढार्थप्रकाशिका' नाम दे दिया, किन्तु यह टीका वे पूरी नहीं कर सके[4]। अणुभाष्य के त्रिसूत्रीपरिमित भाग की

१. लालूभट्टानां ग्रन्थाः,··· षोडशग्रन्थटीकाश्च। ('श्रीमदणुभाष्यम्', भाग २, उपोद्घातः, पृष्ठ ४६)।

A History of Indian Philosophy, Vol. IV., p. 375.

२. देखिए, सेवाफलम् (द्वादशविवरणसमेतम्) के प्रारम्भ में श्री तेलीवाला तथा श्री साकलीया द्वारा लिखित 'विवरणकर्तॄणां परिचयः' पृष्ठ ३ और S. N. Dasgupta: A History of Indian Philosophy, Vol. IV., p. 375.

३. श्रीवल्लभवंशवृक्ष तथा उत्तरभारतीय आन्ध्र (तैलङ्ग) भट्ट वंशवृक्ष, पृष्ठ १२।

४. "Lālūbhaṭṭajī......has attempted to write a commentary on the Aṇu Bhāṣya, but has not completed the same. His commentary is named

श्रीलालूभट्टकृतटीका का मुद्रण, 'गूढार्थदीपिका' के नामसे (पुष्टिमार्गसिद्धान्तकार्यालय, बम्बई से सन् १९२१ में प्रकाशित, पञ्चटीकासहित अणुभाष्यके त्रिसूत्रीपरिमित भाग में) हो चुका है।

'प्रमेयरत्नार्णवः' के पूर्वार्द्धमात्र का मूल चौखम्बा संस्कृत बुकडिपो बनारस से प्रकाशित होने वाले चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ के ९७ वें गुच्छ के अन्तर्गत श्रीरामकृष्णभट्टविरचित-प्रकाशाख्यव्याख्यासंवलित 'शुद्धाद्वैतमार्तण्डः' के साथ, जनवरी सन् १९०६ ई०, विद्याविलास प्रेस बनारस से छपा था, जिसका संशोधन शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के विद्वान् श्री रत्नगोपाल भट्ट ने किया था। इस संस्करण में न तो कोई भूमिका है और न परिशिष्ट। एक ही प्रकार के टाइप में पृष्ठों लम्बे अनुच्छेदों में गद्य-पद्य का भेद या अल्प-विराम, उद्धरण-चिह्न आदि का प्रयोग किये विना ही सारी पुस्तक ४४ पृष्ठों में छाप डाली गयी है जिससे प्रबुद्ध पाठकों को भी अर्थ समझने में कठिनाई होती है क्योंकि अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ, उद्धरणों के मूलस्थल का कहीं भी निर्देश न होने के कारण, पाठक यह नहीं निश्चय कर पाता है कि वाक्य का कितना अंश उद्धरण है और कितना मूल ग्रन्थ का अंश। ग्रन्थ में संशोधन में परिश्रम किया गया है फिर भी मुद्रण की अनेक अशुद्धियाँ रह गयी हैं, जिनका शुद्धिपत्र देनेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी है।

इस पूर्वार्द्धमात्र के मूलमात्र का ही पुनः प्रकाशन साठ वर्ष बाद वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान संस्थान से वल्लभवेदान्त-ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में (सप्रकाश 'शुद्धाद्वैतमार्तण्डः' और श्रीहरिरायविरचित 'ब्रह्मवादः' के साथ,) सन् १९६६ में हुआ है,

---

by him as योजना first and then as निगूढार्थप्रकाशिका'. 'श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्' (रश्मिपरिबृंहितम्); तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः। Introduction, p. 9.

जिसके सम्पादक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में शुद्धाद्वैतवेदान्त के अध्यापक श्री सत्यनारायण मिश्र, न्यायवेदान्ताचार्य, एम्० ए० हैं।

इन दोनों संस्करणों का संक्षेप में निर्देश करने के लिए प्रस्तुत उपोद्घात में हम क्रमशः 'चौ० सं०' और 'व० सं०' संकेतों का प्रयोग करेंगे तथा प्रस्तुत संस्करण का निर्देश 'प्र० सं०' इस संकेत से करेंगे।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उपर्युक्त प्रकाशन में मुद्रित सप्रकाश 'शुद्धाद्वैतमार्तण्डः' तथा 'ब्रह्मवादः' के सम्बन्ध में विचार के प्रकृत उपोद्घात में अप्रासङ्गिक और अनावश्यक होने के कारण हम इसमें छपे 'प्रमेयरत्नार्णवः' के बारे में ही अपना मत प्रकट करेंगे।

व० सं० के प्रारम्भ में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान-संस्थान के सञ्चालक पं० बलदेव उपाध्याय की दो पृष्ठों की प्रस्तावना है जिसमें कहा गया है कि, 'सर्वेषामेतेषां ग्रन्थानां सम्पादनं वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये वल्लभवेदान्ताध्यापकेन श्रीसत्यनारायण-मिश्रेण शोभनं व्यधायि। ग्रन्थारम्भे च प्रमेयबहुलां वैदुष्यपूर्णां भूमिकां निर्माय संस्करणस्यास्य महत्त्वं समुन्नीतम्।' ('प्रास्ताविकम्', पृष्ठ 'ख')।

तदनन्तर इन वाक्यों में प्रशंसित सोलह पृष्ठों का एक 'उपोद्घातः' है जिसके अन्त में छपा है, निवेदकः सत्यनारायणमिश्रः।

यह उपोद्घात संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशनों की गौरवपूर्ण परम्परा से परिचित व्यक्ति को विचार करने के लिए बाध्य कर देता है। इसका प्रथम अनुच्छेद तो मानो कतृगुप्त वाक्यों को समझने का अभ्यास कराने के लिए ही लिखा गया है, परवर्ती अनुच्छेदों में भी वाक्यरचना के शैथिल्य के साथ ही 'विद्वन्मण्डनटीका हरतोषणी नाम' तथा 'श्रीहरिरायचरणानां जन्म सं० १६४७ वत्सरे अभूवन्' जैसे अशुद्ध वाक्य भी मिल जाते हैं। हरितोषिणी टीका के प्रारम्भ के श्लोक उद्धृत करते समय इतना भी ध्यान नहीं दिया गया है कि 'विट्ठलेशाङ्घ्रियुग्मकम्' को 'विट्ठलेशोऽङ्घ्रियुग्मम्' छाप देने से श्लोक

तो अशुद्ध हो ही जायेगा, पाठक नमस्य विट्ठलेश को ही नमस्कर्ता समझ बैठेगा और श्लोक का अर्थ न लगा पायेगा।

'प्रमेयरत्नार्णवः' और उसके लेखक के सम्बन्ध में सम्पादक महोदय को जो कुछ कहना है उसे उन्होंने एक छोटे से अनुच्छेद में कह डाला है जिसे हम यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत कर रहे हैं।

'प्रमेयरत्नार्णवग्रन्थस्य रचयिता श्रीबालकृष्णभट्ट आसीत्। एतस्य ग्रन्था अपरेऽप्यनेके सन्ति। येषु श्रीमद्भागवतपुराणस्योपरि स्वतन्त्रा निबन्धाः सुप्रसिद्धाः। प्रमुख एको निर्णयार्णवनामको ग्रन्थोऽप्येतस्यैव विराजते। तथाऽन्येऽपि बहवः स्वतन्त्रा निबन्धा वर्तन्ते। एतस्य महानुभावस्य विशेषसम्बन्धः षष्ठपीठेन सहासीत्।' (उपोद्घातः, पृष्ठ घ)।

उपर्युक्त कथन के अनुसार श्री बालकृष्ण भट्ट के 'अन्य अनेकों ग्रन्थ हैं जिनमें श्रीमद्भागवतपुराण पर स्वतन्त्र निबन्ध सुप्रसिद्ध हैं।' उनके अन्य 'बहुत से स्वतन्त्र निबन्ध भी हैं।' किन्तु दैवदुर्विपाक से केवल हमें ही नहीं अपि तु वाल्लभसाहित्य के किसी भी अन्य लेखक, प्रकाशक या अनुयायी को भी आज तक श्री बालकृष्ण भट्ट द्वारा श्रीमद्भागवत पर लिखे गये इन 'सुप्रसिद्ध स्वतन्त्र निबन्धों' के दर्शन नहीं हुए हैं। न जाने क्यों इसमें से किसी एक का भी नामोल्लेख तक करना उचित नहीं समझा गया। 'अन्य बहुत से स्वतन्त्र निबन्धों' में से भी किसी का नामोल्लेख करने तक की आवश्यकता भी नहीं समझी गयी। इसी प्रकार पूर्वोद्धृत अनुच्छेद के बाद वाले अनुच्छेद में कहा गया है, 'समुपलभ्यन्ते हरिदासविरचिताः सहस्रशो ग्रन्थाः' अर्थात् गोस्वामिश्रीहरिराय के लिखे हज़ारों ग्रन्थ मिलते हैं। यदि यहीं पर यह भी लिख दिया जाता कि समुपलब्ध होने वाले श्रीहरिराय विरचित हज़ारों ग्रन्थ कौन-कौन हैं तथा कहाँ मिलते हैं तो सचमुच वाल्लभ सिद्धान्त के अनुसन्धानकर्ताओं का बड़ा लाभ होता और प्रस्तावनालेखक का यह विश्वास सार्थक हो

जाता कि इस प्रकाशन से जिज्ञासुओं एवं अध्यापकों का बड़ा उपकार होगा[1], क्योंकि वाल्लभसिद्धान्तविषयक उपलब्ध वाङ्मय के समग्र ग्रन्थों की संख्या भी अभी हज़ारों में नहीं पहुँच पायी है।

इस 'उपोद्घातः' के तीसरे पृष्ठ की चतुर्थ पंक्ति से लेकर सत्रह पंक्तियाँ श्री जयकृष्णदास हरिदास गुप्त द्वारा वि० सं० १९८५ में प्रकाशित 'ब्रह्मवादसंग्रहः' की श्री हरिशङ्कर शास्त्री द्वारा लिखित 'अथेदं किञ्चित् प्रस्तूयते' शीर्षक से मुद्रित प्रस्तावना के प्रथम पृष्ठ से अविकल रूप में ले ली गयी हैं, दोनों में अन्तर केवल यही है कि श्री हरिशङ्कर शास्त्री की प्रस्तावना में तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली के प्रथम अनुवाक के "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इस रूप में मुद्रित उद्धरण को उपर्युक्त उपोद्घात में दो भागों में विभाजित कर "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति"; "यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इस रूप में छापा गया है जिसका परिणाम यह होता है कि पढ़ने वाला यही समझता है कि ये श्रुति के विभिन्न स्थलों के स्वतन्त्र वाक्य हैं।

इसी प्रकार पृष्ठ 'ढ' के प्रारम्भ से लेकर पृष्ठ 'द' की इक्कीसवीं पंक्ति तक की प्रायः पाँच पृष्ठों की सामग्री भी श्री हरिशङ्कर शास्त्री की उपर्युक्त प्रस्तावना (के पृष्ठ ३–७) से (अशुद्धियों सहित) अक्षरशः ले ली गयी है। अवधेय है कि इस उपोद्घात के इसी अंश को दृष्टिगत करके 'प्रास्ताविकम्' में उपोद्घातलेखक के सम्बन्ध में कहा गया है कि, 'वेदान्तस्येतरप्रस्थानेभ्यो वल्लभवेदान्तस्य पार्थक्यसमीक्षणं तस्यैतद्विषयिणीं शेमुषीं निर्बाधं प्रकटयतीति सोऽपि नितान्तमाशीर्वादैरभ्यर्हणीयः।' ('प्रास्ताविकम्' पृष्ठ 'ख')।

---

१. 'शुद्धाक्षरैर्मुद्रितमिदं ग्रन्थत्रयं शुद्धाद्वैततत्त्वजिज्ञासूनां छात्राणामध्यापकानाञ्च भृशमुपकरिष्यतीति दृढं विश्वसिमि। ('प्रास्ताविकम्', पृष्ठ 'ख')।

इस 'उपोद्घातः' के पृष्ठ 'ङ' की चौबीसवीं पंक्ति से लेकर पृष्ठ 'ड' की बाईसवीं पंक्ति तक का प्रायः आठ पृष्ठों का वह अंश जिसे बुद्धिस्थ कर प्रस्तावनालेखक ने सम्पादक महोदय की प्रशंसा करते हुए अपने 'प्रास्ताविकम्' में कहा है कि 'भूमिकायां ब्रह्मणो जीवस्य जगतश्च स्वरूप-विमर्शो नितरां स्पष्टतया विहितः', वस्तुतः (भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से सन् १९२६ में प्रकाशित बालबोधिनीसहितम् 'श्रीमदणुभाष्यम्' के द्वितीय भाग में मुद्रित) पं० श्रीधर शर्मा पाठक द्वारा लिखित पचपन पृष्ठ के विद्वत्तापूर्ण उपोद्घात के प्रथम छब्बीस पृष्ठों के बीच-बीच के वाक्यों को अविकल रूप में गृहीत कर तैयार कर लिया गया है और इस अंश में ऐसे वाक्य खोज सकना कठिन है जो श्री पाठक के उपोद्घात (के प्रथम छब्बीस पृष्ठों के अंश) से ज्यों के त्यों न ले लिये गये हों। इतना ही नहीं मूलस्थलनिर्देश भी केवल उन्हीं उद्धरणों का किया गया है जिनका मूलस्थल श्री पाठक के उपोद्घात में निर्दिष्ट है। कहीं-कहीं कुछ ऐसी नयी ग़लतियाँ भी की गयी हैं जिन्हें केवल प्रूफ़रीडिंग की भूलें कह सकना मुश्किल है; उदाहरणार्थ श्री पाठक के उपोद्घात के, "२ भाष्यकारास्तु स्वमाहात्म्य-दर्शनार्थमेव ब्रह्मणात्मनः सकाशात् सर्वा सर्वविधा सृष्टिर्निरमायि तेन न पूर्वोक्तवैषम्यदोष इति समादधुः" (पृष्ठ ४), "ज्ञोऽत एव (ब्र० सू० २।३।१८) इति सूत्रप्रामाण्यात्…" (पृष्ठ ८), तथा "'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इति श्रुत्या…" (पृष्ठ १४) इत्यादि वाक्य इस उपोद्घात में क्रमशः, "(२) भाष्यकारस्तु स्वमाहात्म्यप्रदर्शनार्थमेव ब्रह्मणात्मनः सकाशात् सर्वा सर्वविधा सृष्टिर्निर्मायि तेन न पूर्वोक्त-वैषम्यदोष इति समादधुः।" (पृष्ठ 'छ'), "जीव एव (ब्र० सू० २।३।१८) इति सूत्रप्रामाण्यात्…" (पृष्ठ 'ज') तथा "'सर्वं खल्विदं ब्रह्म; तजलानि' इति श्रुत्या…" (पृष्ठ 'ञ') इत्यादि रूपों में छपे हैं।

अन्तिम पृष्ठ 'द' के अन्तिम अनुच्छेद में सम्पादक ने पुस्तक के प्रकाशन के लिए द्रव्य देने वाले लखनऊ के वैष्णवों तथा विविध

प्रकार से सहायता करने वाले अपने दो प्रिय शिष्यों को धन्यवाद देते हुए भगवान् से उनकी समुचित उन्नति करने के लिए प्रार्थना की है।

यह लिखते हुए हमें अत्यन्त संकोच और खेद का अनुभव हो रहा है कि जिनसे द्रव्य आदि की सहायता मिली उन्हें अपने उपोद्घात के अन्त में धन्यवाद देना न भूलते हुए भी सम्पादक महोदय ने उन लेखकों का अधमर्णतास्वीकृतिपूर्वक उपकारस्मरण करने या उन्हें धन्यवाद देने के साधारण शिष्टाचार का पालन करना तो दूर उनका नामोल्लेख तक करना आवश्यक नहीं समझा जिनके वाक्यों को अविकल रूप में मुद्रित कर उन्होंने अपने सोलह पृष्ठ के उपोद्घात के तेरह से अधिक पृष्ठ पूरे कर लिये हैं।

चौ० सं० में मुद्रण की प्रक्रिया में कहीं-कहीं कुछ अंश छपने से छूट गये हैं[१]। व० सं० में ऐसे सभी अंश तो छूट ही गये हैं[२] ऐसे अनेक अन्य अंश भी छपने से छूट गये हैं जो चौ० सं० में मुद्रित मिलते हैं[३]। इनमें से कई छूटें तो छोटी होती हुए भी मूल को अव्याख्येय बना देने वाली हैं[४] और कई काफ़ी लम्बी तथा अनर्थकारिणी[५] हैं। यदि

१. उदाहरणार्थ देखिए, चौ० सं० पृष्ठ ३ पंक्ति १९ तथा प्र० सं० पृष्ठ १२; चौ० सं० पृ० ४ पं० २३–२४ तथा प्र० सं० पृ० १८; चौ० सं० पृष्ठ ९ पं० २८–२९ तथा प्र० सं० पृष्ठ ४०–४१; चौ० सं० पृष्ठ ४२ पंक्ति १७ तथा प्र० सं० पृष्ठ १९९–२००।

२. मिलाइए, उपरिलिखित टिप्पणी तथा व० सं० पृ० ६८ पं० ७–८; पृ० ६९ पं० २०; पृ० ७५ पं० २३–२४; तथा पृ० १२० पं० ४।

३. मिलाइए,

	पृष्ठ–पंक्ति	पृ०–पंक्ति	पृ०–पक्ति	पृ०–पंक्ति	पृष्ठ–पक्ति
चौ० सं०	२।१७	५।२४–२५	१०।१	३१।२०	४३।१३
व० सं०	६६।२१	७१।१	७६।१	१०६।१	१२१।९-१०

४. उदाहरणार्थ देखिए, चौ० सं० ४२ पं० १७, व० सं० पृ० १२० पं० ४ तथा प्र० सं० पृ० १९९–२०० इत्यादि।

५. उदाहरणार्थ देखिए, चौ० सं०, पृ० ३ पंक्ति १९; व० सं०, पृ० ६८ पंक्ति ७–८ तथा प्र० सं० पृष्ठ १२ इत्यादि।

उद्धरणों को मूलस्थल में देख कर छापने की चेष्टा की जाती तो इनमें से बहुत-सी ग़लतियाँ बचायी जा सकती थीं।

चौ० सं० में उद्धरणों को न तो उद्धरणचिह्नों के अन्तर्गत रखा गया है, न उनके मूलस्थलों का निर्देश किया गया है और न उन्हें भिन्न प्रकार के टाइप में छापा ही गया है। व० सं० में भी उद्धरणों का टाइप-परिवर्तन या मूलस्थलनिर्देश नहीं किया गया है किन्तु कहीं-कहीं उद्धरणचिह्नों का प्रयोग अवश्य किया गया है और इस प्रक्रिया में न केवल अनेक उद्धरणों को एक साथ एक ही टाइप में एक ही उद्धरणचिह्न के अन्तर्गत रखकर अनेक उद्धरणों को एक समझ लेने के भ्रम को अवकाश दिया गया है[1] अपितु कहीं मूलग्रन्थ के वाक्यों को ही उद्धरणचिह्नों में रखकर और उन्हें उद्धरणों से जोड़कर प्रकृत ग्रन्थ के उन अंशों के भी उद्धरण होने का भ्रम पैदा किया गया है[2] तो कहीं उद्धरण के एक अंश को ही उद्धरणचिह्नों के अन्तर्गत रखकर आधे उद्धरण के बालकृष्णभट्टलिखित वाक्य होने का[3]।

संस्कृत पुस्तकों का केवल मूल सम्पादित करने और उसमें भी उद्धरणों के मूलस्थल का निर्देश करने की उपेक्षा करने वाला सम्पादक यदि प्रमादी और आलसी हुआ तो ग्रन्थ का अर्थ समझना भी आवश्यक नहीं समझता। ऐसे सम्पादक को न तो उद्धरणों का अर्थ समझने की आवश्यकता का अनुभव होता है और न पाठक को उनका अर्थ समझाने के दायित्व का बोध। ऐसी स्थिति में उद्धरणों के पाठ को शुद्ध करना भी उसके लिए अपरिहार्य नहीं रह जाता। किन्तु ग्रन्थ को समझ कर

१. देखिए, व० सं० पृष्ठ ६५-६६, मिलाइए प्र० सं० पृष्ठ ३।

२. देखिए, व० सं० पृष्ठ ९७, "दैवजीवेषु यं जीवं····प्रजायते"; मिलाइए, प्र० सं० पृष्ठ १२०।

३. उदाहरणार्थ देखिए, व० सं० पृष्ठ १२२ पंक्ति ३–४ तथा प्र० सं० पृष्ठ २०८।

उसका एक दूसरी भाषा में स्पष्टार्थ अनुवाद कर मूल और अनुवाद दोनों की भाषाओं को जानने वाले पाठक तक पहुँचाने के दायित्व को स्वेच्छया स्वीकार करने वाले सम्पादक को उद्धरणों का मूलानुसारी, सम्प्रदायसम्मत शुद्ध पाठ निर्धारित करना ही पड़ता है और इसके लिए उन्हें उनके मूलस्थल में खोजकर समझना अनिवार्य हो जाता है। 'प्रमेयरत्नार्णवः' के अद्यावधि प्रकाशित संस्करणों में उद्धरणों के मूल-स्थल का निर्देश नहीं किया गया है। व० सं० में तो, सम्भवतः अर्थ समझने की अपरिहार्य आवश्यकता का अनुभव न करने के कारण, सम्पादक ने अनेक उद्धरण इस प्रकार मुद्रापित किये हैं कि उनका कुछ अर्थ ही नहीं रह गया है[1]। कहीं-कहीं तो वे केवल निरर्थक ही नहीं, अनर्थंकर भी हो गये हैं[2]। कई उद्धरणों के भावात्मक वाक्यों को इस प्रकार छपाया गया है कि वे अभावात्मक हो गये हैं। उदाहरणार्थ व० सं० के पृष्ठ ८० पर 'प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वे न तदुद्भवः' छपा है, जब कि इसे 'लोकत्वेन तदुद्भवः' होना चाहिए (देखिए, प्र० सं० पृष्ठ ५६)। कहीं-कहीं तो एक साथ आये अनेक उद्धरणों को एक ही उद्धरण समझ लिया गया है, यहाँ तक कि विभिन्न श्लोकों के चरणों को

---

१. देखिए, चौ० सं० पृष्ठ ३ पंक्ति १४, व० सं० पृष्ठ ६९ पंक्ति ४, प्र० सं० पृष्ठ १६; व० सं० ८७।२, प्र० सं० पृष्ठ ८३; चौ० सं० १८।१७, व० सं० ८८।१८, प्र० सं० पृष्ठ ९०; व० सं० ८९।६, प्र० सं० पृष्ठ ९२–९३; व० सं० ९३ ८, प्र० सं० पृष्ठ १०६; चौ० सं० ३४–२१, व० सं० ११०।८, प्र० सं० पृष्ठ १६१ तथा व० सं० ११९।२२ और प्र० सं० पृष्ठ १९८ इत्यादि।

२. देखिए, व० सं० ८८।४, प्र० सं० पृष्ठ ८७; व० सं० ७५।१३, प्र० सं० पृष्ठ ३८; व० सं० ७८।१९, प्र० सं० पृष्ठ ५०; व० सं० ७९।१२, प्र० सं० पृष्ठ ५३; व० सं० ८०।२०, प्र० सं० पृष्ठ ५९; तथा व० सं० ११०।६ और प्र० सं० पृष्ठ १६० इत्यादि।

क्रमशः मिलाकर एक श्लोक बना दिया गया है। उदाहरणार्थ व० सं० में पृष्ठ ६७ पर आये तीन उद्धरणों 'देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा' (भाग० ११।२३।५० प्रथम चरण), 'त्वय्युद्भवाश्रयति यत्त्रिविधः विकारो मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत्।' (भाग० ११।१९।७ प्रथम एवं द्वितीय चरण) तथा 'स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्' (भाग० १०।१४।२२ द्वितीय चरण) को एक ही उद्धरण बना कर छाप दिया गया है। चौ० सं० (पृष्ठ ३ पं० ६–८) में ये तीनों उद्धरण अल्पविराम द्वारा एक दूसरे से पृथक् करे तीन उद्धरणों के रूप में छापे गये हैं किन्तु व० सं० में इन्हें अधोलिखित रूप में छापा गया है, देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा त्वय्युद्भवाश्रयति यत्त्रिविधो विकारः। मायान्तराऽऽपतति नाद्यपवर्गयोर्यत् स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्॥

उद्धरणों के पाठ को मूलस्थल में खोजकर शुद्ध करने के परिश्रम से कतराने का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ है कि उनका पाठ (और इसीलिए अर्थ भी) उनके श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा स्वीकृत तथा श्री लालूभट्ट द्वारा समादृत सम्प्रदायागत पाठ (तथा अर्थ) से भिन्न हो गया है। उदाहरणार्थ चौ० सं० पृष्ठ ९ पंक्ति ५ तथा व० सं० पृष्ठ ७४ पंक्ति २५ में आये उद्धरण का पाठ 'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः' है जब कि श्रीवल्लभाचार्य की सुबोधिनी के अनुसार (भाग० १०।३।२५ के) इस उद्धरण का पाठ 'भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः' होना चाहिए (देखिए, प्र० सं० पृष्ठ ३६)। इसी प्रकार चौ० सं० पृ० १९ पंक्ति २१ तथा व० सं० पृष्ठ ९० पं० ६ में आये उद्धरण का पाठ 'गोकुलं स्म' है किन्तु सुबोधिनी के अनुसार (भाग० २।७।३१ के) इस उद्धरण का पाठ 'गोकुलं स्त्रम्' होना चाहिए (देखिए, प्र० सं० पृष्ठ ९५-९६)। इसी तरह चौ० सं० पृष्ठ ४२ पं० २४ तथा व० सं० पृष्ठ १२० पं० १२ में आये उद्धरण का पाठ 'अनुग्रहोऽयं भवता कृतो हि नः' है, परन्तु (भाग० १०।१६।३४ के) इस उद्धरण का सुबोधिन्यनुसारी पाठ 'अनुग्रहोऽयं भवता कृतोऽहिनः' है (देखिए, प्र० सं० पृष्ठ २०१)।

व० सं० में कहीं-कहीं चौ० सं० के शुद्ध पाठ को भी अशुद्ध समझ कर शुद्ध करने की चेष्टा की गयी है और ऐसी स्थिति में भी उद्धरणों के मूलस्थल देखने की चिन्ता नहीं की गयी है। उदाहरणार्थ चौ० सं० पृष्ठ ३६ पंक्ति ८-९ में छपे, कचिन्मायिकधर्माणां भगवति प्रतीतिः मेहनादीनि वास्ताविल्यत्र निरूपिता, इस वाक्य को व० सं० पृष्ठ ११२ पंक्ति १–२ में, क्वचिन्मायिकधर्माणां भगवति प्रतीतिः "मेहनादीनि वास्तवौ" इत्यत्र निरूपिता, इस रूप में छापा गया है। यदि, 'एवं चाश्चर्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ' (भाग० १०।८।३१) इस मूलश्लोक को खोज कर, सुबोधिनी टीका के प्रकाश में इसका अर्थ समझने का प्रयत्न किया जाता तो ऐसी ग़लती न होती (देखिए, प्र० सं० पृष्ठ १६७-१६८)[1]।

व० सं० में कुछ ऐसे स्थल भी हैं जिन्हें देख कर ऐसा लगता है कि चौ० सं० में अशुद्ध रूप में छपे वाक्यों को सुधारने की चेष्टा की गयी है किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली है और उनकी एक ग़लती सुधारने के प्रयत्न में दूसरी ग़लती कर दी गई है जिसका परिणाम यह हुआ है कि व० सं० में भी वे वाक्य अशुद्ध रूप में ही मिलते हैं[2]।

चौ० सं० में शुद्ध छपे वाक्य व० सं० में अनेकशः अशुद्ध रूप में छपे मिलते हैं[3]। उदाहरणार्थ चौ० सं० पृ० ११ पं० १९-२० में छपा,

---

१. देखिए, व० सं० ९५।२३; १०३।१७; ११२।४ तथा १२१।२१ इत्यादि।

२. उदाहरणार्थ देखिए, चौ० सं० पृ० ३१ पंक्ति २३, व० सं० पृ० १०६ पंक्ति ४ तथा प्र० सं० पृ० १४७; चौ० सं० पृ० ३५ पंक्ति १५, व० सं० पृ० १११ पंक्ति २ तथा प्र० सं० पृष्ठ १६४ इत्यादि।

३. देखिए, व० सं० ६६।९; ७६।२०; ७९।१८; ८२।४; ८२।२१; ८४।१३; ८५।४; ८६।७,१७; ९१।१६; ९३।१८; १०३।२०; १०७।१३, १५ इत्यादि।

धर्मविधायकोपनिषदां त्वप्राकृतश्रौतधर्मविषयत्वमिति, यह वाक्यांश व० सं० पृ० ७८ पं० २१-२२ में, धर्मविधायकोपनिषदां त्वप्राकृतश्रौतधर्मा-विषयत्वमिति, इस रूप में छपा है जो मूलवाक्य के विरोधी अर्थ का बोधक है (देखिए, प्र० सं० पृष्ठ ५१)। इसी प्रकार चौ० सं० पृ० ४३ पं० ३० में छपा, व्यसनसिद्धौ गुणनाशे ब्रह्मभावः, यह वाक्य व० सं० पृ० १२२ पं० ३ में व्यसनसिद्धो गुणनाशे ब्रह्मभावः; इस रूप में छपा है जिससे मूल वाक्य का अर्थ बदल जाता है (देखिए, प्र० सं० पृष्ठ २०८)।

चौ० सं० में अशुद्ध रूप में छपे वाक्यों को विचारपूर्वक शुद्ध करके छपाने के दायित्व की उपेक्षा कर उन्हें व० सं० में ज्यों का त्यों अशुद्ध रूप में छपा दिया गया है[1]।

व० सं० में पद्यों को तो प्रायः गद्यांश की भाँति छापा ही गया है[2] अल्पविराम, पूर्णविराम, उद्धरण चिह्न आदि के प्रयोग में भी ऐसी लापरवाही की गयी है कि वे अनेक स्थानों पर अर्थ समझने में सहायक सिद्ध होने के बजाय बाधक हो जाते हैं[3]। जिन पदों को दूर-दूर छापना चाहिए उन्हें एक में मिला कर छाप देने से कई जगह अर्थ बदल गया है। उदाहरणार्थ चौ० सं० पृष्ठ ३४ पं० ६ के वाक्यांश, भगवतः प्रपञ्चे क्रीडा निरोधः, के व० सं० पृष्ठ १०९ पं० ६ में, भगवतः प्रपञ्चे क्रीडा-निरोधः, इस रूप में छाप दिये जाने से वहाँ अभीष्ट अर्थ नहीं निकल पाता। इसी प्रकार माया मोहितपुरुषबुद्धावपि, इस वाक्यांश के (चौ० सं० पृष्ठ ३ पं० ३१ तथा) व० सं० पृष्ठ ६८ पं० २१ में, मायामोहित-

१. उदाहरणार्थ देखिए, व० सं० ९१।२, १४; ९२।२२; ११२।९; ११६।१०; ११७।१९ तथा ११९।२४–२५ इत्यादि।

२. देखिए, व० सं० पृ० ९९, १०४, १०५, १०९, ११८ इत्यादि।

३. देखिए, व० सं० ६६।४–५; ७८।१०; ८१।२३ तथा ११३।१८ इत्यादि।

पुरुषबुद्धावपि, इस रूप में छापे जाने के कारण 'मायामोहितपुरुषबुद्धौ' के एक पद हो जाने से वाक्य कर्तृ गुप्त हो गया है और अभीष्ट अर्थ नहीं दे पाता[1]। ऐसे अनेक शब्दों को जिन्हें एक साथ समस्तपद के रूप में छापना चाहिये व० सं० में एक दूसरे से दूर-दूर छापा गया है जिससे वाक्य का अर्थ समझ सकना कठिन हो गया है। उदाहरणार्थ चौ० सं० पृ० २३ पं० २५-२६ में छपे वाक्य, त्यागो ममताविरहः, के व० सं० पृ० ९५ पं० १८-१९ में त्यागो ममता विरहः, इस रूप में छापे जाने से वाक्य का अर्थ समझना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार 'अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः' यह उद्धरण व० सं० पृष्ठ ७५ पं० १२-१३ में इस रूप में छपा है, अत एव तरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्ष प्रवेशतः[2]।

व० सं० में एक शुद्धिपत्र देकर उपर्युक्त अशुद्धियों में से अधिकांश को सुधार लेने में पाठकों की सहायता की जा सकती थी किन्तु सम्पादक महोदय ने किन्हीं कारणों से ऐसा करना ठीक नहीं समझा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रमेयरत्नार्णव के पूर्वार्द्धमात्र का उपलब्ध व० सं०, साठ वर्ष पूर्व छपे चौ० सं० की अपेक्षा अच्छा किसी भी अर्थ में नहीं कहा सकता। प्रस्तुत संस्करण के पूर्वार्द्ध का मूलपाठ तैयार करने में हमने इन दोनों संस्करणों का पूरा उपयोग किया है और इसके लिए हम इन दोनों संस्करणों के सम्पादकों के आभारी हैं। उत्तरार्द्ध के मूल का पाठ हमने आवश्यक संशोधनों के साथ (स्व०) श्री रमानाथ भट्ट द्वारा सम्पादित (बृहन्मदिरपुष्टिमार्गसिद्धान्तकार्यालय से सन् १९२० में प्रकाशित) 'वादावलिः' से लिया है और एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

---

१. देखिए, व० सं० पृ० १०७।१८; १११।२०; ११३।१२ तथा ११८।१०–११ इत्यादि।

२. देखिए, व० सं० पृ० ९६ पं० ३, पृ० ११० पं० १७ इत्यादि।

'प्रमेयरत्नार्णवः' के प्रकाशन के इतिहास में प्रथम बार प्रस्तुत संस्करण में सम्पूर्ण ग्रन्थ (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध) का एकत्र (एक ही जिल्द में) मुद्रण किया गया है। मूल संस्कृत के साथ ही शुद्ध, स्वच्छ और अच्छी हिन्दी में प्रवाहमयी भाषा में सुस्पष्ट, प्रामाणिक और सुगम अनुवाद भी दे दिया गया है जिससे पाठकों को मूलग्रन्थ के भावगाम्भीर्य के साथ ही पंक्तियों का स्पष्ट अर्थ समझने में सौकर्य हो। अर्थ एवं भाव को स्पष्ट तथा पुष्ट करने के लिए श्रीमद्वल्लभाचार्य तथा श्री लालूभट्ट आदि के विभिन्न ग्रन्थों से तत्सम्बन्धी विशद स्थलों को विस्तृत टिप्पणियों के रूप में उद्धृत कर दिया गया है। मूलग्रन्थ, उसके हिन्दी अनुवाद, मूलग्रन्थ में आये उद्धरणों, उनके हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी तथा उसमें आये उद्धरणों के लिये अलग-अलग (छः प्रकार के) टाइप प्रयुक्त किये गये हैं जिससे उन्हें पढ़ने और समझने में सरलता हो। मूलग्रन्थ में आये अपूर्ण उद्धरणों को टिप्पणी में पूरा कर दिया गया है। सभी उद्धरणों को उद्धरणचिह्नों के अन्तर्गत रखा गया है तथा उनके मूलस्थल का (अध्याय, श्लोक, सूत्र आदि की संख्या के उल्लेखपूर्वक) निर्देश कर दिया गया है। इस कार्य में प्रयुक्त संकेतों का विवरण पुस्तक के प्रारम्भ में ही (पृष्ठ 8 पर) दे दिया गया है। जहाँ ग्रन्थ में आये उद्धरणों तथा (जिन ग्रन्थों के वे उद्धरण हैं उन) मूलग्रन्थों के प्रकाशित संस्करणों के पाठों में भेद है वहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ के पाठ को सुरक्षित रखते हुए टिप्पणी में प्रकाशित मूलग्रन्थों का पाठ भी दे दिया गया है। भागवत के जिस अंश पर श्रीमद्वल्लभाचार्य की सुबोधिनी व्याख्या उपलब्ध है उस अंश के उद्धरणों का सुबोधिन्यनुसारी पाठ एवं अर्थ ही स्वीकृत किया गया है किन्तु सम्पूर्ण पुस्तक में एकरूपता बनाए रखने की दृष्टि से श्लोकों के अङ्क गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'श्रीमद्भागवत-महापुराणम्' (मूलमात्रम्) के आधार पर दिये गये हैं। ब्रह्मसूत्र के अङ्क श्रीमदणुभाष्यानुसारी दिये गये हैं। जो उपनिषद् सुलभ नहीं हैं उनके उद्धरणों का अङ्कनिर्देश करने में श्री गजानन शम्भु साढले द्वारा

सम्पादित "उपनिषद्वाक्यमहाकोशः' का आश्रय लिया गया है। पुस्तक के अन्त में 'नोट्स' में उन उद्धरणों के मूलस्थल का निर्देश कर दिया गया है जिनका निर्देश किन्हीं कारणों से ग्रन्थ के कलेवर में नहीं हो पाया है। इस ग्रन्थ में संक्षेप में विवेचित विषयों का श्री लालूभट्ट ने विशद विवेचन कहाँ किया है इसकी सूचना भी 'नोट्स' में दे दी गयी है। ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण विवेचनों को परिशिष्टम् के रूप में उद्धृत भी कर दिया गया है। पुस्तक में उद्धृत एवं उल्लिखित ग्रन्थों की अकारादिक्रम से सूची (जिसमें उन ग्रन्थों के प्रयुक्त संस्करणों का भी उल्लेख है) सन्निविष्ट करने के साथ ही प्रस्तुत संस्करण में मुद्रण में हो गयी अशुद्धियों का एक शुद्धिपत्र भी जोड़ दिया गया है जिससे पाठक अपनी प्रति की साधारण अशुद्धियों को भी अनायास ही ठीक कर लें।

इस प्रकार 'प्रमेयरत्नार्णवः' को शुद्धाद्वैतवेदान्त और पुष्टिमार्ग के विद्यार्थियों तथा तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए समान रूप से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। अष्टछाप के कवियों—जिनमें श्रीवल्लभाचार्य के शिष्य सूरदास प्रमुख हैं—की कविता के मर्म को समझने के लिए श्रीवल्लभाचार्य के दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों से सुपरिचित होना आवश्यक है और इस दृष्टि से प्रस्तुत संस्करण हिन्दी—विशेषतः सूर-साहित्य—के विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिए बहुत ही उपादेय हो गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का मुद्रण पूरा हो जाने तथा इस उपोद्घात के कुछ अंश छप जाने पर इसे श्रीमद्वल्लभवंशावतंस विद्वत्तल्लज आचार्यवर्य गोस्वामी श्री दीक्षित जी महाराज को दिखाने का अवसर इन पंक्तियों के लेखक को मिला है। महाराजश्री ने पुस्तक को अपने पास छोड़ जाने को कहा और इसका अवलोकन करने के बाद हार्दिक सन्तोष एवं प्रसन्नता प्रकट करते हुए लेखक को सम्प्रदाय के भाष्यविद्वन्मण्डनादि

अन्य विशिष्ट ग्रन्थों का इसी प्रकार का उत्तम संस्करण प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया।

गो० श्रीदीक्षितजी महाराज ने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया कि श्री बालकृष्ण भट्ट के 'पुरुषोत्तमशब्दवाच्यं श्रीकृष्णस्वरूपमेकम्, अक्षरं द्वितीयम्, तच्च पूर्वोक्तरीत्या द्विविधम्, इति ब्रह्मणो रूपत्रयं दर्शितम्। पुरुषोत्तमस्य तस्यैव स्वरूपनियमनादिकार्यसिद्ध्यर्थं सूर्यमण्डलादौ पृथिव्या अधिदैवादिषु स्थितं यद्रूपं तदन्तर्यामिशब्दवाच्यम्' (देखिए, पृष्ठ ६२–६७) तथा 'मूलरूपस्य चत्वारि रूपाणि। तत्र एकं पुरुषोत्तमस्वरूपं श्रीकृष्णशब्दवाच्यम्। एकमक्षरं स्वरूपम्, तच्च पूर्वोक्तरीत्या द्विविधम्। एकमन्तर्यामिरूपम्। एवं चातुर्विध्यं ज्ञेयम्' (देखिए, पृष्ठ ७२–७३) इत्यादि वाक्यों से साधारण पाठक को यह भ्रम हो सकता है कि मूलरूप के चार रूपों में, अन्त में निरूपित अन्तर्यामी रूप—जिसे पुरुष, नारायण आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है[1]—पहले निरूपित अक्षररूप की अपेक्षा अवर है, किन्तु श्री लालूभट्ट का अभिमत सिद्धान्त यही है कि अक्षररूप, अन्तर्यामी की अपेक्षा अवर है, अतः प्रस्तुत संस्करण में इस भ्रम की सम्भावना का निराकरण कर के सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया जाता तो अच्छा होता। उपोद्घात में इसकी चर्चा कर देने के हमारे प्रस्ताव से सहमति प्रकट करते हुए आचार्यश्री ने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया कि मूलरूप पुरुषोत्तमशब्दवाच्य है। पुरुषोत्तम के लोकवेदातीतरूप में निरवधि धर्मभूत सत्, चित् और आनन्द तथा निरवधि स्वरूपभूत सत्, चित् एवं आनन्द हैं। उनका यह रूप रसात्मक है। श्रीवल्लभाचार्य ने चतुःश्लोकी के,

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥

इत्यादि श्लोकों तथा श्रीविट्ठलनाथ ने अणुभाष्यम् के उपसंहार में,

---

१. देखिए, पृष्ठ ६७।

'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्' इत्यादि श्लोक में इसी लोकवेदातीत रूप की ओर संकेत किया है। पुरुषोत्तम के लोकवेद-प्रसिद्धरूप में भी धर्मभूत एवं स्वरूपभूत सत्, चित् एवं आनन्द निरवधि हैं किन्तु उसमें रसात्मकता लोकवेदातीतरूप की अपेक्षा कुछ कम रहती है। इस लोकवेदप्रथितरूप से ही नारायणशब्दवाच्य अन्तर्यामी रूप का आविर्भाव होता है। मूलरूप का यह दूसरा रूप पुरुषोत्तम का स्वरूपपरिणाम है और पुरुषोत्तम की ही भाँति अगणितानन्द है। इसमें निरवधि धर्मभूत सत्, चित् एवं आनन्द तथा निरवधि स्वरूपभूत सत्, चित् एवं आनन्द रहते हैं। पुरुषसूक्त के 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (ऋग्वेद १०।९०।२), श्रीमद्भागवत के 'सर्वं पुरुष एवेदम्' (भाग० २।६।१५), श्वेताश्वतरोपनिषद् के 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वेता० उप० ३।७) तथा गीता के 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता १५।१७) इत्यादि वाक्यों में पुरुष शब्द से भगवान् का यही रूप अभिप्रेत है। नारायणशब्दवाच्य इस अन्तर्यामी रूप के अन्तर्यामित्व एवं परब्रह्मत्व की पुष्टि महानारायणोपनिषद् के अधोलिखित वाक्यों से होती है,

अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान्।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः ॥ १।१ ।
येनावृतं खं च दिवं मही च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च।
यदन्तःसमुद्रे कवयो वयन्ति[1] तदक्षरे परमे प्रजाः ॥ १।२ ।
अतः परं नान्यदणीयसं हि परात्परं यन्महतो महान्तम्। १।५ ।
तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्। १।६ ।
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। १०।४ ।
नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः।
नारायणः परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः ॥ ११।४ ।

---

१. पाठान्तरे, वदन्ति।

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥ ११।६। इत्यादि।

गीता में हुए मूलरूप के पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, अन्तर्यामी, अक्षर तथा क्षर इस चातुर्विध्य के निरूपण में, इस अन्तर्यामी रूप को

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ (गीता १५।१७)।
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ (गीता १८।६१)।

इत्यादि वाक्यों में 'उत्तम पुरुष', 'परमात्मा' और 'ईश्वर' आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण द्वारा कहे गये इन वाक्यों में 'अन्यः' पद तथा 'यः' पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि 'उत्तम पुरुष' या 'अन्तर्यामी' उनका एक दूसरा रूप है। भागवत के

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥ (भाग० १।३।१-२)।

इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि सिसृक्षा होने पर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ('एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—भाग० १।३।२८) पहले इसी नारायणशब्दवाच्य अन्तर्यामी रूप में आविर्भूत होते हैं। यह भगवान् का पुरुष रूप (भाग० १।३।३) और विभिन्न अवतारों का बीज है[1]। अक्षर तत्त्व इसी नारायणशब्दवाच्य अन्तर्यामी रूप के निरवधि धर्मभूत सत् एवं चित् तथा सीमित धर्मभूत आनन्द की अभिव्यक्ति है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रीवल्लभाचार्यप्रतिपादित तथा श्रीलालूभट्टानुगृहीत वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार अक्षर तत्त्व,

१. देखिए, एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्। (भाग० १।३।५)। मिलाइए, प्र० सं० पृष्ठ ६३–६७।

नारायण या अन्तर्यामी की अपेक्षा अवर है। ऐसी स्थिति में प्रमेय-रत्नार्णव में अक्षर और अन्तर्यामी के निरूपण के पौर्वापर्य के आधार पर ही अन्तर्यामी को अक्षर की अपेक्षा अवर मान लेना भ्रामक है। नारायण या अन्तर्यामी मूलरूप का अगणितानन्द स्वरूपपरिणाम है किन्तु अक्षर गणितानन्द धर्मपरिणाम। इस प्रकार अन्तर्यामी की अपेक्षा अवर इस अक्षर तत्त्व के धर्मभूत निरवधि सत् से प्रकृति, काल, कर्म और स्वभाव की, धर्मभूत निरवधि चित् से पुरुष की तथा धर्मभूत सीमित आनन्द से व्यष्टि अन्तर्यामी की अभिव्यक्ति होती है। यह व्यष्टि अन्तर्यामी उपर्युक्त नारायणशब्दवाच्य अन्तर्यामी के अंश हैं और अक्षर तत्त्व से निर्गत होने के कारण उसकी अपेक्षा अवर हैं[1]। व्यष्टि अन्तर्यामी के अक्षर की अपेक्षा अवर होने के इस सिद्धान्त को सम्यक् रूप से समझते समय, भगवान् के नारायणशब्दवाच्य (मुख्य) अन्तर्यामी रूप को अक्षर की अपेक्षा अवर समझने की भूल नहीं करनी चाहिए।

उपर्युक्त प्रकार से प्रस्तुत संस्करण को अधिक से अधिक पूर्ण, प्रामाणिक, वैज्ञानिक, सुगम, सुरुचिपूर्ण और आकर्षक बनाने की हमारी सारी चेष्टाओं के बावजूद इसमें कमियों और भूलों का रह जाना,

'मानुष्यमस्खलितवृत्ति न लभ्यते, चेत्
लभ्येत कस्तदिह जीवपरात्मभेदः'

इत्यादि अभियुक्तोक्ति को दृष्टिगत रखते हुए न केवल सम्भव अपितु स्वाभाविक ही होगा। अतः जिन विद्वानों का ध्यान उनकी ओर जाये उनसे हमारा विनम्र निवेदन है कि वे व्यक्तिगत रूप से हमें अपने सुझाव भेज कर अनुगृहीत करें जिससे हम आगामी संस्करण में उनका आभार-प्रदर्शनपूर्वक उपयोग कर सकें। इसमें दोष ही दोष देखने वाले सासूय दोषदर्शियों से प्रार्थना है कि वे स्वयं इस पुस्तक का या वल्लभ-सम्प्रदाय की किसी अन्य पुस्तक का आदर्श संस्करण प्रकाशित कर उस ग्रन्थ का

---

१. देखिए, प्र० सं० पृष्ठ ६८।

उद्धार, पाठकों का उपकार, सम्प्रदाय की सेवा तथा हमारा मार्ग-निर्देशन करने की कृपा करें।

वाल्लभ दर्शन तथा पुष्टिमार्ग में सर्वप्रथम मेरी अभिरुचि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरे समादरणीय विद्यागुरु आचार्य चन्द्रधर शर्मा, डी० फ़िल्०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य (सम्प्रति, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय) ने जाग्रत की थी। उनका उपकार स्मरण करते हुए मैं अपनी यह कृति उन्हें सादर समर्पित करता हूँ। वाल्लभ वेदान्त के परिनिष्ठित पण्डित एवं पुष्टिमार्ग के मर्मज्ञ विद्वान् श्री नागरदास आँमणिया, सेठ हरजीवनदास पुरुषोत्तमदास प्रोफ़ेसर ऑफ़ शुद्धाद्वैत फ़िलासफ़ी (अहमदाबाद) के सान्निध्य में रह कर मुझे शुद्धाद्वैत दर्शन के 'प्रमेयरत्नार्णवः', 'तत्त्वार्थदीपनिबन्धः' और 'श्रीमदणुभाष्यम्' आदि ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन करने का सौभाग्य मिला है। उन्होंने अध्ययन-अध्यापन तथा अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों में अत्यधिक व्यापृत रहते हुए भी मेरे अनुरोध पर इस पुस्तक का आमुख (Foreword) लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है, एतदर्थ मैं उनका चिरकृतज्ञ रहूँगा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कलासङ्काय में दर्शनविभाग के अध्यक्ष तथा दर्शन उच्चानुशीलन केन्द्र के निदेशक प्रोफ़ेसर नन्दकिशोर देवराज, डी० फ़िल्०, डी० लिट्०, ने मुझे प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं अपेक्षित सुविधाएँ देकर उपकृत किया है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मेरे प्रिय शिष्य स्वामी ज्ञानप्रकाश दास वेदान्ताचार्य, एम्० ए० ने पाण्डुलिपि के एक अंश की मुद्रण-प्रति (प्रेस-कॉपी) प्रस्तुत करने में सहायता की है तथा प्रिय शिष्य स्वामी हरिप्रकाश ऋग्वेदशास्त्री, वेदान्ततीर्थ, वेदान्ताचार्य, एम्० ए० ने सक्रिय अभिरुचि लेकर पुस्तक के प्रकाशन को सोत्साह सम्पन्न कराया है, एतदर्थ मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती स्नेहलता मिश्रा एम्० ए० ने गृहस्थी की सारी झझटों को स्वयं झेलते हुए भी पाण्डुलिपि के एक अंश की मुद्रण-प्रति तैयार की है। उनके सक्रिय सहयोग से ही यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सका है और इसके लिये वे धन्यवाद की पात्र हैं।

पुस्तक के सुरुचिपूर्ण और शुद्ध मुद्रण के लिए गौरीशङ्कर प्रेस, मध्यमेश्वर, वाराणसी के सञ्चालक श्री सोमारु राम को धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

यदि प्रस्तुत पुस्तक प्रबुद्ध पाठकों की वाल्लभसिद्धान्तविषयक जिज्ञासा की अंशतः पूर्ति करके उसे और अधिक उद्बुद्ध तथा तीव्र कर सकी तो इसका प्रकाशन सफल समझा जायेगा।

"दोषा मनुष्यसहजा इति ते यदि स्युः
अत्रापि, सन्तु, न हि तेन ममास्ति चिन्ता।
नैसर्गिकी खलु गुणीकरणप्रवीणा
शक्तिः सदा विजयते भुवि सज्जनानाम्॥"

"ये स्वात्मीयगुणप्रियाः परगुणे ये वाप्यसूयाभराः
तानेतान् कृतिनः कृताञ्जलिरहं याचे नमत्कन्धरः
मात्सर्याशुचि मानसं क्षणमथाभ्युक्ष्यानुकम्पाम्भसा
प्रेक्ष्यः शीतलया दृशा सकृदपि ग्रन्थोऽयमामूलतः॥"

दर्शन-विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
२५।१२।१९७१ ई०

विदुषामाश्रवः
केदारनाथमिश्रः

शुभाशंसनम्

H. H. Goswami Shree Dixhitji Maharaj

TELEPHONE NO. 334851
TELEGRAPHIC ADDRESS
"HOLYWRIT"

BADA MANDIR.
3RD BHOIWADA
BHULESHWAR, BOMBAY-2

Date 24/12/1971.

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित सम्प्रदाय के प्रधान प्रकरणग्रन्थ तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के प्रथम शास्त्रार्थप्रकरण पर श्रीयुत केदारनाथ मिश्र विरचित स्नेहप्रपूरणी नाम की व्याख्या का अवलोकन मैंने किया। श्रीमद्वल्लभाचार्य के ग्रन्थों पर सुसंस्कृत हिन्दी व्याख्या के अभाव के कारण साम्प्रदायिक तत्त्वज्ञान से भारत के अनेक हिन्दीभाषाभाषी प्रान्त वञ्चित रहते थे। इस न्यूनता की पूर्ति विद्वद्रत्न श्रीयुत केदारनाथ मिश्र की इस कृति से निश्चितरूपेण हुई है यह लिखते हुए मुझे परम हर्ष हो रहा है क्योंकि गुर्जरभाषा में इन ग्रन्थों के अनुवाद हुए भी हैं किन्तु हिन्दी भाषा आज राष्ट्र की राष्ट्रभाषा है और भारत के अनेक प्रान्त इस भाषा से अपना व्यवहार चलाते हैं, उनको श्रीवल्लभाचार्य का तत्त्वज्ञान समझने

में जो कठिनता पड़ती थी वह अब इस व्याख्या के प्राप्त होने से दूर हो जायेगी और वे श्रीवाल्लभतत्त्वज्ञान के मर्म को तथा अद्वैत एवं शुद्धाद्वैत के प्रभेद को समझ सकेंगे एवं कौन सा सिद्धान्त श्रीगीताव्याससूत्रादिसम्मत है इसका निर्णय कर सकेंगे। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि इस सत्र का श्रेय मेरे परमस्नेहास्पद श्रीयुत केदारनाथ मिश्र को है। मैं श्रीवल्लभाचार्यचरण, श्री-विठ्ठलेशप्रभुचरण एवं भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करता हूँ कि इनके हाथ से सम्प्रदाय के सभी विशिष्ट ग्रन्थों की व्याख्या सम्पन्न हो और जनता श्रीवल्लभाचार्य के तत्त्वज्ञान को इनके प्रयास से समझ सके। मुझे अत्यधिक हर्ष इस बात का है कि सम्प्रदाय के प्रमेयभागव्युत्पादक प्रधानग्रन्थ श्री प्रमेयरत्नार्णव पर भी इनके हाथ से हिन्दी व्याख्या निर्मित हुई है। इसी तरह इन्हीं के हाथ से भाष्य-विद्वन्मण्डनादि की भी व्याख्या निर्मित हो यह आशीर्वाद श्रीवल्लभाचार्यचरण एवं श्री प्रभुचरण इनको अवश्य दें यह मेरी उभयाचार्यचरण से प्रार्थना हार्दिक है। परमात्मा श्रीकृष्ण इनको दीर्घायु करें और इनके हाथ से ऐसे अनेक सत्कार्य करवाएँ। इति शम् ॥

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोऽस्तु।

चुनार
२४।१२।७१

गो० दीक्षित

'सद्रूपं कृष्णरूपं जगदिदमखिलं, व्रीहिसूच्यग्रकल्पो
जीवोऽणुः सच्चिदात्मा, व्रजपतिचरणे सर्वसारैव भक्तिः।
साकारं ब्रह्म तद्वद् व्रजभुवि रमते सच्चिदानन्दरूपम्,
इत्याकारप्रकारो विलसति सततं वल्लभाचार्यमार्गः॥'

× × × ×

'वेदाः सूत्राणि गीता मितिरुत शुकगीश्चार्षशास्त्रं तदिष्टम्,
ब्रह्माभिन्नो प्रपञ्चः कनककटकवद्, ब्रह्मणोऽंशोऽणुरात्मा।
मुक्तिः स्वानन्दरूपा, भजनमपि हरेः साधनं श्रौतमाज्ञा–
रूपं कर्तव्यमेवं सरणिरभिहिता श्रीमदाचार्यवर्यैः॥'

× × × ×

'किं मन्त्रैर्बहुभिर्विनश्वरफलैरायाससाध्यैर्मखैः
किञ्चिल्लोपविधानमात्रविफलैः संसारदुःखावहैः।
एकः सन्नपि सर्वमन्त्रफलदो लोपादिदोषोज्झितः
श्रीकृष्णः शरणं ममेति परमो मन्त्रोऽयमष्टाक्षरः॥'

× × × ×

'निर्धर्मं ब्रह्म शुद्धं, शबलमिह जगत्कर्तृ, सर्वञ्च मिथ्ये–
त्येवं प्रोद्घुष्य बौद्धैरिव जगति हरेर्भक्तिरालोप्यते यैः।
भक्त्याचारोपदेशाच्युतनिगमगुरुव्यक्तविद्वेषिणस्ते,
तेभ्यः प्रज्ञेक्षणेभ्यो वितरतु विमले चक्षुषी दर्शनं नः॥'

॥ श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ॥

श्रीबालकृष्णभट्टविरचितः

प्रमेयरत्नार्णवः

पूर्वार्द्धः

प्रपञ्चविवेकः

(प्रथमोऽध्यायः)

गोपीनूतनरूपयौवनमहामाधुर्यलाभोन्मदम्
वृन्दाकाननिर्मितोज्ज्वलमयस्वच्छन्दरासोत्सवम् ।
श्रीमद्वल्लभविट्ठलप्रकटितप्रेमाख्यभक्तिप्रियम्
वेदान्तोक्तरसात्मकं प्रभुमहं गोवर्द्धनेशं भजे ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद

हृद्यङ्घ्रियुग्मं निरवद्यविद्याविद्योतितान्तःकरणस्य हृद्यम् ।
विद्यागुरोर्धार्य लिखामि हिन्द्या श्रीपुष्टिमार्गीयनिबन्धतत्त्वम् ॥ १ ॥
केदारनाथेन मयात्मतुष्ट्यै प्रमेयरत्नार्णवनामकोऽयम् ।
वेदान्तसिद्धान्तपरः प्रबन्धः स्वराष्ट्रवाचा समनूद्यतेऽत्र ॥ २ ॥
गहनवाल्लभशास्त्रसुधोदधिम्, मम निमज्जनसद्व्रतशालिनी ।
सकलसारसमुद्धरणोत्सुका समवगाहतु सम्प्रति शेमुषी ॥ ३ ॥

मैं, गोपियों के नूतन रूपयौवन की महामधुरिमा की प्राप्ति से उन्मद, वृन्दावन में उज्ज्वल और स्वच्छन्द रासोत्सव करने वाले,

नन्दाङ्गनालालितवक्त्रचन्द्रो विधीशदुष्प्रापपदारविन्दः ।
विराजतां मूर्द्धनि भक्तिगम्यः श्रीबालकृष्णः कुलदैवतं मे ॥ २ ॥
आनन्दमूर्तिं श्रुतिसूक्तसिद्धम् श्रीकृष्णमप्राकृतधर्मयुक्तम् ।
यः प्रापयद् दैवजनान् स्वपुष्ट्या श्रीवल्लभं तं प्रभुमाश्रयामि ॥ ३ ॥
वेदान्तसिद्धं पुरुषोत्तमस्य स्फुटीकृतं येन रसात्मकत्वम् ।
गोपाङ्गनाप्रेमनिमग्नचित्तं श्रीविट्ठलं तं प्रणमामि भक्त्यै ॥ ४ ॥
अथ सुबोधिनी–निबन्ध–भाष्य–विद्वन्मण्डनादिषु स्थितानि

गोवर्द्धनाधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण, जिन्हें श्रीमद्वल्लभाचार्य और श्रीविट्ठलनाथ द्वारा प्रतिपादित प्रेमाभक्ति प्रिय है और जिन्हें उपनिषद् ('रसो वै सः', तैत्ति० उप० २।७ आदि वाक्यों में) रसात्मक कहते हैं, की शरण में जाता हूँ (उनकी भक्ति या सेवा करता हूँ) ॥ १ ॥

मैं, नन्द की पत्नी यशोदा द्वारा लालित मुखचन्द्र वाले अपने कुल देवता श्रीबालकृष्ण—जिनके पदकमल ब्रह्मा और शङ्कर को भी दुष्प्राप्य हैं और जो केवल भक्ति से ही जाने जा सकते (तथा प्राप्त किये जा सकते) हैं—को शिरसा नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

मैं उन महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य की शरण में जाता हूँ जिन्होंने अनुग्रह कर दैवी जीवों को आनन्दमूर्ति, उपनिषत्सिद्ध तथा अप्राकृत धर्मों से युक्त श्रीकृष्ण की प्राप्ति करायी ॥ ३ ॥

मैं भक्ति की प्राप्ति (अर्थात् भक्तिभाव की पुष्टि)के लिये, गोपियों के प्रेम में विभोर हृदय वाले गोस्वामी विट्ठलनाथ को—जिन्होंने पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के उपनिषत्सद्ध (अर्थात् 'रसो वै सः', तैत्ति० उप० २।७ आदि वाक्यों में प्रतिपादित) रसात्मक रूप को स्फुट अर्थात् स्पष्ट रूप में उपपादित किया—प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

अब मैं श्रीवल्लभाचार्य द्वारा विरचित श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध तथा वेदान्तसूत्रोंके अणुभाष्य और गोस्वामी विट्ठलनाथकृत विद्वन्मण्डनम् आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित प्रमेयों का,

प्रमेयानि रत्नानीव सञ्चिनोमि।

तत्र भगवद्भजनोपयोगितया प्रपञ्चस्वरूपज्ञानस्य निबन्धोक्तरीत्या प्रथमं तदेव विविच्यते।

'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तैत्ति० उ० २।७), *'स हैतावानास'* (बृह० उप० १।४।३), *'स वै सर्वमिदं जगत्'*, *'इदं सर्वं यदयमात्मा'* (बृह० उप० ४।५।७), *'आत्मैवेदं सर्वम्'* (छान्दो० उप० ७।२५।२) *'स सर्वं भवति'*[1], *'पुरुष एवेदं सर्वम्'* (ऋग्वेद १०।९०।२) इत्यादि श्रुतिभिः ब्रह्मात्मकः प्रपञ्चो ब्रह्मकार्य इति सिद्धान्तः, अविकृतपरिणामवादस्वीकारात्, तथोपपपादितं भाष्यकारैः

रत्नों का सञ्चय करनेके समान, सङ्कलन करता हूँ अर्थात् उपर्युक्त ग्रन्थों में प्रतिपादित प्रमुख विषयोंका, उन्हीं कृतियोंका अनुसरण करते हुए, संक्षेपमें विवेचन करता हूँ।

उन विवेच्य विषयोंमें, प्रपञ्च या जगत्के स्वरूपके सम्यक् ज्ञान के भगवद्भजनमें उपयोगी होनेके कारण सर्वप्रथम उसीका विवेचन, वल्लभाचार्यकृत तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें प्रतिपादित प्रकारसे किया जाता है।

'उसने स्वयं अपने को (जगद्रूप से) रचा' (तैत्ति० उप० २।७), 'वह इस परिमाण वाला हो गया' (बृह० उप० १।४।३), 'वह ही यह समग्र जगत् (हो गया) है,' 'यह सब जो कुछ भी है, यह आत्मा (ही) है' (बृह० उप० ४।५।७), 'आत्मा ही यह सब है' (छान्दो० उप० ७।२५।२), 'वह सब कुछ हो जाता है,' 'यह सब कुछ पुरुष ही है' (ऋग्वेद १०।९०।२) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सूचित होता है कि श्रुति का प्रतिपाद्य सिद्धान्त यह है कि प्रपञ्च या जगत् ब्रह्मात्मक है और ब्रह्म का कार्य है क्योंकि इन वाक्यों में अविकृत परिणामवाद को स्वीकार किया गया है। ब्रह्मसूत्र के अणुभाष्य के लेखक वल्लभाचार्य ने

---

१ 'स इदं सर्वं भवति' (बृह० उप० १।४।१०) 'स य एवमेतत् साम सर्वस्मिन् प्रोतं वेद सर्वं ह भवति' (छान्दो० उप० २।२१।२)।

'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्रह्मसूत्र १।४।२६) इत्यत्र।

अतो न मायिको[1] न वा भगवद्भिन्नः किन्तु सत्यत्वाद् आविर्भाव-तिरोभावशाली, न उत्पत्ति-विनाशवान्, *'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'* (गीता २।१६) इति वाक्यात्।

'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्रह्मसूत्र १।४।२६) इस सूत्र के अणुभाष्य में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इसी रूप में किया है[2]।

अतः जगत् न तो मायिक ही है और न भगवान् से भिन्न ही। प्रपञ्च सत्य है (न कि मिथ्या) और सत्य होने के कारण ही आविर्भावशाली और तिरोभावशाली अर्थात् आविर्भूत और तिरोहित होने वाला है न कि उत्पन्न होने वाला और नष्ट हो जाने वाला। श्रीमद्भगवद्गीता के 'असत् कभी सत् नहीं होता और सत् का कभी अभाव या नाश नहीं होता' (गीता २।१६) इस वाक्य से सिद्ध होता है कि जगत्—जो सत्य है—का उत्पाद और नाश नहीं अपितु आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है।

---

१. द्रष्टव्य, शास्त्रार्थप्रकरणप्रकाश, २३.

२. 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्रह्मसूत्र १।४।२६) के अणुभाष्य में वल्लभाचार्य ने यह प्रतिपादित किया है कि ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है और जगत् ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। वे लिखते हैं, "'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तैत्ति० उप० २।७) इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्। सुकृतत्ववचनाच्चालौकिकत्वम्। तथापि ज्ञानार्थमुपपत्तिमाह-परिणामात्, परिणमते कार्याकारेणेति। अविकृतमेव परिणमते सुवर्णं, सर्वाणि च तैजसानि।....पूर्वावस्थाऽन्यथाभावस्तु कार्यश्रुत्यनुरोधादङ्गीकर्तव्यः, वक्ष्यति च 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्' (ब्रह्मसूत्र २।१।२७) इति।........तस्माद्ब्रह्मपरिणामलक्षणं कार्यमिति जगत्समवायिकारणत्वं ब्रह्मण एवेति सिद्धम्" (अणुभाष्यम् १।४।२६)।

एवञ्च प्रागभावादिचतुष्टयम् अपि नात्र इति ज्ञेयम्।

ननु, 'प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि प्रापञ्चिकघटपटादीनां, 'घटः पटो न' इत्यादिप्रतीतिसिद्धः अन्योऽन्याभावो दुर्निवारः, अन्यथा घटेन आवरणरूपं पटकार्यं स्यात्' इति चेत्; न; 'बहु स्याम्' (तैत्ति० उप० २।६) इतिश्रुतिसिद्धया इच्छया, घटे पटत्वादीनां सर्वेषामेव तिरोभावात्, एकस्य घटत्वस्य एव घटे आविर्भावात्, न कार्यान्तरसङ्करः।

एवं सति सर्वत्र सर्वे ब्रह्मधर्माः सन्तोऽपि तत्तद् व्यक्तौ

इस प्रकार जगत् का प्रागभाव आदि भी नहीं होता ऐसा समझना चाहिए। शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद के नाम से प्रसिद्ध वाल्लभ सिद्धान्त में अभाव के प्रागभाव आदि चार रूप स्वीकार नहीं किये गये हैं[1]।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि प्रपञ्च को ब्रह्म से अभिन्न मान लेने पर भी घट, पट आदि प्रापञ्चिक पदार्थों में, 'घट पट नहीं है,' इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध होने वाले अन्योऽन्याभाव को तो स्वीकार ही करना होगा, क्योंकि यदि घट में पट का और पट में घट का अभाव न स्वीकार किया जाये तो पट द्वारा होने वाला शरीराच्छादन आदि कार्य घट से भी हो सकना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है। किन्तु उसका ऐसा कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि, 'मैं अनेक हो जाऊँ' (तैत्ति० उप० २।६) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होने वाली ब्रह्म की बहुभवनेच्छा अर्थात् अनेक हो जाने की इच्छा से घट में पट आदि सभी (घटेतर पदार्थों) का तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार घट में एकमात्र घटत्व का ही आविर्भाव होने के कारण अन्य कारणों से उसका सङ्कर नहीं होता।

इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म के सभी धर्म सर्वत्र अर्थात् सभी पदार्थों में

---

१. द्रष्टव्य, सर्वनिर्णयप्र० का० ११७ तथा उस पर प्रकाश और प्रस्थानरत्नाकरः, पृष्ठ १११–११६.

तत्तत्कार्यकर्तृत्वस्य भगवता नियमितत्वात्, न कार्यान्तरं कर्तुं समर्था भवन्ति। अतः प्रमाणसिद्धाभ्याम् आविर्भाव-तिरोभावाभ्यां[1] सर्वकार्यसिद्धौ, न अन्योऽन्याभावः अङ्गीकर्तव्यः, *'सर्वं सर्वमयम्'* (नृसिंहोत्तरता० ९।४) इति तापनीयश्रुतेः। अतएव *'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवं सूर्यश्च'* (बृह० उप० १।४।१०) इत्यादौ उक्तः सर्वभावो युज्यते।

एवम् अन्योऽन्याभावे निराकृते, पदार्थमात्रस्य सर्वरूपत्वेन, अत्यन्ताभावोऽपि दूरीकृतो ज्ञेयः। तथाहि 'भूतले घटो नास्ति'

हैं फिर भी भगवान् के द्वारा 'यह पदार्थ इस कार्य को उत्पन्न करे' इस प्रकार नियमित कर दिये जाने के कारण पदार्थ अन्य कार्यों को उत्पन्न नहीं कर पाते। अतः श्रुतिस्मृति आदि रूप प्रमाण से सिद्ध आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा ही सारे कार्यों की सिद्धि हो जाने (अर्थात् सारे कार्यों के व्याख्यात हो जाने) के कारण अन्योऽन्याभाव को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् के 'सर्वं सर्वमयम्' (नृसिंहोत्तरता० ९।४) आदि वाक्यों में सभी पदार्थों को सर्वमय बताया गया है। इसीलिये बृहदारण्यकोपनिषद् के "उसे आत्मा के रूप में ऋषि वामदेव ने जाना, 'मैं मनु हुआ और सूर्य भी' (बृह० उप० १।४।१०)," इत्यादि वाक्यों में प्रतिपादित सर्वभाव उपपन्न है।

इस प्रकार अन्योऽन्याभाव का निराकरण हो जाने पर, पदार्थमात्र के सर्वरूप अर्थात् सर्वात्मक होने के कारण अत्यन्ताभाव को भी निरस्त हो गया समझना चाहिए। इस प्रकार 'भूतल पर घट नहीं है' इस

---

१. आविर्भाव और तिरोभाव के लक्षण तथा उनकी सिद्धि के लिये देखें, सर्वनिर्णयप्र० का० १४०-१४२ तथा उस पर प्रकाश और विद्वन्मण्डनम्, पृष्ठ ८५–१२०.

इत्यत्र हि घटानुपलम्भेऽपि तद्भूतले वस्त्वन्तरस्य तृणादेराकाशस्य वा विद्यमानत्वात्, तृणादिना आकाशेन वा घटस्यापि सत्त्वात्, न अत्यन्ताभावः।

अतः सर्वस्य सर्वरूपत्वात् सर्वस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात् च, सर्वस्य ब्रह्मत्वम् इति शुद्धो ब्रह्मवादः।

कारणरूपस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण आविर्भावात्, तत्प्रयुक्तं कार्यत्वं निखिलप्रपञ्चे, *'आत्मकृतेः परिणामात्'* (ब्रह्मसूत्र १।४।२६), *'पटवच्च'* (ब्रह्मसूत्र २।१।१९) इति सूत्राभ्याम्।

कथन में (भूतल पर) घट की उपलब्धि न होने पर भी उसी भूतल पर तृणादिरूप किसी अन्य पदार्थ या आकाश के विद्यमान होने के कारण, तृणादि या आकाश के (सर्वमय होने के कारण, उनके) द्वारा (प्रकारान्तर से,) घट के भी विद्यमान होने से (घट का) अत्यन्ताभाव नहीं समझना चाहिए।

अतः सभी पदार्थों के सर्वरूप होने के कारण और सभी (पदार्थों) के सर्वत्र (अर्थात् सभी पदार्थों या स्थलों में) विद्यमान होने के कारण, सभी पदार्थों का ब्रह्मत्व सिद्ध होता है और इस प्रकार शुद्ध ब्रह्मवाद की सिद्धि और पुष्टि होती है।

'आत्मकृतेः परिणामात्'* (ब्रह्मसूत्र १।४।२६) तथा 'पटवच्च' **ब्रह्मसूत्र २।१।१९) सूत्रों से सिद्ध होता है कि कारणरूप ब्रह्म के जगद्रूप कार्य के रूप में आविर्भूत होने के कारण सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म का कार्य मानना चाहिए।

* 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्रह्मसूत्र १।४।२६) का वल्लभाभिमत अर्थ यह है कि यह सृष्टि भगवान् की ही कृति है और वे स्वयं ही कृति के कर्म और कर्ता दोनों हैं[1] तथा (अविकृत रहते हुए भी) सृष्टि के

---

१. मिलाइये, 'आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥'
(सर्वनिर्णयप्र० का० १८३)।

एतदुक्तं निबन्धीयसर्वनिर्णयप्रकरणे,[1] '*प्रपञ्चभावो भगवत्येव लीनः प्रकटीभवति इति*' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ६८)।

अवान्तरकार्येषु घटपटादिषु तु अयं प्रकारः। भगवदिच्छया कारणरूपायां मृदि विद्यमानस्य भगवद्रूपघटस्य आविर्भावः। एवं सति; यस्मिन् भगवद्रूपे रूपान्तरस्य आविर्भावः तत्का-

---

रूप में परिणमित होते हैं अर्थात् जगत् रूप कार्य ब्रह्म का परिणाम है और ब्रह्म इसका समवायिकारण भी है (द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ ४, टिप्पणी २ में उद्धृत अणुभाष्यम् १।४।२६)।

‡‡'पटवच्च'[2] (ब्रह्मसूत्र २।१।१९) सूत्र का अर्थ वल्लभाचार्य के अणुभाष्य के अनुसार यह है कि जिस प्रकार संवेष्टित पट का व्यक्तरूप से ग्रहण नहीं होता किन्तु फैला दिये जाने पर उसी पट का स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष होने लगता है उसी प्रकार आविर्भाव होने पर जगत् का ग्रहण या प्रत्यक्ष होता है और तिरोभाव हो जाने पर नहीं होता ('यथा संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते विस्तृतस्तु गृह्यते तथाविर्भावानाविर्भावेन जगतोऽपि।' अणुभाष्यम् २।१।१९)।

तत्त्वदीपनिबन्ध के (सर्वनिर्णयप्रकरण[1] के) अधोलिखित वाक्य में यही बात कही गयी है 'जगत् भगवान् में ही लीन हो जाता है और उनसे ही आविर्भूत या प्रकट होता है अथवा भगवान् में ही लीन और प्रकट होता है।' (शास्त्रार्थ प्र० प्र० ६८)।

घटपटादिरूप अवान्तरकार्यों में आविर्भाव-तिरोभाव का प्रकार अधोलिखित होता है। भगवान् की इच्छा से कारणरूप मृत्तिका में विद्यमान भगवद्रूप घट का आविर्भाव होता है। इस प्रकार, जिस भगवद्रूप में किसी अन्य रूप का आविर्भाव होता है उसे कारण कहा

---

१. प्रस्तुत उद्धरण तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के सर्वनिर्णयप्रकरण का नहीं अपितु शास्त्रार्थप्रकरण का है (देखिये, शास्त्रार्थप्रकरण प्र० ६८)।

२. मिलाइये, 'ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्' (भाग० ६।३।१२)।

रणम्, यथा मृद्; यस्य प्राकट्यं, तत् कार्यं यथा घटः; इति कार्यकारणव्यवस्था बोध्या। तथोक्तं निबन्धे, 'मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्' (सर्वनिर्णयप्र० का० १४२) इति। अतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो० उप० ३।१४।१) इति श्रुत्युक्तं ब्रह्मात्मकत्वं निराबाधमेव।

'मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुद्ध्यध्वमञ्जसा॥' (भाग० ११।१३।२४) इति भागवतोपबृंहणाच्च।

परन्तु व्यामोहिका माया जीवं व्यामोहयित्वा तदीयबुद्धौ

जाता है, जैसे मृत्तिका; और उसमें जिस रूपका आविर्भाव या प्राकट्य होता है उसे कार्य कहते है, जैसे घट। कार्य-कारण की व्यवस्था इसी रूप में समझनी चाहिए।

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के सर्वनिर्णयप्रकरण में यही बात इस तरह कही गयी है कि "घट आदि आकारों से युक्त मृत्तिका आदि भगवद्रूप हैं" (सर्वनिर्णय प्र० का० १४२)[1]। 'यह सब ब्रह्म है' (छान्दो० उप० ३।१४।१) इत्यादि श्रुति वाक्यों में प्रतिपादित समग्र जगत् के ब्रह्मात्मक होने का सिद्धान्त निर्बाध अर्थात् उपपन्न ही है।

श्रीमद्भागवतम् के, "'मन, वाणी, दृष्टि तथा अन्य इन्द्रियों द्वारा भी जो कुछ गृहीत किया जाता है वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है,' यह आप लोग समझ लीजिये" (भाग० ११।१३।२४) इत्यादि वाक्यों में इसी सिद्धान्त का उपबृंहण होने से प्रपञ्च के ब्रह्मात्मक होने के उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है।

किन्तु व्यामोहिका माया जीव को मोह में डालकर उसकी

---

१. द्रष्टव्य, सर्वनिर्णयप्रकरण का० १४१–१४२ तथा उनकी प्रकाश टीका।

प्रापञ्चिकसद्वस्तुसदृशं मायिकं पदार्थमुत्पाद्य पुरःस्थितविषये प्रक्षिपति। तदा पदार्थग्रहणे तस्यापि ग्रहणात् तद्विशिष्टज्ञानं भ्रमात्मकं भवति। तथा सति, वस्तुग्रहे मायिकधर्माणामपि ग्रहणात्,

'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्॥' (भाग० ११।७।७),
'देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा' (भाग० ११।२३।५०),
'त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधः विकारो।
मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत्॥' (भाग ११।१९।७),
"*स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्'* (भाग १०।१४।२२)
इत्यादिवाक्यानि सावकाशानि भवन्ति।

बुद्धि में जागतिक वास्तविक पदार्थों के समान मायिक पदार्थों को उत्पन्न कर समुपस्थित विषयों पर उन्हें प्रक्षिप्त कर देती है और तब प्रापञ्चिक पदार्थों का ग्रहण होने के समय वे मायिक पदार्थ भी गृहीत हो जाते हैं अतः उन मायिक पदार्थों से विशिष्ट ज्ञान भ्रमात्मक हो जाता है। इस प्रकार, जागतिक पदार्थों का ग्रहण होने के समय उनके मायिक धर्मों का भी ग्रहण हो जाने के कारण श्रीमद्भागवतम् के, 'हे उद्धव ! यह जो कुछ भी मन, वाणी, नेत्र तथा श्रवणादि इन्द्रियों द्वारा गृहीत किया जाता है, सब नश्वर, मायामय अर्थात् मिथ्या और मनोमय अर्थात् मन का विलास मात्र हैं, ऐसा समझो' (भाग० ११।७।७), 'इस मनोमात्र अर्थात् मनःकल्पित शरीर को मैं और मेरा समझ कर' (भाग० ११।२३।५०), 'हे उद्धव ! त्रिविधविकारों की समष्टि रूप यह शरीर जो सर्वथा तुम्हारे आश्रित है, तथा जो पहले नहीं था और अन्त में नहीं रहेगा (केवल बीच में ही दिखाई दे रहा है), माया है' (भाग० ११।१९।७), तथा 'स्वप्न के समान, अज्ञानरूप और दुःख पर दुःख देने वाला' (भाग० १०।१४।२२) इत्यादि वाक्य भी साव-

इमानि तादृक्-प्रतीतिमूलकानि प्रमाणानि अवलम्ब्य विवर्त्तादिवादानां प्रवृत्तिः। पुराणादौ तदृशवादमूलमायिकत्वोक्तिः वैराग्यार्थमुपयुज्यते' इति व्यवस्थापितं तत्त्वदीपे[1]।

अतः प्रतीतिरेव मुग्धानां मायिकी, न वस्तुनि कश्चिद् दोषः स्वाभाविकः। अत एव ब्रह्माणं प्रति भगवता उक्तम्,

'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत, न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां, यथाऽऽभासो यथा तमः॥

(भाग० २।९।३३) इति। एतद्-व्याख्याने सुबोधिन्यामुक्तम्,

काश हो जाते हैं अर्थात् इन वाक्यों की भी व्याख्या हो जाती है।

इन शब्दप्रमाणरूप वाक्यों—जो देहादि प्रपञ्च के मायिक होने का प्रतिपादन करते प्रतीत होते हैं—का अवलम्बन लेकर, इनके आधार पर ही मायावादी आदि दार्शनिक विवर्तवाद आदि मतों का प्रतिपादन करते हैं। पुराणादि में जगत् के मायिक होने के कथन—जिसके आधार पर विवर्तवाद आदि का प्रतिपादन किया जाता है—का उपयोग वाल्लभ सिद्धान्त में वैराग्य के लिये किया जाता है अर्थात् उसका उद्देश्य वैराग्य की भावना को उत्पन्न और पुष्ट करना है, इस सिद्धान्त का निरूपण वल्लभाचार्य ने अपने तत्त्वदीपनिबन्ध (के शास्त्रार्थप्रकरण) में किया है।

अतः मुग्ध अर्थात् मोहग्रस्त लोगों को होने वाली प्रतीति ही मायिक है, वस्तु में कोई स्वाभाविक दोष नहीं होता अर्थात् वस्तुतः प्रपञ्च मायिक या मिथ्या नहीं है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा से कहा था, **'वस्तु का अपने स्वरूप से अन्यथा प्रतीत होना और अपने वास्तविक स्वरूप में न गृहीत होना, जीवों को व्यामोह में डालने वाली व्यामोहिका माया का कार्य है, जिस प्रकार द्विचन्द्रदर्शन आदि रूप आभास या अन्धकार'** (भाग० २।९।३३)। भागवत के इस श्लोक

---

१. देखिये, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थप्रकरण की कारिका ८९ और उसकी स्नेहप्रपूरणी व्याख्या (पृष्ठ ३०३–३०५)।

'तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते न तु पदार्था अन्यथा भवन्ति' (सुबोधिनी २।९।३३) इति। अग्रे चोक्तम्, "प्रमाणभूतो वेदः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो० उप० ३।१४।१) इत्याह। ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा। भ्रान्तप्रतीतेस्तु न अर्थनियामकत्वम्, अन्यथा भ्रमदृष्ट्या गृहीतं जगद्, भ्रमरूपमेव स्यात्। अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या, यया दृष्टिः सविषया भवति। अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद् भ्रमदृष्टिर्निर्विषया स्याद्" (सुबोधिनी २।९।३३) इति।

की व्याख्या करते हुए, वल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी टीका में कहा है कि "उस व्यामोहिका माया के द्वारा व्यामोहित बुद्धि पदार्थों को अन्यथा समझती (अर्थात् अयथार्थरूप में ग्रहण करती) है, न कि पदार्थ ही अन्यथा हो जाते हैं" (सुबोधिनी २। ९। ३३)। उक्त श्लोक की सुबोधिनी टीका में ही आगे चलकर वल्लभाचार्य कहते हैं, "प्रमाणभूत वेद कहते हैं कि 'यह सब ब्रह्म है' (छान्दो० उप० ३। १४। १)। ब्रह्मवेत्ताओं का अनुभव भी ऐसा ही (अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो० उप० ९। १४। १) इस श्रुतिवाक्य का पोषक) है। जिस व्यक्ति को भ्रम हो रहा है उसकी प्रतीति को अर्थ-नियामक अर्थात् वस्तु के स्वरूप का निर्धारक नहीं माना जा सकता, अन्यथा जिस व्यक्ति को घुमनी (भ्रमरिका) के कारण चक्कर आ जाता है और चक्कर के कारण जगत् अपने चारों ओर तेज़ी से घूमता जान पड़ता है, उसके द्वारा गृहीत हो रहे जगत् को उसके चारों ओर तेज़ी से घूमता हुआ मानना होगा। अतः विषय में कोई विषयता स्वीकार करनी चाहिए जिसके कारण दृष्टि सविषया हो जाती है, अन्यथा (विषयता स्वीकार न करने पर) उक्त व्यक्ति के चारों ओर के पदार्थों के स्थिर होने के कारण उन (पदार्थों) के अपने चारों ओर घूम रहे होने का उस व्यक्ति का ज्ञान निर्विषय हो जायेगा।" (सुबोधिनी २। ९। ३३)।

एवमुपपाद्य स्पष्टीकर्तुं पुनः फलितमुक्तम्, '*विषयता मायाजन्या, विषयो भगवान्*' (सुबो० २।९।३३) इति।

एवं सति अब्रह्मविदां विषये विषयता च प्रतीयते इत्युक्तं भवति।

यथा भ्राम्यतः पुरुषस्य 'घटो भ्राम्यति' इति प्रत्यक्षे घटगताकृत्यादिर्वस्तुभूता प्रतीयते, भ्रमणं तु विषयतारूपम्, विषयरूपम् भगवदात्मकं वस्तुभूतम्। यत्पुनः तत्रैव उत्पत्ति–विनाश–कुत्सितत्व–अन्योऽन्याभाव–आदि प्रतीयते, तद्विषयतारूपं, भ्रमणवन्मायिकं भासते। तथा घटपदादिरूपं जगत् प्रतीयते, न तु मायिकं बोध्यम्। इदमेव विविच्य

इस प्रकार उपपादन कर वल्लभाचार्य ने स्पष्टता के लिये पुनः निष्कर्ष का कथन किया है कि '**विषयता मायजन्य है और विषय भगवान् हैं**' (सुबोधिनी २।९।३३)।

इस प्रकार, उपर्युक्त कथन का आशय यही है कि ब्रह्मज्ञानविरहित व्यक्तियों को विषय में (अर्थात् विषय की प्रतीति के साथ ही) विषयता की प्रतीति भी होती है।

जिस प्रकार घुमनी कर रहे (अर्थात् अपने स्थान पर ही घूम रहे) पुरुष को होने वाले 'घट घूम रहा है' इस प्रकार के प्रत्यक्ष में घट की वास्तविक आकृति आदि की प्रतीति होती है। यहाँ घट का घूमना विषयतारूप है और भगवदात्मक घट पदार्थ विषयरूप है। उपर्युक्त प्रत्यक्ष में होने वाली घट के उत्पत्तिशील और विनाशशील होने, कुत्सितत्व तथा ('घट, पट नहीं है' इत्यादिरूप) अन्योऽन्याभाव आदि की प्रतीति विषयतारूप है और भ्रमरिकाग्रस्त पुरुष को होने वाली उसके चारों ओर जगत् के तेजी से घूम रहे होने की प्रतीति के समान ही मायिक प्रतीति है। घट, पट आदि रूप वास्तविक जगत् की जो प्रतीति होती है उसे मायिक नहीं समझना चाहिए। यह

सुबोधिन्याम् '*ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत*' (भाग० २।९।३३) इत्यस्यैव व्याख्याने उक्तम्, "*अतो विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तम्, विषयजनितं प्रमा इति*" (सुबो० २।९।३३)।

विषयता च द्विधा सुबोधिन्यां विवृता, "*सा च विषयता द्विधा, आच्छादिका, अन्यथाप्रतीतिहेतुश्च अपरा*" (सुबो० २।९।३३) इत्यारभ्य, "*तस्माद् दर्पणे मुखजननवत् तेजोऽभावेऽन्धकारजननवत् माया मोहितपुरुषबुद्धौ अपि विषयताद्वयं जनयति इत्यर्थः*" (सुबो० २।९।३३) इत्यन्तेन ग्रन्थेन। विषयताद्वयं कर्मभूतं माया जनयति इति फक्किकार्थः।

पुनर्विषयता-द्वयस्यापि स्वरूपं निगमयितुम् अग्रे भणितम्, "*तत्रैका ब्रह्मरूपतां न प्रकाशयति; एका तु जगद्रूपा*

विवेचन करके वल्लभाचार्य ने 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' (भाग० २।९।३३) इसी श्लोक की सुबोधिनी टीका में कहा है कि 'विषयता-जनित ज्ञान भ्रान्त होता है और विषयजनित ज्ञान प्रमा (अर्थात् यथार्थ और प्रामाणिक) होता है' (सुबोधिनी २।९।३३)।

वल्लभाचार्य ने भागवत के उपर्युक्त (भाग० २।९।३३) श्लोक की सुबोधिनी टीका में विषयता के दो प्रकारों का विस्तार से विवेचन, "और वह विषयता दो प्रकार की होती है, एक आच्छादिका और दूसरी अन्यथा प्रतीति की हेतु-भूत" (सुबोधिनी २।९।३३) इस वाक्य से प्रारम्भ कर, 'अतः दर्पण में मुख की उत्पत्ति के समान, तथा प्रकाश के अभाव में अन्धकार की उत्पत्ति के समान, माया मोहित पुरुष की बुद्धि में भी दो प्रकार की विषयता को उत्पन्न कर देती है," (सुबो० २।९।३३) इस वाक्य तक किया है। उपर्युक्त फक्किका का तात्पर्य यही है कि माया दो प्रकार की विषयताओं को उत्पन्न करती है।

तदनन्तर उपर्युक्त दोनों विषयताओं का स्वरूप निरूपित करने के लिये वल्लभाचार्य आगे कहते हैं, उन दोनों विषयताओं में से एक ब्रह्मरूपता का प्रकाशन नहीं करती (अर्थात् पदार्थ की ब्रह्मरूपता का

विषयता" (सुबो० २।९।३३) इति। इह, "ब्रह्मरूपतां न प्रकाशयति" (सुबो० २।९।३३,) इत्युक्त्या, 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत, न प्रतीयेत चात्मनि' (भाग० २।९।३३) इत्यत्र, 'अर्थो न प्रतीयत' (सुबोधिनी २।९।३३) इति यदुक्तं तदुपपादितम्; "एका तु जगद्रूपा विषयता" (सुबो० २।९।३३) इत्युक्त्या, 'अर्थम् ऋते यत् प्रतीयेत'[1] (सुबोधिनी २।९।३३) इति पूर्वं यदुक्तम्, तत् समर्थितम्। 'जगद्रूपा विषयता' जगदिव सत्यमिव रूपं यस्याः सा जगद्रूपा, इति समासो ज्ञेयः।

बोध नहीं होने देती), और दूसरी जगद्रूपा (अर्थात् सत्य जगत् के समान सत्य प्रतीत होने वाली) विषयता है" (सुबोधिनी २।९।३३)। यहाँ, 'ब्रह्मरूपता का प्रकाशन नहीं करती' (सुबोधिनी २।९।३३) इस कथन के द्वारा, 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि' (भाग० २।९।३३) इस श्लोकार्द्ध की व्याख्या में आये 'अर्थो न प्रतीयते' (सुबोधिनी २।९।३३) अर्थात् 'वस्तुभूत पदार्थ की प्रतीति नहीं होती' (सुबो० २।९।३३) इस वाक्य में कही गयी बात का उपपादन किया गया है तथा 'और एक जगद्रूपा विषयता है' (सुबोधिनी २।९।३३) इस कथन के द्वारा, उपर्युक्त व्याख्या में आये 'अर्थम् ऋते यत् प्रतीयेत'[1] (सुबोधिनी २।९।३३) अर्थात् 'जो पदार्थ के अभाव में भी (अर्थात् पदार्थ के स्वरूप से पृथक् या अतिरिक्त) प्रतीत होता है' (सुबोधिनी २।९।३३) इस वाक्य में कही गयी बात का समर्थन किया गया है। उपर्युक्त सुबोधिनी के 'जगद्रूपा विषयता' इस वाक्यांश में प्रयुक्त समास का विग्रह, 'जिसका रूप जगत् के समान अर्थात् सत्य के समान है, वह जगद्रूपा है' इस प्रकार का है, ऐसा समझना चाहिए। इसी का विवेचन भागवत के मूल

---

१. उपलब्ध सुबोधिनी का पाठ 'अर्थमृते प्रतीयत इति' है।

सुबोधिन्याम् 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' (भाग० २।९।३३) इत्यस्यैव व्याख्याने उक्तम्. "*अतो विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तम्, विषयजनितं प्रमा इति*" (सुबो० २।९।३३) ।

विषयता च द्विधा सुबोधिन्यां विवृता, "*सा च विषयता द्विधा, आच्छादिकैका, अन्यथाप्रतीतिहेतुश्च अपरा*" (सुबो० २।९।३३) इत्यारभ्य, "*तस्माद् दर्पणे मुखजननवत् तेजोऽभावेऽन्धकारजननवत् माया मोहितपुरुषबुद्धौ अपि विषयताद्वयं जनयति इत्यर्थः*" (सुबो० २।९।३३) इत्यन्तेन ग्रन्थेन । विषयताद्वयं कर्मभूतं माया जनयति इति फक्किकार्थः ।

पुनर्विषयता-द्वयस्यापि स्वरूपं निगमयितुम् अग्रे भणितम्, "*तत्रैका ब्रह्मरूपतां न प्रकाशयति; एका तु जगद्रूपा*

विवेचन करके वल्लभाचार्य ने 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' (भाग० २।९।३३) इसी श्लोक की सुबोधिनी टीका में कहा है कि 'विषयता-जनित ज्ञान भ्रान्त होता है और विषयजनित ज्ञान प्रमा (अर्थात् यथार्थ और प्रामाणिक) होता है' (सुबोधिनी २।९।३३) ।

वल्लभाचार्य ने भागवत के उपर्युक्त (भाग० २।९।३३) श्लोक की सुबोधिनी टीका में विषयता के दो प्रकारों का विस्तार से विवेचन, "और वह विषयता दो प्रकार की होती है, एक आच्छादिका और दूसरी अन्यथा प्रतीति की हेतु-भूत" (सुबोधिनी २।९।३३) इस वाक्य से प्रारम्भ कर, 'अतः दर्पण में मुख की उत्पत्ति के समान, तथा प्रकाश के अभाव में अन्धकार की उत्पत्ति के समान, माया मोहित पुरुष की बुद्धि में भी दो प्रकार की विषयता को उत्पन्न कर देती है," (सुबो० २।९।३३) इस वाक्य तक किया है । उपर्युक्त फक्किका का तात्पर्य यही है कि माया दो प्रकार की विषयताओं को उत्पन्न करती है ।

तदनन्तर उपर्युक्त दोनों विषयताओं का स्वरूप निरूपित करने के लिये वल्लभाचार्य आगे कहते हैं, उन दोनों विषयताओं में से एक ब्रह्मरूपता का प्रकाशन नहीं करती (अर्थात् पदार्थ की ब्रह्मरूपता का

विषयता" (सुबो० २।९।३३) इति। इह, "*ब्रह्मरूपतां न प्रकाशयति*" (सुबो० २।९।३३,)' इत्युक्त्या, '*ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत, न प्रतीयेत चात्मनि*' (भाग० २।९।३३) इत्यत्र, '*अर्थो न प्रतीयत*' (सुबोधिनी २।९।३३) इति यदुक्तं तदुपपादितम्; "*एका तु जगद्रूपा विषयता*" (सुबो० २।९।३३) इत्युक्त्या, '*अर्थम् ऋते यत् प्रतीयेत*[1]' (सुबोधिनी २।९।३३) इति पूर्वं यदुक्तम्, तत् समर्थितम्। '*जगद्रूपा विषयता*' जगदिव सत्यमिव रूपं यस्याः सा जगद्रूपा, इति समासो ज्ञेयः।

बोध नहीं होने देती), और दूसरी जगद्रूपा (अर्थात् सत्य जगत् के समान सत्य प्रतीत होने वाली) विषयता है" (सुबोधिनी २।९।३३)। यहाँ, 'ब्रह्मरूपता का प्रकाशन नहीं करती' (सुबोधिनी २।९।३३) इस कथन के द्वारा, 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि' (भाग० २।९।३३) इस श्लोकार्द्ध की व्याख्या में आये 'अर्थो न प्रतीयते' (सुबोधिनी २।९।३३) अर्थात् 'वस्तुभूत पदार्थ की प्रतीति नहीं होती' (सुबो० २ । ९ । ३३) इस वाक्य में कही गयी बात का उपपादन किया गया है तथा 'और एक जगद्रूपा विषयता है' (सुबोधिनी २ । ९ । ३३) इस कथन के द्वारा, उपर्युक्त व्याख्या में आये 'अर्थम् ऋते यत् प्रतीयेत[1]' (सुबोधिनी २ । ९ । ३३) अर्थात् 'जो पदार्थ के अभाव में भी (अर्थात् पदार्थ के स्वरूप से पृथक् या अतिरिक्त) प्रतीत होता है' (सुबोधिनी २ । ९ । ३३) इस वाक्य में कही गयी बात का समर्थन किया गया है। उपर्युक्त सुबोधिनी के 'जगद्रूपा विषयता' इस वाक्यांश में प्रयुक्त समास का विग्रह, 'जिसका रूप जगत् के समान अर्थात् सत्य के समान है, वह जगद्रूपा है' इस प्रकार का है, ऐसा समझना चाहिए। इसी का विवेचन भागवत के मूल

---

१. उपलब्ध सुबोधिनी का पाठ 'अर्थमृते प्रतीयत इति' है।

एतदेव *"यथाऽऽभासो यथा तमः"* (भाग० २।९।३३) इति दृष्टान्तेन मूले विवेचितम् ।

न च *'जगद्रूपा विषयता'* (सुबो० २।९।३३) इत्युक्त्या दृश्यमानस्य जगतो विषयतात्वं स्वीक्रियताम्, इति वाच्यम्; *'विषयो भगवान्'* (सुबो० २।९।३३) *'विषयता मायाजन्या'* (सुबो० २।९।३३) इत्यनेन विषयरूपस्य जगतो विषयतायाः पृथक्त्वस्वीकारात्; अन्यथा, ब्रह्मणो विषयत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् जगतश्च विषयतारूपत्वाङ्गीकारात्, *'विषयो भगवान्'* (सुबो० २।९।३३) इति-उक्तिरेव बाधिता स्यात् । अतो

श्लोक में **'यथाऽऽभासो यथा तमः'** (भाग० २ । ९ । ३३) अर्थात् 'जिस प्रकार आभास, और जिस प्रकार अन्धकार' (भाग० २।९।३३) इस पाद में दृष्टान्त देकर किया गया है ।

पूर्व पक्षी का यह कहना भी ठीक न होगा कि सुबोधिनी की **'जगद्रूपा विषयता'** (सुबोधिनी २ । ९ । ३३) इस उक्ति के आधार पर (अर्थात् इस वाक्य के प्रामाण्य से) दृश्यमान जगत् को विषयतारूप स्वीकार कर लेना चाहिए (अर्थात् सुबोधिनी के **'जगद्रूपा विषयता'** इस वाक्य का अर्थ 'जगत् का विषयतारूप होना' मान लेना चाहिए) क्योंकि उसी श्लोक की सुबोधिनी में **'विषय भगवान् हैं'** (सुबोधिनी २ । ९ । ३३) और **'विषयता मायाजन्य है'** (सुबोधिनी २।९।३३) इन वाक्यों द्वारा विषयरूप जगत् के विषयता से पृथक् होने की बात स्वीकार की गयी है; अन्यथा (अर्थात् **'जगद्रूपा विषयता'** का अर्थ जगत् का विषयतारूप होना मान लेने पर) ब्रह्म के विषय होने की बात न कही जा सकने के कारण तथा जगत् के विषयतारूप होने की बात स्वीकार कर लेने के कारण सुबोधिनी की **'विषयो भगवान्'** अर्थात् विषय भगवान् हैं (सुबोधिनी २ । ९ । ३३) यह उक्ति ही बाधित हो जायेगी । अतः **'जगद्रूपा विषयता'** (सुबोधिनी २ । ९ ३३)

'जगद्रूपा विषयता' (सुबो० २।९।३३) इत्यस्य अस्मदुक्त एवार्थो ज्ञेयः। प्रापञ्चिकनीलवस्तुसंदृशं विषयतारूपं नीलं तमः प्रतीयते, इयमेव जगद्रूपा विषयता।

इदं तु विशिष्य ज्ञेयम्। माया हि कुत्रचिद् विषयतारूप-धर्मं सृजति, कुत्रचिद् धर्मिणं विषयतारूपम्। भ्रमरिकादृष्ट्या गृहीते घटे भ्रमणं विषयतारूपम्, तेजोऽभावे तु धर्मी विषय-तारूपोऽन्धकारः। एवमुभयविधा विषयता जगत्समानाकारा, अतएव 'जगद्रूपा' इत्युच्यते। एवञ्च विषयतया पदार्थानाम् अन्यथाभानम्, "न तु पदार्था अन्यथा" (सुबो० २।९।३३) इति निष्कर्षः, यतो विषयताद्वयम् आच्छादक-अन्यथाप्रतीतिहेतु-

---

इस वाक्यांश का वही अर्थ ठीक समझना चाहिए जो हमने ऊपर प्रतिपादित किया है। जागतिक नील पदार्थों के सदृश विषयतारूप नील अन्धकार प्रतीत होता है, यही जगद्रूपा विषयता है।

इस सम्बन्ध में यह बात विशेषरूप से जानने योग्य है कि माया कहीं तो विषयतारूप धर्म की सृष्टि करती है और कहीं विषयतारूप धर्मी की। भ्रमरिका अर्थात् घुमनी की दशा में गृहीत होने वाले घट में जो घट के (अपने चारों ओर) घूम रहे होने की प्रतीति होती है वह (माया के) विषयतारूप (धर्म की सृष्टि करने का उदाहरण) है और प्रकाश के अभाव में गृहीत या प्रतीत होने वाला अन्धकार (माया के) विषयतारूप धर्मी (की सृष्टि करने का उदाहरण) है।

इस प्रकार, दोनों प्रकार की विषयता जगत् के समान आकार वाली है और इसीलिये जगद्रूपा कही जाती है। इस प्रकार (वल्लभाचार्य का) निष्कर्ष यह है कि विषयता से पदार्थों की अन्यथा प्रतीति होती है **'न कि पदार्थ अन्यथा हो जाते हैं'** (सुबोधिनी २।९।३३) क्योंकि आच्छादक और अन्यथा प्रतीति की हेतुभूत इन दोनों विषयताओं का नाश ब्रह्मज्ञान से होता है, जैसा कि भागवत के उपर्युक्त

रूपम् ब्रह्मज्ञानेन नाश्यते, तदुक्तं सुबोधिन्याम् अत्रैव "*तदुभय-व्यावृत्त्यर्थं सर्वाणि प्रमाणानि इति भावः*" (सुबो० २।९।३३) इति।

अयं प्रपञ्चोऽधिकारभेदेन त्रिधा भासते। तत्र ब्रह्मभूतानां ब्रह्मात्मक एव शुद्धो भासते, यथा यस्मिन् क्षणे स एव शुक्लो गृह्यते तद्वत्। शास्त्रोत्पन्नज्ञानिनां तु ब्रह्मधर्म-मायाधर्मयुक्तः तत्तद्धर्मसत्यत्वमिथ्यात्वविवेकपूर्वकं भासते; यथा पटस्वरूपौपाधिकहरितत्वयुक्तपटे गृहीतेऽपि पटगताकृत्यादीनां सत्यत्वम्, हरितताया मायिकत्वं बुध्यते, तद्वत्। अविवेकिनां तु ब्रह्मधर्म-मायाधर्मयुक्तः तत्तद्धर्माणामेकरूपज्ञानपुरःसरं

श्लोक की सुबोधिनी में ही अन्तिम वाक्य में इस प्रकार कहा गया है कि, 'तात्पर्य यह है कि सारे प्रमाण उपर्युक्त दोनों विषयताओं की व्यावृत्ति करने के लिये ही हैं अर्थात् सारे प्रमाणों का उपयोग, प्रयोजन या उद्देश्य इस द्विविध विषयता का उच्छेद करना ही है' (सुबोधिनी २।९।३३)।

यह जगत् अधिकारी-भेद से विभिन्न प्रकार के अधिकारियों को तीन विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है। ब्रह्मभूत ऋषियों को यह जगत् ब्रह्मात्मक और शुद्ध ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार जैसे श्वेत प्रतीत होने के समय श्वेतपट। जिन्हें शास्त्राभ्यास से ज्ञान उत्पन्न हो गया है उन ज्ञानियों को यह प्रपञ्च ब्रह्म के धर्मों के सत्य होने और माया के धर्मों के मिथ्या होने के विवेकपूर्वक, ब्रह्म और माया दोनों के धर्मों से युक्त प्रतीत होता है, उसी प्रकार जैसे (पट के अपने) स्वरूप और औपाधिक हरीतिमा से युक्त पट के गृहीत होने पर भी गृहीता को पट की आकृति आदि के सत्य होने और हरीतिमा के मायिक होने का विवेक या ज्ञान रहता है। अविवेकी व्यक्तियों को प्रपञ्च ब्रह्म और माया के धर्मों के एकरूप होने की प्रतीतिपूर्वक, ब्रह्म और माया दोनों

भासते; यथा हरितकाचोपनेत्रयुतचक्षुषा बालेन गृहीतः पटः तद्गताकृत्यादेः औपाधिकहरितत्वादेश्च सत्यत्वावबोधपूर्वकं भासते तथा।

एवं सति, भाण एव भेदो; न स्वरूपे। अतः प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वात् सत्यत्वम् अङ्गीकार्यं श्रुतिशरणैः।

ये पुनः उत्पत्ति-विनाश-कुत्सितत्व-भेदादयो धर्माः प्रतीयन्ते, ते मायिकाः, इति सुधीभिराकलनीयम्।

भगवन्मूर्त्यादौ तु भिन्नः प्रकारः। तथा हि-भगवन्मूर्तिं पश्यतो भक्तिरहितस्य बुद्धौ माया विषयतां सृजति, न तु

के धर्मों से युक्त प्रतीत होता है (अर्थात् उन्हें ब्रह्म और माया के धर्मों में विवेक नहीं होता), उसी प्रकार जैसे हरे (रंग के काँच से युक्त) चश्मे को लगाये हुए बच्चे के द्वारा गृहीत हो रहा पट अपनी आकृति आदि और अपने औपाधिक हरितत्व आदि दोनों के समान रूप से सत्य होने के ज्ञानपूर्वक गृहीत अर्थात् प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि उस बच्चे को पट का ग्रहण अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान पट की आकृति और उसकी हरीतिमा के सत्य होने के ज्ञानपूर्वक ही होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भेद अर्थात् अन्तर प्रतीति में ही होता है, स्वरूप में नहीं। अतः प्रपञ्च के ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण, श्रुति की शरण लेने वाले (अर्थात् वेदों में आस्था रखने वाले) आस्तिकों को प्रपञ्च की सत्यता स्वीकार करनी चाहिए।

उत्पत्ति, विनाश, कुत्सितत्व और भेद आदि धर्म, जो प्रपञ्च में प्रतीत होते हैं, मायिक हैं, ऐसा बुद्धिमानों को ध्यान रखना चाहिए।

भगवान् की प्रतिमा आदि के विषय में सत्यत्व और मायिकत्व का प्रकार घटपटादि अन्य प्रापञ्चिक पदार्थों से भिन्न है। भक्तिरहित व्यक्ति जब भगवान् की मूर्ति को देखता है तो माया उसकी बुद्धि में विषयता उत्पन्न कर देती है। भगवान् की मूर्ति में भगवान् के गुणों के

भगवन्मूर्तौ विषयतां प्रक्षिपति, तत्र भगवद्गुणानामभिव्यक्ततया मायायाः प्रक्षेपसामर्थ्याभावात्; किन्तु तादृग्-द्रष्टुः बुद्धौ आवरणस्य विद्यमानत्वात् भगवन्मूर्तौ अन्यथा भानम्। वस्तुतस्तु तत्र भगवत्त्वम् निर्दुष्टमेव। अतएव,

"विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः[१]" इत्यादिवाक्यैः अन्यथा-बुद्धेर्निन्दितत्वं श्रूयते।

अभिव्यक्त होने के कारण माया में भगवन्मूर्ति पर विषयता को प्रक्षिप्त कर सकने की सामर्थ्य न होने से वह भगवान् की मूर्ति पर विषयता को प्रक्षिप्त नहीं कर पाती (और उसे भक्तिविरहित दर्शक की बुद्धि में ही प्रक्षिप्त या उत्पन्न कर देती है)। किन्तु उस प्रकार के द्रष्टा (अर्थात् मूर्ति का दर्शन करने वाले भक्तिविरहित व्यक्ति) की बुद्धि में आवरण के विद्यमान होने के कारण, उसे भगवान् की मूर्ति में अन्यथा प्रतीति (अर्थात् भगवत्ता के अभावपूर्वक प्रतिमा मात्र का ज्ञान या उपलब्धि) होती है। वस्तुतः तो मूर्ति में भगवत्त्व विद्यमान ही है (अर्थात् मूर्ति भगवान् का निर्विकार स्वरूप ही है), इसीलिये 'कलियुग के दोषों या पापों को नष्ट करने वाले विष्णु या वैष्णवों के चरणोदक को साधारण जल मात्र समझना' इत्यादि वाक्यों में अन्यथा-बुद्धि की निन्दा की गयी है।

---

१. पूरा पद्य अधोलिखित है,

अर्चाविष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः
विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः।
शुद्धे तन्नाममन्त्रे पुरुकलुषहरे शब्दसामान्यबुद्धिः
विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी सः॥

देखिये, शूद्रकमलाकर, पृष्ठ ४८–४९।

"शिलाबुद्धिर्न कार्या च तत्र नारद ! कर्हिचित् ।
ज्ञानानन्दात्मको विष्णुर्यत्र तिष्ठत्यचिन्त्यकृत् ॥"

इत्यादिवचोभिः तत्र भगवदावेशकथनात् प्रपञ्चवैलक्षण्यम् अङ्गीकार्यम्;

"मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्" (भाग० ११।११।३४) इत्येकादशवाक्यात्, "पूजनं प्रतिमायां तु उत्तमं परिकीर्तितम्" इति कालनिर्णयदीपिकास्थविष्णुधर्मवाक्याच्च ।

निबन्धे च,

"तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम् ॥"

(सर्वनिर्णयप्र० का०, २२८,) इत्यस्य व्याख्याने, "वस्तु-

'हे नारद ! जिसमें अचिन्त्य कर्मों के कर्ता चिदानन्दात्मक विष्णु स्थित हैं उस भगवन्मूर्ति को कभी भी (साधारण प्रस्तर या) शिला (मात्र) न समझना चाहिए,' इत्यादि वाक्यों में, मूर्ति में भगवान् के आवेश का प्रतिपादन होने से भगवन्मूर्ति को प्रपञ्च (के अन्य घट-पटादि पदार्थों) से विशिष्ट मान कर उसका जगत् से वैलक्षण्य स्वीकार करना चाहिए। भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के, 'मेरे लिङ्ग (अर्थात् प्रतीक) और मेरे भक्तों का दर्शन, स्पर्श और अर्चन' (भाग० ११।११।३४) इत्यादि भगवद्वचनों तथा विष्णुधर्म के कालनिर्णय-दीपिका में मिलने वाले 'प्रतिमा में भगवत्पूजन करना उत्तम कहा गया है' इत्यादि वाक्यों से भी भगवान् की मूर्तियों के (प्रपञ्च के घट-पटादि पदार्थों से) विलक्षण होने के उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

वल्लभाचार्य के, तत्त्वदीपनिबन्ध के सर्वनिर्णयप्रकरण की, 'पूर्वोक्त कारिका में उल्लिखित प्रकार के गुरु के अभाव में, स्वयं किसी स्थान में भगवान् हरि की मूर्ति बना कर उसकी सदा सेवा करनी चाहिए। मूर्ति में भगवान् मूर्तिरूप से ही स्वरूपतः स्थित हैं' (सर्वनिर्णयप्र० का० २२८), इस कारिका की स्वोपज्ञ प्रकाश व्याख्या में, 'वस्तु का

विचारे सर्वस्यापि भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्त्वयम्। एनमुद्धरिष्यामि इति, तदा मृदादेः प्रादुर्भूत" (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २२८) इत्यादिना प्रपञ्चवैलक्षण्यस्य उपपादितत्वाच्च। अत एव महता प्रबन्धेन मूर्तिपूजनं श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धे भगवता श्रीमदुद्धवं प्रति उक्तम् इति दिक्।

एवमेव यमुनागङ्गादिजलेषु तुलसीगोपीचन्दनादिषु तादृशभक्तेषु साधारणवस्तुवैशिष्ट्यम् आप्तवाक्यबलेनैव आदरणीयम्, तत्तत्सेवकैस्तत्र तत्रोद्धृत्युपयोगिधर्माणामुपलभ्यमानत्वात्। अत एव भगवन्मूर्त्यादिसम्बन्धाद् बहूनां भगवत्प्राप्तिः पुराणादौ स्मर्यते।

विचार करें तो सभी पदार्थ भगवद्रूप हैं, फिर भी मूर्ति में वैशिष्ट्य यह है कि भगवान् 'इसका उद्धार करूँगा' इस प्रकार के सङ्कल्पपूर्वक मृदादि से प्रादुर्भूत होते हैं" (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २२८) इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवन्मूर्ति के प्रापञ्चिक पदार्थों से विलक्षण होने का प्रतिपादन करने से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। इसीलिये श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में भगवान् ने उद्धव को विस्तार से मूर्तिपूजन का उपदेश दिया है। अतः इस विषय में इतना ही लिख कर विरत होते हैं।

इसी प्रकार यमुना और गङ्गा आदिके जल, तुलसी (पत्र और माला), गोपीचन्दन आदि तथा भगवद्भक्तों के (भी) साधारण प्रापञ्चिक पदार्थों से विशिष्ट और विलक्षण होनेके सिद्धान्त को आप्तवाक्यों के बल से ही स्वीकार कर समादृत करना चाहिए क्योंकि शास्त्रों में अनेक स्थलों पर उन (भगवन्मूर्ति, यमुनाजल, गोपीचन्दन आदि) का सेवन करने वालों में जीव के उद्धार के लिये उपयोगी धर्मों के पाये जाने का उल्लेख मिलता है। इसीलिये पुराणादि में भगवन्मूर्ति आदि के सम्बन्ध से अनेक लोगों के भगवान् को प्राप्त करने की बातें कही गयी हैं।

वाचनिके शास्त्रे वाचनिकी एव व्यवस्था इति न शुष्कतर्कैर्भ्रमितव्यम्, इत्यलं लेखेन ।

ननु, सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वे सर्वान्तःपातिनो देहस्यापि तथात्वेन तत्र जायमानाया आत्मबुद्धेः प्रमात्वापातः । न च इष्टापत्तिः, देहात्मबुद्धेः श्रीमद्भागवतादौ निन्दित्वात्, इति चेत्; सत्यम्, अजातब्रह्मज्ञानस्य देहं विकारवत्त्वेन पश्यतो मायामोहवशाज्जाताया देहात्मबुद्धेरेव सर्वशास्त्रेषु निन्दा ।

शब्द प्रमाण पर आधृत वैदिक शास्त्र में सारे निर्णय श्रुतिस्मृतिवाक्यों के आधार पर ही किये जाते हैं*। अतः शुष्क (अर्थात् जो वेदानुसारी नहीं हैं, ऐसे) तर्कों से भ्रमित नहीं होना चाहिए। इसीलिये इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं।

*आचार्य वल्लभ ने शास्त्रार्थप्रकरण के प्रकाश में 'वैदिके शास्त्रे वाचनिकी एव व्यवस्था' (पृष्ठ १६०) तथा 'अलौकिकेषु धर्मेषु प्रमाणमेवानुसर्तव्यं न तु लौकिकी युक्तिः' (पृष्ठ १६५) इत्यादि कह कर वैदिक शास्त्र के सिद्धान्तनिर्धारण में शब्द प्रमाण की सर्वातिशायिता का उपपादन किया है।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सभी पदार्थों के ब्रह्मात्मक होने (की बात स्वीकार कर लेने) पर, देह के भी 'सर्व' अर्थात् उन सभी पदार्थों के ही अन्तर्गत आने के कारण ब्रह्मात्मक होनेसे, उसमें होने वाली आत्मबुद्धि अर्थात् देहात्मबुद्धि को प्रमा अर्थात् प्रामाणिक और सत्य मानने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। सिद्धान्ती यह भी नहीं कह सकता कि उसे देहात्मबुद्धि को प्रमा मानना इष्ट या स्वीकार है क्योंकि श्रीमद्भागवत आदि में देहात्मबुद्धि की निन्दा की गयी है। पूर्वपक्षी के उपर्युक्त कथन के सम्बन्ध में सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी का यह कहना सत्य है कि भागवतादि में देहात्मबुद्धि की निन्दा की गयी है, किन्तु यह अवधेय है कि जिन्हें ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है और जो देह को विकारशील रूपमें

सर्वत्र ब्रह्मत्वेन पश्यतः स्वदेहेऽपि तथा भानाद् भवन्ती आत्मबुद्धिः प्रमारूपैवं; तथाह भगवान् भाष्यकारः, '*आत्मकृतेः*' (ब्रह्मसूत्र १।४।२६) इत्यत्र । देहात्मबुद्धिस्तु सत्यां विकारबुद्धौ दोष इति ।

ननु, "*त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः*" (भाग० १०।५९।३०) इत्यादिवाक्यानां का गतिः, इति चेत्; अहन्ता-ममतात्मकस्य संसारस्य मिथ्याभूतस्य एतादृशवाक्यविषयत्वम् इति

ही ग्रहण करते हैं उन लोगों को मायामोहवश होने वाली देहात्मबुद्धि की ही सारे शास्त्रों में निन्दा की गयी है; तथा जिसे सर्वत्र ब्रह्म की ही अनुभूति होती है उस ब्रह्मज्ञानी को देह में भी ब्रह्म की ही प्रतीति होगी और फलस्वरूप उसे भी देह में आत्मबुद्धि होगी ही, किन्तु उसकी यह देहात्मबुद्धि, जैसा कि भगवान् भाष्यकार श्रीवल्लभाचार्य ने 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्रह्मसूत्र १।४।२६) इस सूत्र के अणुभाष्य में कहा अर्थात् प्रतिपादित किया है, प्रमारूप ही है। तात्पर्य यह है कि देहात्मबुद्धि दोष उसी दशा में होती है जब देह में विकारबुद्धि हो अर्थात् व्यक्ति देह को विकारशील और नश्वर समझते हुए भी आत्मा समझे।

यदि पूर्वपक्षी यह प्रश्न करे कि जगत् को सत्य मान लेने पर, श्रीमद्भागवतादि के, 'हे भगवन् ! अद्वितीय (अर्थात् अद्वयतत्त्वरूप) आप में इस चराचर जगत् का भ्रम होता है' (भाग० १०।५९।३०) इत्यादि वाक्यों, (जिनमें चराचर जगत् को अद्वय भगवत्तत्त्व में होने वाला भ्रम मात्र अर्थात् भ्रमात्मक बताया गया है,) की क्या गति होगी अर्थात् उनकी क्या उपपत्ति या व्याख्या होगी तो सिद्धान्ती का उत्तर यह होगा कि उपर्युक्त (भाग० १०।५९।३०) प्रकार के वाक्यों का विषय (जगत् नहीं अपितु) अहन्ताममतात्मक संसार है जो मिथ्याभूत है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार जगत् ब्रह्मात्मक है

बोद्धव्यम् । तथा च, प्रपञ्चो ब्रह्मात्मकः, संसारस्तु अहन्ता-ममतात्मको मिथ्याभूत एव । एतच्च सुष्ठूपपादितं निबन्धादिषु इति विशेषजिज्ञासायां ततोऽवधेयम् इति दिक् ॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे प्रपञ्चविवेकः सम्पूर्णः ॥ १ ॥

किन्तु संसार अहन्ताममतात्मक है और मिथ्या ही है । इस सिद्धान्त का तत्त्वार्थदीपनिबन्ध आदि कृतियों में सम्यक् प्रतिपादन किया गया है, अतः विशेष जिज्ञासा होने पर इसे उन्हीं ग्रन्थों से जानना चाहिए ॥

श्रीगोवर्द्धनधर, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविठ्ठलनाथ के चरणों के अनुगामी (अथवा अनुचरों के) सेवक लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध बालकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित प्रमेयरत्नार्णव का प्रपञ्चविवेक नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

जीवविवेकः

(द्वितीयोऽध्यायः)

अथ जीवस्वरूपं विचार्यते। तत्र *'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'* (छान्दो० उप० ६।८।७), *'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'* (मुण्ड उप० ३।१।९), *'ममैवांशो जीवलोके'* (गीता १५।७), *'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्'* (ब्रह्मसूत्र २।३।२१), *'न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि'* (भाग०४।२८।६२) इति श्रुति-गीताव्याससूत्रसमाधिभाषावाक्यैः ब्रह्माभिन्नोऽणुर्ब्रह्मांशो जीव इति राद्धान्तः।

जीव-विवेक

(द्वितीय अध्याय)

प्रपञ्च के स्वरूप का निरूपण करने के बाद अब जीव के स्वरूप का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। जीव के सम्बन्ध में वैदिक ब्रह्मवाद का सिद्धान्त (अर्थात् सिद्धान्ती का मत) यह है कि जीव ब्रह्म से अभिन्न, अणुपरिमाण तथा ब्रह्म का अंश है। इस सिद्धान्त की सिद्धि श्रुति, श्रीमद्भगवद्गीता, व्याससूत्र और श्रीमद्भागवत—जो व्यास की समाधि-भाषा है—के अधोलिखित वाक्यों से होती है। 'हे श्वेतकेतु! तुम वह हो' (छान्दो० उप० ६ । ८ । ७), 'यह अणु आत्मतत्त्व चित्त के द्वारा जानने योग्य है' (मुण्ड० उप० ३ । १ । ९), 'मेरा ही अंश जीवलोक में' (गीता १५ । ७), "पूर्वपक्षी का यह कहना ठीक नहीं है कि 'स वा एष महानज आत्मा' (बृह० उप० ४ । ४ । २२) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में आत्मा के अणुत्व के विपरीत व्यापकत्व का प्रतिपादन

तस्य च अवस्थात्रयम्, शुद्ध-संसारि-मुक्तभेदात्। तथा हि; कारणभूतादक्षरब्रह्मणः सकाशाद्, *'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति'* (बृह० उप० २।१।२०) इति श्रुतेः, सच्चिदानन्दात्मकोऽणुरंशो निःसरति। व्युच्चरणानन्तरं कारणरूपाक्षरगतस्य, *'विशुद्धसत्त्वं तव धाम[1] शान्तम्'* (भाग १०।२७।४)

मिलने से सिद्ध होता है कि आत्मा अणु नहीं है, क्यों कि उपर्युक्त श्रुतिवाक्य परब्रह्म के अधिकार में आया है (अर्थात् परब्रह्म के निरूपण के सन्दर्भ में ब्रह्म के व्यापकत्व के प्रतिपादन के लिये कहा गया है, न कि जीव के). (ब्रह्मसूत्र २ । ३ । २१)।

उपर्युक्त लक्षण वाले जीव की तीन अवस्थायें होती हैं जिनके आधार पर जीव के शुद्ध, संसारी और मुक्त ये तीन भेद माने जाते हैं। जैसा कि 'जिस प्रकार अग्नि से छोटे छोटे स्फुलिङ्ग व्युच्चरित होते हैं अर्थात् चिनगारियाँ निकलती हैं' (बृह० उप० २ । १ । २०) इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है, कारणभूत अक्षर ब्रह्म से सच्चिदानन्दात्मक अणु अंश निःसृत होता है। व्युच्चरण के बाद, कारणरूप अक्षर में विद्यमान, भागवत के 'आपका धाम[1] (स्थान, तेज या स्वरूप) परम शान्त और विशुद्ध अप्राकृत सत्त्वमय है' (भाग०.१० । २७ । ४) इत्यादि वाक्यों

---

१. 'विशुद्धसत्त्वं तव धाम' इति। शुद्धं रजस्तमोभ्यामसंपृक्तं, विशेषेण शुद्धं सत्त्वेनाप्यसंपृक्तं तत् तव धाम स्थानं, 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्' (भाग० ४ । ३ । २३) इति, तत्र भगवानाविर्भवतीति वासुदेवः। किञ्च धाम तेजोऽपि सात्त्विकमेव, भगवत्तेजः सत्त्वमेव वा। किञ्च इदं सत्त्वं शुद्धसत्त्वान्तरेणाप्यमिश्रितं तज्जीवस्थं तरतमभावापन्नं भवति, अत इदं सत्त्वं परमकाष्ठापन्नमेव, तदाह शान्तम् इति। परमा शान्तिः सत्त्वोत्कर्षो, ज्ञानादयोऽवान्तरभेदा अल्पविक्षेपरूपाः, अन्यथा कथं बोधयेत्, कथं वा त्यजेत्, कथं वा भजेत्? अतः शान्तिरेव परमकाष्ठा। (सुबोधिनी १० । २४ । ४)।

इत्यादिप्रमाणसिद्धस्य भगवद्धर्मात्मकस्य विशुद्धसत्त्वस्य अंशभूतेन तादृक्सत्त्वेन भगवदिच्छया प्रबलीकृतेन आनन्दांशस्तिरोभवति। तदा निरुपाधिकोऽणुरूपोऽक्षरांशः चित्प्रधानः तिरोहितानन्दो जीवशब्दवाच्यो भवति। तदुक्तं वेदस्तुतिसुबोधिन्याम्, 'स्वकृतपुरेष्वमीषु' (भाग० १०।८७।२०) इत्यत्र, 'जीवो नाम भगवतश्चिदंश' (सुबो० १०।८७।२०) इति। स्फुटीकृतश्च भाष्ये, 'आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो येन जीवभावः' (अणुभाष्यम् ३।२।५) इति। अत्र 'पूर्वमेव' इत्यस्य भगवदैश्वर्याद्यंशभूतैश्वर्यादितिरोभावात्पूर्वम् इत्यर्थः। निबन्धे च 'ततः साकारा भगवद्रूपा अपि उच्चनीचभावेच्छया निर्गता इति निरा-

---

से सिद्ध होने वाले भगवद्धर्मात्मक विशुद्ध सत्त्व के अंशभूत और भगवदिच्छा से प्रबल हो गये विशुद्ध सत्त्व से आनन्दांश तिरोहित हो जाता है। तब निरुपाधिक, अणुरूप, चित्प्रधान और तिरोहित आनन्द वाला अक्षर ब्रह्म का अंश जीव शब्द का वाच्य हो जाता है, अर्थात् जीव कहा जाता है। इसी का प्रतिपादन वेदस्तुति के 'स्वकृतपुरेष्वमीषु' (अर्थात् अपने ही द्वारा निर्मित इन पुरों अर्थात् शरीरों में) (भाग० १०।८७।२०) इस श्लोक की सुबोधिनी टीका में, 'जीव भगवान् के चिदंश का नाम है' (सुबोधिनी १०।८७।२०) इत्यादि वाक्यों में किया गया है और अणुभाष्य के 'आनन्दांश तो पहले ही तिरोहित हो चुका होता है, जिसके कारण भगवदंश को जीवभाव प्राप्त होता है' (अणुभाष्यम् ३।२।५) इत्यादि वाक्यों में इसी सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है। अणुभाष्य के इस वाक्य में आये 'पूर्वमेव' (अर्थात् पहले ही) इस पद का अर्थ है 'भगवान् के ऐश्वर्य आदि के अंशभूत ऐश्वर्यादि के तिरोभाव से पहले ही'। तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थप्रकरण में भी 'तदनन्तर जीव साकार और भगवद्रूप होते हुए भी निराकार (अर्थात् तिरोहित आनन्द वाले या निरानन्द) हो गये क्योंकि वे ब्रह्म की उच्चनीचादि नाना रूपों में

कारा जाताः' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २७) इत्युक्तम् । इह आकार-शब्देनानानन्दाकार उच्यते 'आनन्दो ब्रह्मवादे आकारसमर्पकः' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ४४) इति तत्र निर्णयात्[1] ।

ननु, व्यापकाद् ब्रह्मणो व्युच्चरणं न सम्भवति इति चेत्, न । व्यापकत्वेऽपि विरुद्धधर्माश्रयतया, 'व्युच्चरन्ति' (बृह० उप० २।१।२०) इति श्रुतिसिद्धस्य व्युच्चरणस्याङ्गीकारात् । एवं सति व्युच्चरणोपादानभूताद् ब्रह्मणो व्युच्चरतो ब्रह्मभूतस्य ब्रह्मभूते प्रदेशे ब्रह्मभूतं व्युच्चरणम्, इत्युक्ते न कश्चिद्दोषः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो० उप० ३।१४।१) इति श्रुतेः ।

प्रकट होने की इच्छा से (ब्रह्म से) निःसृत हुए थे' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २७) इत्यादि वाक्यों में यही बात कही गयी है । शास्त्रार्थप्रकरण की प्रकाश व्याख्या के इस वाक्य में आया 'आकार' शब्द 'आनन्दाकार' का बोधक है, क्योंकि आगे चल कर उसी ग्रन्थ में, 'ब्रह्मवाद (सिद्धान्त) में आनन्द को ही आकारसमर्पक माना गया है' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ४४) इत्यादि वाक्यों में आकार शब्द से आनन्दाकार के ही अभिप्रेत होने का निर्णय किया गया है[1] ।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक न होगा कि ब्रह्म के व्यापक होने के कारण उससे व्युचरण हो सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के व्यापक होने के बावजूद, उसके विरुद्धधर्माश्रय होने के कारण सिद्धान्ती 'व्युच्चरित होते हैं' (बृह० उप० २।१।२०) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होने वाले (ब्रह्म से) व्युचरण को स्वीकार करता है । इस प्रकार, 'व्युचरण के उपादानभूत ब्रह्म से व्युचरित होने वाले ब्रह्मभूत अंश का ब्रह्मभूत प्रदेश में ब्रह्मभूत व्युच्चरण होता है' यह कहने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि 'यह सब ब्रह्म है' (छान्दो० उप० ३।१४।१) ।

---

१. द्रष्टव्य शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या, पृष्ठ ९८,१३९-४० ।

तथैवोक्तं भागवते,

'यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा ।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ॥' (भा० १०।८५।४)

इति । अतो व्युच्चरणे सति आनन्दांशतिरोधानाज्जीवत्वम् । व्युच्चरणोत्तरम्, आनन्दांशतिरोधाने सति अविद्यासम्बन्धात् पूर्ववर्तिन्यामवस्थायां शुद्धजीव इति व्यवहारः, 'शुद्धसत्त्वव्यवस्थितिः' (लक्ष्मीतन्त्रम्) इति लक्ष्मीतन्त्रात् । जीवे शुद्धत्वं तु अविद्यासम्बन्धराहित्यम् ।

ततोऽस्मिञ्जीवरूपे भगवदंशे भगवदैश्वर्यादिषड्गुणांशभूतानाम् ऐश्वर्यादीनां हरीच्छया तिरोभावः । 'पराभिध्यानात्तु

भागवत के अधोलिखित श्लोक में इसी को इस प्रकार कहा गया है, 'जहाँ भी, जिस समय भी, जिसके द्वारा भी, जिससे भी, जिसके लिये भी और जिस रूप में भी जो कुछ भी होती है या रहता है, वह सब आप ही हैं (तात्पर्य यह है कि सभी कारकों और विभक्तियों के द्वारा वाच्य या बोध्य अर्थ आप ही हैं)। प्रकृति (के रूप में भोग्य), पुरुष (के रूप में भोक्ता) और (उन दोनों के नियामक) ईश्वर, साक्षाद् भगवान् आप ही हैं' (भाग० १०।८५।४)। अतः व्युच्चरण होने पर आनन्दांश का तिरोधान हो जाने से जीव संज्ञा होती है। व्युच्चरण के बाद आनन्दांश का तिरोधान हो जाने के बाद से अविद्या से सम्बन्ध होने के पहले तक की अवस्था में उसके लिये शुद्ध जीव शब्द का व्यवहार होता है, जैसा कि लक्ष्मीतन्त्र के 'शुद्धसत्त्वव्यवस्थितिः' इस वाक्य से सिद्ध होता है। जीव की शुद्धता से तात्पर्य उसके अविद्यासम्बन्धरहित होने से है।

तदनन्तर इस जीवरूप (अर्थात् जीव कहे जाने वाले) भगवदंश में भगवान् के ऐश्वर्यादि छः गुणों के अंशभूत ऐश्वर्यादि का भगवान् की इच्छा से तिरोभाव हो जाता है, जैसाकि ब्रह्मसूत्र के 'पर के अभिध्यान

तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' (ब्रह्मसूत्र ३।२।५) इति तत्त्वसूत्रात् ।

तदा तेषां मध्ये केषुचिज्जीवेषु रमणेच्छया विचारितस्य बहुभवनस्य सिद्धये उच्चभावेच्छाविषयीभूतं मुक्त्यधिकाररूपं सूक्ष्मसद्वासनाविशिष्टं दैवत्वं सम्पादयति भगवान् । तदैव जीवा मुक्तियोग्या भवन्ति, *'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'*,(गीता १६।५) इति भगवद्वाक्यात् ।

ततो हि अविद्यासम्बन्धाद्बन्धः, *'बन्धोऽस्याविद्ययानादिः'* (भाग० ११।११।४) इति वाक्यात् । अनादित्वं तु कार्यान्तरापेक्षया, अमरेष्वमरत्ववत्; तदुपपादितं विद्वन्मण्डने ।

(अर्थात् भगवान् की इच्छा) से जीव के ऐश्वर्यादि तिरोहित हो जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप जीव बन्धन और अज्ञान से ग्रस्त हो जाता है', (ब्रह्मसूत्र ३।२।५), इस कथन से सिद्ध होता है ।

तब भगवान्, रमण करने की इच्छा से सोचे गये अनेक हो जाने के सङ्कल्प की सिद्धि के लिये उन जीवों में से कुछ जीवों का दैवत्व सम्पादित कर देते हैं जो उच्चभाव की इच्छा का विषय, मुक्ति का अधिकाररूप और सूक्ष्म सद्वासना से विशिष्ट होता है । इस दैवीजीवत्व का सम्पादन हो जाने पर ही जीव मुक्ति के योग्य होते हैं, जैसा कि भगवान् के **'दैवीसम्पद् मोक्ष में उपकारक है'** (गीता १६।५) इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है ।

तदनन्तर अविद्या से सम्बन्ध होने पर जीव का बन्धन होता है जैसाकि 'अविद्या के द्वारा इस (अर्थात् जीव) का बन्धन होता है— जो अनादि है' (भाग० ११।११।४) इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है । भागवत के इस श्लोक में बन्धन को अनादि कहा गया है । यह अनादित्व सापेक्ष अर्थात् अन्य कार्यों की अपेक्षा में ही है, उसी प्रकार जैसे अमरों अर्थात् देवताओं में अमरत्व सापेक्ष है । इस सिद्धान्त का

ततो देहेन्द्रियान्तःकरणाध्यासाः स्वरूपविस्मृतिश्च इत्यविद्यायाः पञ्चपर्वाणि, तैर्बद्धो दुःखितः; 'अस्य जीवसंसार उच्यते' (शास्त्रार्थप्र० का० २३) इति निबन्धात् । 'उच्यते, न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३) ।

ततः सूक्ष्मस्थूलदेहसम्बन्धात् संसारिधर्मान् जन्ममरणादीन् अनुभवन् भगवत्कृपया सत्सङ्गादि लब्ध्वा पञ्चपर्वात्मिकां विद्यां प्राप्य परमानन्दलक्षणां मुक्तिं लभते;

प्रतिपादन विट्ठलनाथ ने विद्वन्मण्डन में विस्तार से किया है ।

तदनन्तर अर्थात् बन्धनग्रस्त होने के बाद जीव अविद्या के पाँच पर्वों देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास तथा स्वरूपविस्मृति द्वारा (अर्थात् पञ्चपर्वा अविद्या[1] द्वारा) बद्ध होकर दुःख भोगता है, जैसाकि तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के 'भगवान् की अविद्याशक्ति के कारण जीव के (अहन्ताममतात्मक) संसार की बात कही जाती है' (शास्त्रार्थप्र० का० २३) इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है । इस कारिका की व्याख्या करते हुए वल्लभाचार्य कहते हैं कि 'भगवान् की अविद्या नामक शक्ति के कारण जीव के संसार की बात कही जाती है । जीव का (अहन्ताममतात्मक) यह संसार वस्तुतः उत्पन्न नहीं होता क्योंकि यह अभिमत्यात्मक अर्थात् काल्पनिक है (और इसकी गणना भागवतादि शास्त्रों में असद्रूप या मिथ्या पदार्थों में की गयी है) ।' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३) ।

तदनन्तर सूक्ष्म और स्थूल शरीरों से सम्बद्ध होने के कारण संसारी जीव के धर्मों जन्म, मरण आदि का अनुभव करता हुआ, भगवान् की कृपा से सत्सङ्ग आदि पाकर, पञ्चपर्वात्मिका विद्या को प्राप्त कर परमानन्दरूप मुक्ति को प्राप्त करता है जैसा कि तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के

---

१. देखिये, शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या, पृष्ठ ८७, १०४–१०६ ।

'वैराग्यं सांख्य-योगौ च तपो भक्तिश्च केशवे।
पञ्चपर्वेति विद्येयं, यया विद्वान् हरिं विशेद् ॥'. (शास्त्रार्थप्र० का० ४५-४६) इति वाक्यात् । तत्र, यावत्पञ्चपर्वात्मिकां विद्यां प्राप्नुयात् तावत् संसारी इति व्यवहारः, तदग्रे मुक्त इति शास्त्रीयो व्यवहारः ।

स च मुक्तजीवो द्विविधः, जीवन्मुक्तो मुक्तश्च इति। तत्र सनकादयो गताविद्याः ते जीवन्मुक्ता उच्यन्ते। ये तु व्यापि-वैकुण्ठेतरभगवल्लोकवासिनस्ते मुक्ता इत्युच्यन्ते। ततः परमकृपया परममुक्तिः तत्र तु शुद्धब्रह्मत्वमेव इति निर्णयः।

इस वाक्य से ज्ञात होता है कि 'वैराग्य, साङ्ख्य, योग, तप और भगवान् कृष्ण की भक्ति, ये विद्या के पाँच पर्व हैं। इन पाँच पर्वों वाली विद्या द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने वाला ब्रह्म में प्रविष्ट होता है अर्थात् भगवान् को प्राप्त करता है[1]।' (शास्त्रार्थप्र० का० ४५-४६) । जब तक जीव उपर्युक्त पञ्चपर्वात्मिका विद्या की प्राप्ति नहीं कर लेता तब तक उसके लिये 'संसारी जीव' इस संज्ञा का व्यवहार होता है और पञ्चपर्वा विद्या की प्राप्ति कर लेने के बाद की स्थिति में जीव के लिये शास्त्रों में 'मुक्त जीव' इस संज्ञा का प्रयोग मिलता है।

उपर्युक्त मुक्त जीवों के दो प्रकार हैं, जीवन्मुक्त और मुक्त। अविद्या-विरहित (अर्थात् जिनकी अविद्या नष्ट हो गयी है ऐसे) सनक आदि जीवन्मुक्त कहे जाते हैं[2], तथा भगवान् के व्यापि वैकुण्ठ से भिन्न लोक में निवास करने वाले जीव मुक्त कहलाते हैं। तदनन्तर भगवान् की परमकृपा होने पर परममुक्ति होती है। जैसा कि शास्त्रों में निर्णीत किया गया है परममुक्ति में जीव शुद्ध ब्रह्म ही हो जाता है[3]।

---

१. द्रष्टव्य, शास्त्रार्थप्रकरण पृष्ठ १४४-१४८; ३१६-३१८।

२. द्रष्टव्य, शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या, पृष्ठ ४९-५१।

३. द्रष्टव्य, शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या, पृष्ठ ११२-११३।

केचिद् उत्तमा दैवास्तु सत्सङ्गादि प्राप्य मार्गरुचिजन्य-श्रवणादिसमुद्भूतस्वतन्त्रभक्त्या फलरूपया नित्यलीलायां प्रविशन्ति। स तेषां मोक्षः।

ये तु दैवजीवेभ्यो व्यतिरिक्ताः तेषां षड्गुणतिरोधानानन्तरम् अविद्यासम्बन्धे नीचभावेच्छाविषयीभूतं मुक्तिप्रतिबन्धकम् असद्वासनाविशिष्टम् आसुरत्वं सम्पादयति भगवान्, तदा ते आसुरजीवा उच्यन्ते। तेहि असद्वासनावशात् तादृशं स्थूलदेहं प्राप्य निन्दितकर्मनिरता सन्तो नीचयोनिगा भवन्ति। ते सर्वदा संसारिण एव,

---

कुछ उत्तम कोटि के दैवी जीव सत्सङ्ग आदि पाकर भक्तिमार्ग में हो जाने वाली रुचि के फलस्वरूप किये जाने वाले श्रवणादि से उत्पन्न होने वाली स्वतन्त्र भक्ति[1]—जो फलरूपा होती है—के द्वारा भगवान् की नित्यलीला में प्रवेश करते हैं। यह नित्यलीलाप्रवेश उन जीवोंका मोक्ष (कहा जाता) है।

दैवी जीवों से भिन्न जीवों के छः गुणों का तिरोधान[2] हो जाने के बाद अविद्या से सम्बद्ध हो जाने पर भगवान् उनका आसुरत्व—जो निम्नकोटि का होने की इच्छा का विषय, मुक्ति का प्रतिबन्धक और दुर्वासना से विशिष्ट होता है—सम्पादित कर देते हैं और तब वे जीव 'आसुर जीव' कहलाते हैं। ये आसुर जीव दुर्वासनाओं के वश में होने के कारण तदनुरूप स्थूल शरीर को प्राप्त कर, निन्दित कर्मों में लगे रहते हैं और नीच योनि में उत्पन्न होते हैं। ये सदा संसारी ही रहते हैं। इस मत की सिद्धि श्रीमद्भगवद्गीता के अधोलिखित वाक्यों से होती है।

---

१. द्रष्टव्य, सर्वनिर्णयप्रकरणका० १९६ तथा उस पर प्रकाश।

२. द्रष्टव्य, 'ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभाव। ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं पराधीनत्वम, वीर्यतिरोभावात्सर्वदु खसहनम्, यशस्तिरोभावात्सर्वहीनत्वम्, श्रीतिराभावाज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्वम्, ज्ञानतिरोभावा-

'क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ (गीता १६।१९).
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥' (गीता १६।२०)
इति वाक्यात् ।

तेषां तु तदैव अविद्याकार्यनाशो यदा भगवान् आत्मरतीच्छुर्भवति । तदा भगवान् अविद्याकार्यं संसारं सर्वत्र स्थितं स्वयमेव जीवकृतसाधनानपेक्षो नाशयति । तदा तेषाम् आसुराणां सर्वदोषाणां नाशात् पुनः शुद्धजीवत्वं भवति ।

तत्र सर्वत्र जडजीवात्मकप्रपञ्चे तिरोधानकृतवैजात्यनाशार्थं

'मैं अशुभ जीवों को सदा आसुरी योनियों में ही डालता हूँ । अर्जुन ! आसुरी योनि को प्राप्त हुए ये मूढ जीव एक जन्म के बाद दूसरा जन्म ग्रहण करते हैं और मुझ (परमात्मा) को प्राप्त न कर अधम गति को प्राप्त होते हैं' (गीता १६ । १९–२०) ।

उन आसुर जीवों के संसार—जो अविद्या का कार्य है—का नाश तभी होता है जब भगवान् आत्मरमण की इच्छा करते हैं । आत्मरमण की इच्छा होने पर भगवान् अविद्या के कार्यरूप संसार—जो सर्वत्र स्थित होता है—को, जीवों के द्वारा किये जाने वाले साधनानुष्ठान की अपेक्षा न रखते हुए, स्वयं ही नष्ट कर देते हैं । तब उन आसुर जीवों के सभी दोषों का नाश हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप वे पुनः शुद्ध (अर्थात् अविद्यासम्बन्धरहित) जीव हो जाते हैं ।

तिरोधान के द्वारा हुए वैजात्य या वैविध्य को नष्ट अर्थात् संहृत करने के लिये भगवान् जड-जीवात्मक निखिल प्रपञ्च में चित् और

देहादिष्वहंबुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानञ्चापस्मारसहितस्येव, वैराग्यतिरोभावाद्विषयासक्तिः । बन्धश्चतुर्णां कार्यं विपर्ययो द्वयोः । तिरोभावादेवैवं नान्यथा ।' (अणुभाष्यम् ३ । २ । ५) ।

चिदानन्दौ प्रकटयति तदा पूर्वोक्तजीवेष्वपि अंशद्वयप्राकट्यम्। ततः प्रपञ्चो भगवति लीयते, तदैक एव भगवान्। अक्षरस्यापि पुरुषोत्तमाभिन्नतया स्थितिः, *'योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्'* (भाग० २।९।३२) इति भगवद्वाक्यात्, *'भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः'* (भाग० १०।३।२५) इति श्रीदेवकीवाक्याच्च, सुबोधिन्यां तथैव व्याख्यातत्वाच्च; अतएव *'कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्व-*

आनन्द को प्रकट या आविर्भूत कर देते हैं और तब पूर्वोक्त जीवों में भी चिदंश और आनन्दांश प्रकट हो जाता है। इस दशा में प्रपञ्च भगवान् में लीन हो जाता है और भगवान् एकाकी ही अवस्थित रहते हैं। उस समय अक्षर की स्थिति भी पुरुषोत्तम से अभिन्न रूप में ही होती है (अर्थात् अक्षर पुरुषोत्तमचरणात्मक होता है)। इसकी सिद्धि भगवान् के 'जो बच रहे वह मैं हूँ' (भाग० २।९।३२) तथा देवकी के 'हे भगवन्! सभी संज्ञाओं वाले अर्थात् सर्वशब्दवाच्य' या सभी शब्दों के वाच्य 'एकमात्र आप ही बच रहते हैं' (भाग० १०। ३।२५) इत्यादि वाक्यों तथा सुबोधिनी में इन वाक्यों का इसी प्रकार का अर्थ[1] किये जाने से होती है। इसीलिये तत्त्वदीपनिबन्ध[2] में आचार्य वल्लभ ने कहा है कि 'भगवान् कृष्ण की आत्मरमण की इच्छा होने पर

---

१. 'योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् इति। उद्भूतस्य सर्वस्य तिरोभाव-प्रापणे यत्तिरोभूतं न भवति, तिरोभावस्तदाश्रयो वा, अंशभेदेन वा तदपि अहमस्मि इत्यनेन सर्वा एव क्रियाः तद्विषयश्चाहमिति ज्ञापयति। (सुबो-धिनी २।९।३२)। सर्वमेव व्यक्तमव्यक्ते प्रविष्टम्, तत्र प्रवेशे कालवेग एव हेतुः,...एवं स्वयमप्यक्षरे, अक्षरं पुरुषोत्तमे पुरुषोत्तमाभिन्ने वाक्षरे, तदा भवानेवैकः शिष्यते।.... अशेषसंज्ञः अशेषाः सर्वाः संज्ञा यस्य सर्वशब्दवाच्यो भगवानेक एवेति, एक एव शिष्यत इत्यर्थः।' (सुबोधिनी १०।३।२५)।

२. द्रष्टव्य, शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या, पृष्ठ ८४-८७।

सुखावहः' (शास्त्रार्थप्र० का० २४) इति निबन्धे उक्तम् ।

इदमत्र ज्ञेयम् । जीवा द्विविधाः; दैवाः, आसुराश्च । तत्र दैवा अपि द्विविधाः; मर्यादामार्गीयाः, पुष्टिमार्गीयाश्च । *'तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः'* (पुष्टिप्र० १२) इति पुष्टिप्रवाहमर्यादानिरूपणग्रन्थात् । भेदकस्तु बीजरूपो निरुपाधिको भावः । स च भगवता अविद्यासम्बन्धात् पूर्वं दैवत्वसम्पादनानन्तरं मर्यादामार्गीयजीवेभ्यो भेत्तुं विशेषानुग्रहेच्छया पुष्टिमार्गीयफलं प्रापयिष्यामि इत्येवम् । स तु उत्तरत्र *अधिकारविवेके* विवेचयिष्यते ।

मर्यादामार्गीया जीवास्तु ज्ञान-भक्ति-कर्मयोगादिभिः

सभी जीवों के लिये सुखदायक प्रपञ्चविलय अर्थात् इस जगत् का लय होता है' (शास्त्रार्थप्र० का० २४) ।

इस सन्दर्भ में यह जानने योग्य है । जीव दो प्रकार के होते हैं, दैव और आसुर । दैव जीव भी दो प्रकार के होते है, मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय । यह भेद पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा का निरूपण करने वाली वल्लभाचार्यकृत पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः नामक पुस्तक के 'अतः पुष्टिमार्गीय जीव अन्य (अर्थात् प्रवाहमार्गीय और मर्यादामार्गीय) जीवों से भिन्न ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है' (पुष्टिप्र० १२) इस कथन से सिद्ध होता है। उनका भेदक बीजरूप निरुपाधिक भाव है। वह भाव, भगवान् द्वारा, जीव के अविद्या से सम्बद्ध होने के पहले ही, उसका दैवत्व सम्पादित कर देने के बाद, मर्यादामार्गीय जीवोंसे उन्हें अर्थात् पुष्टिमार्गीय जीवों को भिन्न या व्यावृत्त करने के लिये विशेष अनुग्रह की इच्छा से किया गया, 'इन्हें पुष्टिमार्गीय फल की प्राप्ति कराऊँगा' इस प्रकार का सङ्कल्प ही है। इसका विस्तृत विवेचन आगे चल कर **पुष्टिभक्त्यधिकारविवेक** नामक पञ्चम अध्याय में किया जायेगा ।

मर्यादामार्गीय जीव सच्छास्त्र अर्थात् वैदिक शास्त्रों में प्रतिपादित

सच्छास्त्रप्रतिपादितैर्यथायथं मिलिता बहुविधा ज्ञेयाः। तेऽपि मुक्तौ अधिकारिणः। अतो मुक्तिः पुष्टिमार्गीयाणां मर्यादामार्गीयाणाञ्च, *'अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः'* (पुष्टिप्र० ११) इत्याचार्यवाक्यात्। परं तु मुक्तौ यो भेदः स उत्तरत्र प्रपञ्चयिष्यते।

ननु; इदं सर्वं जीवस्य अणुत्वे सम्भवेत्, तत्तु सर्वदेहव्यापिचैतन्योपलब्ध्यन्यथानुपपत्तिसिद्धेन व्यापकत्वेन बाधितम्, इति चेत्;

ज्ञान, भक्ति और कर्म आदि से समन्वित होने के आधार पर अनेक प्रकार के होते हैं। वे मर्यादामार्गीय जीव भी मुक्ति के अधिकारी हैं, अतः मुक्ति मर्यादामार्गीय और पुष्टि मार्गीय इन दोनों प्रकार के जीवों को प्राप्त होती है जैसा कि श्रीमद्वल्लभाचार्य के 'इसीलिये, अन्य दोनों (अर्थात् मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय जीव), प्रवाहमार्गीय जीवों—जिनका असाधारण धर्म भगवद्द्वेष है—से भिन्न हैं। मर्यादामार्गीय जीवों का जीवभाव मोक्ष (अर्थात् अक्षर प्राप्ति) से और पुष्टिमार्गीय जीवों का जीवभाव ('विशते तदनन्तरम्'—गीता १८। ५५ इत्यादि वाक्यों से सिद्ध) पुरुषोत्तम के स्वरूप में प्रवेश से निवृत्त हो जाता है अतः इन दोनों प्रकार के जीवों को सान्त कहा गया है' (पुष्टिप्र० ११) इस वाक्य से सिद्ध होता है। किन्तु इन दोनों प्रकार के जीवों की मुक्ति के स्वरूप में भेद है जिसका विस्तार से विवेचन बाद में किया जायेगा।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि यह सब अर्थात् ऊपर कही गयी सारी बातें तो जीव के अणुपरिमाण होने पर ही सम्भव हो सकती हैं, किन्तु जीव का अणुपरिमाण होना, सर्वदेहव्यापी चैतन्य की उपलब्धि के अन्यथा अनुपपन्न होने से सिद्ध होने वाले व्यापकत्व से बाधित है (तात्पर्य यह है कि जीव को अणुपरिमाण

न; *'अविरोधश्चन्दनवत्'* (ब्रह्मसूत्र २।३।२३) इति तत्त्वसूत्रे चन्दनदृष्टान्तेन अणुत्वेऽपि सर्वशरीरव्यापिचैतन्योपलब्धेः साधितत्वात् ।

ननु; चन्दनस्यैकदेशवर्तित्वं प्रत्यक्षेण गृहीत्वा, तच्छैत्यं सकलशरीरे लभमानः तद्बलेन एकदेशस्थस्यापि चन्दनस्य तादृक् सामर्थ्यं कल्पयति; जीवे तु शरीरैकदेशवर्तित्वस्य

मानने पर उसके चैतन्य के सारे शरीर में उपलब्ध होने की व्याख्या न हो सकेगी, उसकी उपपत्ति के लिये जीव को व्यापक मानना होगा और इससे जीव को अणुपरिमाण मानने के मत का बाध होगा), क्यों कि 'जीव के अणुपरिमाण होने और चैतन्य के सारे शरीर में व्याप्त होने में कोई विरोध नहीं है, चन्दन के समान (अर्थात् उसी प्रकार जैसे चन्दन के शरीर के एकदेश में स्थित रहते हुए भी सारे शरीर को शीतलता का सुख प्रदान करने में विरोध नहीं है)'[1] (ब्रह्मसूत्र २ । ३ । २३), इस तत्त्वसूत्र में चन्दन के दृष्टान्त द्वारा जीव के अणुपरिमाण होते हुए भी उसके चैतन्य के सारे शरीर में व्याप्त होने और सारे शरीर में उपलब्ध होने की सिद्धि की गयी है ।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक न होगा कि, 'चन्दन के एकदेश-वर्ती अर्थात् शरीर के एक भाग में लगे होने का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सारे शरीर में उसकी शीतलता की अनुभूति करने वाला व्यक्ति उस अनुभूति के बल से एक देश में स्थित चन्दन में भी सारे शरीर को शीतलता प्रदान करने की सामर्थ्य होने का अनुमान कर

---

१. 'अणुत्वे सर्वशरीरव्यापि चैतन्यं न घटत इति विरोधो न भवति, चन्दनवत्, यथा चन्दनमेकदेशस्थितं सर्वदेहसुखं करोति महातप्त-तैलस्थितं वा तापनिवृत्तिम् ।' (अणुभाष्यम् २ । ३ । २३) ।

प्रत्यक्षेण अनिर्द्धारात् दृष्टान्तवैषम्येण ताद्दशसामर्थ्यसिद्ध्य-भावात्, न पूर्वोक्तसमाहितिः, इति चेत्, न, प्रमाणवर्याभ्यः 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'[1] (बृह० उप० ४।३।७), "स वा एष आत्मा हृदि (छान्दो० उप० ८।३।३) 'हृदि ह्येष आत्मा'[2] (प्रश्नोप० ३।६) इत्यादिश्रुतिभ्यः

लेता है, किन्तु प्रत्यक्ष द्वारा जीव के शरीर के किसी एक देश या भाग में विद्यमान होने का निश्चय नहीं किया जा सकता अतः चन्दन का दृष्टान्त विषम होने से अनुपयुक्त है तथा उसके बल पर जीव के चैतन्य के सारे शरीर में व्याप्त होने के सामर्थ्य की सिद्धि नहीं की जा सकती और इसलिये पूर्वोक्त सूत्र (ब्रह्मसूत्र २ । ३ । २३) में दिया गया चन्दन के दृष्टान्त पर आधृत समाधान ठीक नहीं है,' क्योंकि प्रमाणमूर्धन्य वेद के 'आत्मा कौन सा है ? यह जो प्राणों में विज्ञानमय हृदय में स्थित ज्योतिः स्वरूप पुरुष है' (बृह० उप० ४ । ३ । ७), 'वह (अर्थात् 'एष आत्मापहतपाप्मा'—छान्दो० उप० ८ । १ । ५ आदि में उल्लिखित) यह आत्मा हृदय में (स्थित) है' (छान्दो० उप० ८ । ३ । ३), 'यह आत्मा हृदय में (स्थित) है' (प्रश्नोप० ३ । ६) इत्यादि वाक्यों से आत्मा (अर्थात् जीव) के

---

१. "प्राणेषु इति व्यतिरेकप्रदर्शनार्था सप्तमी..........प्राणेभ्यो व्यतिरिक्त इत्यर्थः.........हृदि तत्रैतत्स्यात्.........तेनायं हृद्यन्त-ज्योतिः।.......स एष पुरुषः स्वयमेव ज्योतिःस्वभावः य त्वं पृच्छसि 'कतम आत्मा ?' इति।" (बृह० उप० ४।३।७ पर शाङ्करभाष्य) देखिये, 'स वा एष महानज आत्मा विज्ञानमयः प्राणेषु य एषो-ऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिञ्छेते।' (बृह० उप० ४ । ४ । २२)।

२. 'हृदि ह्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयाकाश एव आत्मा आत्मना संयुक्तो लिङ्गात्मा।' (प्रश्नोप० ३।६ पर शाङ्करभाष्य)। द्रष्टव्य, 'स वा एष आत्मा हृदि, तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयम्

एकदेशस्थायित्वस्य निश्चयात्। एतदाह सूत्रकारः '*अवस्थिति-वैशेष्याद् इति चेत्; न, अभ्युपगमाद् हृदि हि*' (ब्रह्मसूत्र २।३।२४)।

किञ्च, '*यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद्गन्धो वाति; एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति*' (महाना० उप० ७।९; नारा० उप० ११) इति श्रुतेः, गन्धस्य द्रव्याधिकदेशसमवर्तित्वम्, एवं चैतन्य-

---

एक देश में स्थितिशील होने का निश्चय होता है। सूत्रकार ने इसे 'यह कहना ठीक न होगा कि अवस्थिति विशेष के कारण चन्दन की शीतलता के सारे शरीर में व्याप्त होने की बात भले ही मान ली जाये, जीव के चैतन्य के सारे शरीर में व्याप्त होने की बात नहीं मानी जा सकती, क्योंकि (श्रुति में) जीव के हृदय में स्थित होने की बात स्वीकार की गयी है' (ब्रह्मसूत्र २।३।२४) इस सूत्र में कहा है।

और 'जिस प्रकार पुष्पित वृक्ष की गन्ध दूर तक जाती है उसी प्रकार पुण्य या शुभ कर्म की सुगन्ध भी दूर तक फैल जाती है' (महाना० उप० ७।९; नारा० उप० ११) इस श्रुतिवाक्य से गन्ध के द्रव्य की अपेक्षा अधिक देश में समवर्ती अर्थात् विद्यमान होने या फैल

इति, तस्माद् हृदयम्, अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति' (छान्दो० उप० ८।३।३)। तथा, 'तस्यैतस्य हृदयस्यैतदेव निरुक्तं निर्वचनं नान्यत्। हृद्ययमात्मा वर्तत इति यस्मात् तस्माद् हृदयम्। हृदयनामनिर्वचनप्रसिद्ध्यापि स्वहृदय आत्मेत्य-वगन्तव्यमित्यभिप्रायः' (छान्दो० उप० ८।३।३ पर शाङ्करभाष्य)।

१. "चन्दने अवस्थितिवैशेष्यम् अनुपहतत्वचि सम्यक्तयावस्थानं तस्मात् त्वच एकत्वात् तत्र भवतु नाम, न तु प्रकृते तथा सम्भवति इति चेत्, न; अभ्युपगमात्, अभ्युपगम्यते जीवस्यापि स्थानविशेषः। हृदि हि हृदि जीवस्य स्थितिः। 'गुहां प्रविष्टौ......' (ब्रह्मसूत्र १।२।११) इति हि श्रुतिः।" (अणुभाष्यम् २।३।२४)।

गुणोऽपि अधिकदेशवर्ती।

जीवस्य शरीरैकदेश-हृदय-स्थायित्वेऽपि सर्वदेहे चैतन्योपलम्भो भवत्येव, तदाह सूत्रकृत्- 'व्यतिरेको गन्धवद्' (ब्रह्मसूत्र २।३।२६) इति[1]।

न च, 'चम्पकाद्यवयवानां सूक्ष्माणां दूरदेशे प्रसृतत्वात् तत्र गन्धोपलब्धिः सुवचा,' इति वाच्यम्; हिङ्ग्वादेरनेकचर्मपुटादिवेष्टितत्वेन अवयवनिर्गमनाभावेऽपि गन्धग्रहणात्।

जाने के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। इसी प्रकार जीव का चैतन्य गुण भी अधिकदेशवर्ती अर्थात् सर्वदेहव्यापी है।

जीव के शरीर के एकदेश- रूप हृदय में स्थित होते हुए भी उसके चैतन्य की उपलब्धि सारे शरीर में होती ही है। इसे सूत्रकार ने 'जीव का चैतन्य गुण गन्ध के समान द्रव्य की अपेक्षा अधिक देश में रहने वाला है' (ब्रह्मसूत्र २।३।२६) इस सूत्र में प्रतिपादित किया है।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक न होगा कि 'चम्पा आदि के पुष्प के (परागकण रूप) सूक्ष्म अवयव दूर तक फैल जाते हैं अतः उसकी सुगन्ध की उपलब्धि दूर तक होती है, ऐसा कहना ज्यादा ठीक होगा'; क्योंकि हिङ्गु (हींग) आदि के अनेक चर्मपुटों (कुप्पी) आदि में छिपाकर सँभालकर रखने से उसके अवयवों के बाहर न निकल सकने पर भी हींग आदि की गन्ध की उपलब्धि तो होती ही है (तात्पर्य यह है कि गन्ध के अवयवों से रहित देश में भी गन्ध की उपलब्धि होने से

---

१. द्रष्टव्य, शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या पृष्ठ १५७-१६०। देखिये, 'तथा च दर्शयति' (ब्रह्मसूत्र २।३।२७) पर अणुभाष्य, "हृदयायतनम् अणुपरिमाणत्वञ्चात्मनोऽभिधाय तस्यैव 'आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः' (छान्दो० उप० ८।८।१) इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति" (अणुभाष्यम् २।३।२७)।

लशुनस्पृशि करादौ बहुधा क्षालनेन अवयवाभावेऽपि गन्धानपायाच्च । एतच्च, सुष्ठूपपादितं प्रभुचरणैर्विद्वन्मण्डने[1] ।

न च, 'स वा एष महानज आत्मा" (बृह० उप० ४।४।२२) इति श्रुतेः व्यापकत्वम् इति वाच्यम् । 'नाणुरतच्छ्रुतेः इति चेत्, न, इतराधिकारात्[2]' (ब्रह्मसूत्र २।३।२१) इति तत्त्वसूत्रेण,

---

स्पष्ट है कि पूर्वपक्षी का उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं है)। जिस हाथ से लहसुन का स्पर्श कर लिया जाता है उसे कई बार धोने पर लहसुन के सूक्ष्म अवयवों के धुल जाने (और हाथ में विद्यमान न रह जाने) पर भी लहसुन की गन्ध हाथ से नहीं जाती है (अर्थात् हाथ में लहसुन के सूक्ष्म अवयवों की स्थिति न होते हुए भी गन्ध की उपलब्धि होने के कारण भी पूर्वपक्षी का उपर्युक्त कथन स्वीकार्य नहीं हो सकता)। विट्ठलनाथ ने विद्वन्मण्डन में इस विषय का सुन्दर विवेचन कर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक न होगा कि श्रुति के 'वह यह महान् अजन्मा आत्मा' (बृह० उप० ४।४।२२) इस वाक्य से जीव के व्यापकत्व की सिद्धि होती है क्योंकि "जीव को अणु नहीं माना जा सकता क्योंकि 'स वा एष महानज आत्मा' (बृह० उप० ४।४।२२), इस श्रुतिवाक्य से उसके अणुविपरीत अर्थात् व्यापक होने का निश्चय होता है, यह कहना ठीक न होगा क्योंकि उपर्युक्त श्रुतिवाक्य ब्रह्म के अधिकार में आता है अर्थात् उसका प्रतिपाद्य ब्रह्म है जीव नहीं"

---

१. देखिये, विद्वन्मण्डनम् पृष्ठ १८६–१८९, तथा 'गुणाद्वा लोकवत्' (ब्रह्मसूत्र २।३।२५) पर अणुभाष्य ।

२. "जीवो नाणुः भवितुमर्हति । कुतः ? अतच्छ्रुतेः, अणुत्वविपरीतव्यापकत्वश्रुतेः 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः' (बृह० उप० ४।४।२२)। इति चेन्न, इतराधिकारात् । इतरः पर ब्रह्म, तस्याधिकारे 'महानज' (बृह० उप० ४।४।२२) इति वाक्यम् । प्रकरणेन

ब्रह्म अधिकृत्य इयं श्रुतिः प्रवृत्ता इति प्रदर्श्य अणुत्वस्यैव साधितत्वात्।

ननु, *'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः'* (गीता० २।२४) इति भगवद्वाक्याद् व्यापकत्वम्'; इति चेत्; न, *'ब्रह्म-विद् ब्रह्म एव भवति'* (मुण्ड० उप० ३।२।९) इति श्रुतेः ब्रह्मभावे सति भगवद्धर्मावेशे जायमानस्य व्यापकत्वस्य भगवद्वाक्य-विषयत्वात्। तदुक्तं निबन्धे, *'व्यापकत्वश्रुतिस्त्वस्य भगवत्त्वेन युज्यते'* (शास्त्रार्थप्र० का० ५२) इति।

(ब्रह्मसूत्र २।३।२१) इस तत्त्वसूत्र के द्वारा 'स वा एष महानज आत्मा' (वृह० उप० ४।४।२२) इत्यादि श्रुति के ब्रह्मविषयक होने का प्रतिपादन कर जीव के अणुपरिमाण होने की सिद्धि की गयी है।

पूर्वपक्षी यह कहना भी ठीक न होगा कि भगवान् के 'आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थाणु अचल और सनातन है' (गीता २।२४) इस वाक्य के प्रामाण्य से जीव को व्यापक मान लेना चाहिए, क्योंकि भगवान् के उपर्युक्त गीतावाक्य का विषय वह व्यापकत्व है जो 'ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' (मुण्ड० उ० ३।२।९) इस श्रुति से सिद्ध होने वाले ब्रह्मभाव के हो जाने पर जीव में भगवान् के धर्मों का आवेश हो जाने पर जीव में उत्पन्न (हो गया कहा जाता है अर्थात् जीव में उपचरित) होता है। यही बात तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थप्रकरण में इस प्रकार कही गयी है कि 'जीव की व्यापकता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ जीव में भगवदावेश होने पर भगवान् के व्यापकत्वादि धर्मों के जीव में उपचरित होने के कारण सार्थक हैं[१]' (शास्त्रार्थप्र०

शब्दाश्च नियम्यन्ते। अन्यपरा अपि योगेन ब्रह्मपरा भविष्यन्ति।" (अणुभाष्यम् २।३।२१)।

१. तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यापकत्वादि भगद्धर्मों के जीव में होने की बात कही जाती है फिर भी जीव वस्तुतः व्यापक नहीं है। इस

तर्हि व्यापकतायामणुत्वस्य निवृत्तेः अवास्तवम् अणुत्वम् इति चेत्, न; ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वेन अणुरूपेऽपि व्यापकताया अदोषात्। एतदुपपादितं निबन्धे, '*अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति, यथा कृष्णो यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदाधारो भवति*' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ५४) इत्यन्तेन।

अतो जीवोऽणुरेव, तस्य चैतन्याख्यो गुणः सर्वदेहं व्याप्नोति। तदुक्तं नारदपञ्चरात्रे लक्ष्मीतन्त्रे त्रयोदशाध्याये—

'चैतन्यमस्य धर्मो हि प्रभा भानोरिवामला।
तया स्फुरति जीवोऽसौ स्वत एवानुरूपया॥' इति।

का० ५३)।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक नहीं है कि जीव के ब्रह्म हो जाने पर व्यापक हो जाने से उसके अणुत्व की निवृत्ति हो जायेगी अतः उसके अणुत्व को अवास्तविक मानना चाहिए क्योंकि ब्रह्म के विरुद्धधर्माश्रय होने के कारण अणुरूप होते हुए भी व्यापक होने में कोई दोष नहीं है। तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थप्रकरणमें इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ५४वीं कारिका की प्रकाश व्याख्या के 'ब्रह्म अणु होते हुए भी व्यापक है, जिस प्रकार कृष्ण यशोदा की गोद में रहते हुए भी निखिल जगत् के आधार हैं'[1] (शास्त्रार्थप्र० प्र० ५४) इस वाक्य तक किया गया है।

अतः जीव अणु ही है (व्यापक नहीं) और उसका चैतन्य नामक गुण सारी देह में व्याप्त रहता है, जैसा कि नारदपञ्चरात्र में लक्ष्मीतन्त्र के तेरहवें अध्याय के अधोलिखित श्लोक में कहा गया है, 'चैतन्य

विषय के विवेचन के लिये देखें शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या पृष्ठ १६२-१६३।

१. इस विषय के विशेष विवेचन के लिये शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या के पृष्ठ १६४-१६५ देखें।

'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति' (बृह० उप० २।१।२०) इति श्रुतिः स्पष्टमेवांशत्वं ब्रूते। सूत्रकारोऽपि 'अंशो नानाव्यपदेशात् अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके' (ब्रह्मसूत्र २।३।४३) इत्यनेन अंशतां स्फुटं निरणैषीद्, इति पूर्वोक्तं निखिलमनवद्यम् ॥

इसका धर्म है, जिस प्रकार निर्मल प्रभा सूर्य का[1]। जीव इस प्रभारूप चैतन्य से स्वतः स्फुरित होता है'।

श्रुति का 'जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं' (बृह० उप० २।१।२०) यह वाक्य स्पष्ट रूप से जीव के ब्रह्म का अंश होने का प्रतिपादन करता है। ब्रह्मसूत्रकार व्यास ने भी, 'जीव ब्रह्म का अंश है क्योंकि श्रुति अनेक जीवों के ब्रह्म से व्युच्चरित होने का प्रतिपादन करती है। कुछ वैदिक 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मेमे कितवा उत' (आथर्वणिक ब्रह्मसूक्त) इस श्रुति का अध्ययन अन्यथा अर्थात् प्रकारान्तर से भी करते हैं'[2] (ब्रह्मसूत्र २।३।४३) इस सूत्र में स्पष्टतः जीव

---

१. जीव के चैतन्यरूप और ज्योतिःपदवाच्य होने के विशेष विवेचन के लिये देखें, शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या, पृष्ठ १५७-१७२।

२. इस सूत्र का अर्थ करते हुए वल्लभाचार्य लिखते हैं, "जीवो नाम ब्रह्मणः अंशः। कुतः ? नानाव्यपदेशात्, सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति कपूयचरणा रमणीयचरणा इति च।······ब्रह्मवादेऽशपक्ष एव। ननु, अंशत्वे सजातीयत्वम् आयाति। श्रुत्यन्तरे पुनः 'ब्रह्म दाशा ब्रह्मेमे कितवा उत' (आथर्वणिक ब्रह्मसूक्ते) अत्र सर्वस्यापि ब्रह्मविज्ञानेन विज्ञानप्रतिज्ञानात् दाशादीनामपि ब्रह्मत्वं प्रतीयते, तत्कार्यत्व एव स्याद् इति चेत् ? न। अन्यथा प्रकारान्तरेणापि एके शाखिनो दाशकितवादित्वमधीयते शरीरत्वेनांशत्वेन च। स्वरूपतः कार्याभावेऽपि प्रकारभेदेन कार्यत्वात्। तथा च न साजात्यम्, आनन्दांशस्य तिरोहितत्वात्। धर्मान्तरेण तु साजात्यमिष्टमेव।" (अणुभाष्यम् २।३।४३)।

इति श्रीगोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे जीवविवेकः समाप्तिमगात् ॥ २ ॥

के अंश होने का ही निर्णय किया है। अतः ऊपर जीव के स्वरूप के विवेचन में जो कुछ कहा गया है उसमें कोई दोष नहीं है।

श्रीगोवर्द्धनधर, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ के चरणों के अनुगामी (अथवा अनुचरों के) सेवक, लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध बालकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित प्रमेयरत्नार्णव का जीवविवेक नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

मूलरूपविवेकः

(तृतीयोऽध्यायः)

अथ मूलरूपं विचार्यते। तत्र,

'कृषिर्भूवाचकः प्रोक्तो, णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥'

'ॐ तत्सत्, परं ब्रह्म कृष्णात्मको नित्यानन्दैकस्वरूपः सोऽहम्, ॐ तद्गोपाल एव परं सत्यमबाधितम्' (गोपालोत्तरता० १) इति, 'परं ब्रह्मैतद् यो ध्यायति, रसति, भजति' (गोपालपूर्वता० १) इत्यादिश्रुतेः, 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय!' (गीता ७।७), 'अक्षरादपि चोत्तमः' (गीता १५।१८) इति

मूलरूप-विवेक

(तृतीय अध्याय)

अब मूल रूप का विचार किया जाता है। " 'कृष्ण' पद का घटक 'कृष्' सत्ता का बोधक कहा गया है और णकार निर्वृति अर्थात् शान्ति और आनन्द का वाचक है। इन दोनों के संयोग से निष्पन्न 'कृष्ण' शब्द से सदानन्दरूप परब्रह्म का अभिधान किया जाता है;" 'ॐ वह सत् तत्त्व पर ब्रह्म कृष्णात्मक और नित्यानन्दैकस्वरूप है। मैं वह (अर्थात् उस तत्त्वसे अभिन्न) हूँ। ॐ वह अबाधित परम सत्य रूप तत्त्व गोपाल ही हैं' (गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद् १); 'जो इस पर ब्रह्म का ध्यान करता है, इसका रस लेता है, इसका भजन करता है,' (गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् १) इत्यादि श्रुतिवाक्यों तथा 'हे धनञ्जय! मुझसे परतर कोई अन्य तत्त्व नहीं है' (गीता ७।७) एवं 'मैं अक्षर तत्त्व से भी उत्तम हूँ' (गीता १५।१८) आदि भगवद्वाक्यों से यह

भगवद्वाक्याच्च श्रीकृष्णः परं ब्रह्म इति निष्कर्षः। अतएव 'परं ब्रह्म तु कृष्णो हि' (सिद्धान्तमुक्तावली ३) इति मुक्तावल्यां श्रीमदाचार्यैरुक्तम्।

स च '*अपाणिपादो जवनो ग्रहीता*' (श्वेता० उप० ३।१९), '*अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः*' (मुण्ड० उप० २।१।२) इत्यादिश्रुतेः प्राकृतपाणिपादादिरहितः सच्चिदानन्दविग्रहः।

'*आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्*',

'*सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे।*
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे॥' (गोपालपूर्वता० मंगलश्लोक २), '*सर्वतः पाणिपादं तत्*' (श्वेता० उप० ३।१६) इत्यादि श्रुतेः '*आनन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम्*', '*आनन्दमात्रकर-*

निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही पर ब्रह्म हैं। इसीलिये महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्य ने अपनी कृति सिद्धान्तमुक्तावली में कहा है कि 'कृष्ण निश्चय ही परब्रह्म हैं' (सिद्धान्तमुक्तावली ३)।

'पाणि और पाद से विरहित होते हुए भी वेगवान् या तीव्रगामी और ग्रहण करने वाला' (श्वेता० उप० ३।१९) तथा 'अप्राण, मनोहीन एवं विशुद्ध' (मुण्ड० उप० २।१।२) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से उस श्रीकृष्णात्मक पर ब्रह्म के प्राकृत पाणिपादादिरहित और सच्चिदानन्दविग्रह होने का बोध होता है। श्रुति के, 'आनन्द ब्रह्म का रूप है,' 'सच्चिदानन्दरूप, अक्लिष्टकर्मा, उपनिषद्वेद्य और बुद्धि के साक्षी गुरु श्रीकृष्ण को नमस्कार' (गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्, मङ्गल श्लोक २), 'वह तत्त्व सभी ओर हाथ-पैर वाला है' (श्वेता० उ० ३।१६) इत्यादि वाक्यों, पुराण के 'आनन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम्' आदि वाक्यों एवं तन्त्र के 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः[1]' (अर्थात् भगवान् के हाथ,

---

१. निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो नि श्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा॥

पादमुखोदरादिः' इत्यादि पुराण-तन्त्राभ्याम् आनन्दात्मककरणादिरूपः। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वेता० उप० ६।१९), 'सर्वकामः सर्वगन्धः[1]' (छान्दो० उप० ३।१४।२), 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' (श्वेता० उप० ६।८) इत्यादि श्रुतिभिः अप्राकृतधर्माधारः। तदुक्तं निबन्धे,

'सर्वाधारं वश्यमायम्, आनन्दाकारमुत्तमम्।
प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद् विलक्षणम्॥' (शास्त्रार्थप्र० का० ६७) इति।

पैर, मुख और उदर आदि सारे अङ्ग आनन्दमय हैं) आदि वाक्यों से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णात्मक पर ब्रह्म की इन्द्रियाँ आदि आनन्दात्मक हैं। 'वह पर ब्रह्म निष्कल (कलाहीन), निष्क्रिय (क्रियाहीन) और शान्त है' (श्वेता० उप० ६।१९), 'सर्वकाम, सर्वगन्ध' (छान्दो० उप० ३।१४।२), 'उसकी पराशक्ति नाना प्रकार की ही सुनी जाती है' (श्वेता० उप० ६।८) इत्यादि श्रुतियों से उस पर ब्रह्म के अप्राकृत धर्मों का आधार होने का बोध होता है। इसीलिये श्रीमद्वल्लभाचार्य ने अपने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थप्रकरण में कहा है कि,'ब्रह्म सबका आधार, माया को वश में रखनेवाला, आनन्दाकार, (अक्षर से भी) उत्तम

देखिये, शास्त्रार्थप्रकरणकारिका ४४ तथा उसकी स्नेहप्रपूरणी व्याख्या पृष्ठ १३७–१४१.

१. वह 'सर्वकाम' और 'सर्वगन्ध' है, यह स्पष्ट करते हुए शङ्कराचार्य लिखते हैं, "सर्वकामः, सर्वे कामा दोषरहिता अस्य इति सर्वकामः, 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' (गीता ७।११) इति स्मृतेः।....सर्वगन्धः, सर्वे गन्धाः सुखकरा अस्य सोऽयं सर्वगन्धः, 'पुण्यो गन्धः पृथिव्याम्' (गीता ७।९) इति स्मृतेः।" (छान्दो० उप० ३।१४।२ पर शाङ्करभाष्य)।

तथा च, निषेधकश्रुतीनां प्रातीतिकप्राकृतधर्मविषयत्वं, धर्मविधायकोपनिषदां तु अप्राकृत-नित्य-श्रौत-धर्मविषयत्वम्, इति व्यवस्थया तु अविरोधोऽस्मत्सिद्धान्ते, यदाह भगवान् भाष्यकारः, '*प्रतीतं च निषेध्यम्, नाप्रतीतं, न श्रुतिप्रतीतम्*' (अणुभाष्यम् १।१।२) इति।

और सभी प्रापञ्चिक पदार्थों से विलक्षण है' (शास्त्रार्थप्र० का० ६७)[1]।

जिन श्रुतिवाक्यों में ब्रह्म में धर्मों या गुणों के होने का निषेध उपलब्ध होता है उनका विषय प्रातीतिक अर्थात लोक में प्रतीत या उपलब्ध होने वाले लौकिक या प्राकृत धर्म या गुण हैं, तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में गुणों के होने का निषेध करने वाले वाक्य उसमें प्राकृत या लौकिक गुणों के होने का ही निषेध करते हैं (अप्राकृत, दिव्य या अलौकिक गुणों के होने का नहीं)। इसी प्रकार ब्रह्म में धर्मों या गुणों के होने का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्यों का विषय अप्राकृत, नित्य और श्रौत धर्म हैं, तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में धर्मों या गुणों के होने का विधान करने वाले उपनिषद्वाक्य उसमें अप्राकृत, अलौकिक, दिव्य नित्य तथा श्रुतिप्रतिपादित धर्मों या गुणों के होने का ही विधान करते हैं (लौकिक या प्राकृत धर्मों के होने का नहीं)। इस प्रकार सगुण और निर्गुण तत्त्व का निरूपण करने वाली श्रुतियों के अर्थ की व्यवस्था करने के कारण हमारे ब्रह्मवाद सिद्धान्त में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, जैसा कि अणुभाष्य के लेखक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कहा है, 'ब्रह्म में धर्मों या गुणों का निषेध करने वाले वाक्यों का अभिप्राय ब्रह्म में लोक में प्रतीत या उपलब्ध होने वाले (अर्थात् लौकिक, प्राकृत स्थूलत्वादि) गुणों का निषेध करना ही होता है, अप्रतीत (अर्थात् लोक में उपलब्ध न होने वाले अलौकिक, दिव्य गुणों) या श्रुतिप्रतीत (अर्थात् श्रुति में ब्रह्म के

---

१. देखिये, शास्त्रार्थप्रकरण की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या, पृष्ठ २११–२१२.

स च परमकाष्ठापन्नः पुरुषोत्तमशब्दवाच्यः कृष्णः सदाप्रकटालौकिकसर्वधर्मा नित्यसर्वलीलः, '*दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्*' (भाग० २।१०।२) इति शुकवाक्यात्, '*यस्य लीलाः नवविधाः स शुद्धः पुरुषोत्तमः*' इति निबन्धात्, '*श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा*' (भागवतार्थप्र० का० १) इति स्पष्टमेव श्रीभागवतप्रकरणारम्भे निरूपितत्वाच्च।

स हि द्विभुज-चतुर्भुजादिरूपैः बृहद्वन[1]-वृन्दावन-व्यापिवैकुण्ठादिषु तत्तद्भक्तैः सह रममाणः सर्वदा विजयते,

---

धर्म के रूप में प्रतिपादित) धर्मों या गुणों का निषेध करना नहीं।' (अणुभाष्य १।१।२)।

उन परमकाष्ठापन्न पुरुषोत्तमशब्दवाच्च श्रीकृष्ण के सभी अलौकिक धर्म सदा प्रकट रहते हैं और उनकी सारी लीलायें नित्य हैं, जैसाकि शुकदेव के 'महापुरुषों ने दशम की विशुद्धि (अर्थात् आश्रय के निरूपण) के लिये सर्गादि नौ पदार्थों का लक्षण या निरूपण किया है' (भागवत २।१०।२) इस वाक्य से तथा श्रीवल्लभाचार्य के तत्त्वदीपनिबन्ध के 'जिसकी दस प्रकार की लीलायें हैं वह शुद्ध पुरुषोत्तम है', इस वाक्य से, तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के भागवतार्थप्रकरण के प्रारम्भ में 'हम सदा दस लीलाओं से युक्त परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हैं' (भागवतार्थप्र० का० १) इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट शब्दों में निरूपित होने से ज्ञात होता है।

वह भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज, चतुर्भुज आदि रूपों में बृहद्वन[1], वृन्दावन एवं व्यापिवैकुण्ठ आदि में अपने उन उन (विशिष्ट) भक्तों के साथ रमण करते हुए सदा विराजमान हैं जैसा कि ब्रह्मवैवर्तपुराण के,

---

१. बृहद्वन के उल्लेख के लिए देखें, भाग० १०।११।२१ इत्यादि।

परिपूर्णतमः कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयम् ।
चतुर्भुजश्च वैकुण्ठे गोकुले द्विभुजः स्वयम् ॥ इति ब्रह्मवैवर्तात् । अत एव परमानन्दः, *'रसो वै सः'* (तैत्ति० उप० २।७), *'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति'* (तैत्ति० उप० २।८) इत्यादि-श्रुतेः, *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* (ब्रह्मसूत्र १।१।११), *'पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः'* (भाग० १०।८७।१७) इति तत्त्व-सूत्र-श्रीभागवतीयश्रुतिस्तुतिभ्याञ्च। एतच्च भाष्य-सुबोधिन्योः

'श्रीकृष्ण वैकुण्ठ और गोकुल में परिपूर्णतम अर्थात् अपने पूर्णपुरुषोत्तम-रूप में विद्यमान हैं । वे वैकुण्ठ में चतुर्भुज रूप में और गोकुल में द्विभुज-रूप में विराजमान हैं,' इस वाक्य से ज्ञात होता है । इसीलिये भगवान् कृष्ण को परमानन्दस्वरूप कहा गया है जैसा कि 'वह रस (अर्थात् रसमय, रसात्मक या रसस्वरूप) है' (तैत्ति० उप० २।७), 'इस आनन्दमय आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है' (तैत्ति० उप० २।८) इत्यादि श्रुतिवाक्यों, 'परमात्मा आनन्दमय है क्योंकि उसे श्रुति में अनेकशः आनन्दमय कहा गया है' (ब्रह्मसूत्र १।१।११) इत्यादि ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भागवत में वेदस्तुति में आये, 'इस देह में जो पुरुषाकार अनुगत है वह अन्नमयादि में अन्तिम अर्थात् आनन्दमय है' (भाग० १०।८७।१७) इस वाक्य से ज्ञात होता है । यह बात 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्रह्मसूत्र १।१।११) इस सूत्र के अणुभाष्य[1] तथा वेदस्तुति के 'पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः' (भाग० १०।८७।१७) इस श्लोक की

---

१. "आनन्दमयः परमात्मा ।……कुतः ? अभ्यासात् अभ्यस्यते पुनः पुनः कीर्त्यत इत्यभ्यासः तस्मात् । ……एवमभ्यासः श्रूयते, 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्, एष ह्येवानन्दयाति' (तैत्ति० उप० २।७)……। तस्मादानन्दमयं ब्रह्मैव ।" (अणुभाष्यम् १।१।११) ।

स्फुटम् । अतएव *'आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेद्'* (सिद्धान्तमुक्तावली, १५) इति मुक्तावल्यामुक्तम् ।

सुबोधिनी[1] टीका में स्पष्ट की गयी है। इसीलिए महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य ने सिद्धान्तमुक्तावली में कहा है कि 'आत्मानन्द (अपने अर्थात् भगवदीय आनन्द) के समुद्र में स्थित श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करना चाहिए[2]' (सिद्धान्तमुक्तावली १६)।

---

१. "अत्र देहे पुरुषविधोऽन्वयो यः स भगवान् अन्नमयादिषु चरमः। ....ततोऽत्र देहे कश्चिदान्तरो वर्तते य एवंविधः, यदुपरि समागता अन्नरसाः पुरुषादयो भवन्ति।...... ....'तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः' इति श्रुतौ तस्य भगवतः पुरुषप्रकारमेव लक्ष्यीकृत्य अयमन्नमयादिः पुरुषविध इति अस्य पुरुषविधत्वं भगवदन्वयेनैव निरूपितम्। पुरुषविधस्त्वन्वयो वंशन्यायेन समागत इत्यर्थः। ... . अत्र अन्नमयादिषु यश्चरम इति। अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयेषु चरम आनन्दमयः, स तु सर्वान्तरः। आनन्दमयत्वादेव न तस्य प्रयोजनमन्यदस्ति। अन्यच्च नापेक्षत इति सूचितम्। अन्तःस्थितो ह्याकारसमर्पको भवति।.......भगवांश्चानन्दमयः।" (सुबोधिनी १०।८७।१७)।

२. इस वाक्य की व्याख्या करते हुए श्रीबालकृष्णभट्ट लिखते हैं, "शुद्धपुष्टिमार्गीयव्रजसुन्दरीवृन्दविहारिणं कृष्णमेव निरवध्यानन्दं विशेषेण चिन्तयेत् मानसीसिद्ध्यर्थं लीलाविशिष्टभावनं कुर्यादिति भावः। अयमेवार्थः श्रीमत्प्रभुचरणैः टीकायां विवृतः 'कृष्णपदात्' इत्यारभ्य 'आत्मपदं भगवत्परम्' इत्यन्तेन।" (सिद्धान्तमुक्तावली-योजना १५)। यहाँ श्रीबालकृष्णभट्ट ने गोस्वामी विट्ठलनाथ कृत सिद्धान्तमुक्तालीविवृतिः के जिस वाक्य की ओर संकेत किया है वह अधोलिखित है, 'आत्मानन्दसमुद्रस्थम् इति। श्रीकृष्णपदात् पुष्टिमार्गी सदा भक्तिप्रकटितनिरवध्यानन्देषु विहरन्तम् इत्यर्थः। ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः। स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकः तद्वत्त एव। अत आत्मपदं भगवत्परम्।' (सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिः १५)।

तस्यैव 'बहु स्यां प्रजायेय' (तैत्ति० उप० २।६; छान्दो० उप० ६।२।३) इति श्रुत्युक्तया इच्छया सकलकारणकारणभूतं[1] रूपान्तरमाविर्भवति। तस्मिन् रूपे भगवद्धर्मात्मकसत्त्वेन आनन्दांशस्तिरोहित इव भवति। तदा तद्रूपम् अक्षरशब्दवाच्यं भवति[2]। तद् अक्षरं ब्रह्म अधिकारिभेदेन त्रिधा स्फुरति।

तत्र भक्तानां पुरुषोत्तमधाम-व्यापिवैकुण्ठाद्यात्मकत्वादि-धर्मवत् प्रतीयते,

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥' (गीता ८।२१)

इति गीतावाक्यात्,

'दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्।

उसी की 'मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ' (तैत्ति० उप० २।६; छान्दो० उप० ६।२।३) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में निरूपित इच्छा से, उसके एक अन्य रूप का आविर्भाव होता है जो सभी कारणों का कारण होता है। उस रूप में,भगवद्धर्मात्मक अर्थात् भगवान् के धर्मभूत सत्त्व से, आनन्दांश तिरोहित सा हो जाता है। तब वह रूप 'अक्षर' शब्द का वाच्य हो जाता है। वह अक्षर (कहा जाने वाला) ब्रह्म अधिकारिभेद से तीन रूपों में स्फुरित होता है।

भक्तों को यह अक्षर तत्त्व पुरुषोत्तमधाम, व्यापिवैकुण्ठ आदि के रूप में प्रतीत होता है, जैसा कि गीता के "अव्यक्त का अभिधान अक्षर इस पद से किया गया है और उसे परम गति कहा गया है। यह मेरा परम धाम है जिसे प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता" (गीता० ८।२१), इस वाक्य तथा श्रीमद्भागवत के, "भगवान् ने गोपों

---

१. 'तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्।
विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः'॥ (भाग० ३।११।४१)।

२. देखिये, सर्वनिर्णयप्र० का० ९९-१०० तथा उनकी प्रकाश टीका।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥"[1] (भाग० १०।२८।१४-१५) इति श्रीभागवताच्च । अत एव उक्तं निबन्धे, '*प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः*'[2] (सर्वनिर्णयप्र० का० १०२) इत्यादि । भक्तप्रत्यक्षविषयीभूते अस्मिन् अक्षररूपे

को तम से पर या अतीत अपने व्यापिवैकुण्ठ नामक लोक या परम धाम के दर्शन कराये जो अक्षर, सच्चिदानन्दस्वरूप वैकुण्ठ कहा जाने वाला ब्रह्म ही है तथा ज्योतिःस्वरूप एवं सनातन है" (भाग० १०।२८।१४-१५) इस वाक्य से ज्ञात होता है । इसीलिये श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (के सर्वनिर्णयप्रकरण) में कहा है कि 'भगवान् हरि के वैकुण्ठवासी प्रभु के रूप में स्फुरित होने पर उनके लोक के रूप में अक्षर की प्रतीति होती है' (सर्वनिर्णयप्र० का० १०२) इत्यादि । भक्तों

---

१. "भगवतो बहवः लोकाः सन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह–तमसः परम् इति, प्रकृतेरप्युपरि, 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्' (ऋग्वेद १०।१२९।३) इति श्रुतेः, तस्यापि तमसो वस्तुविचारेण भगवत्त्वमुक्तं, ततोऽप्यग्रे व्यापिवैकुण्ठाख्यं तत् प्रदर्शितवान् । मायोद्घाटनेन तस्य स्वरूपमाह 'सत्यम्' इति । अक्षररूपं तत् । यदा भगवानीश्वरत्वेन तेषां हृदये जातः तदा अक्षरमपि लोकत्वेनाविर्भूतमन्यथा तस्य कृत्रिमत्वं स्यात् । स्वरूपञ्च तस्य सत्यं ज्ञानमनन्तं देशकालापरिच्छिन्नमबाधितज्ञानरूपतापरिच्छिन्नता चोक्ता । अन्यानपि तत्रस्थान् गुणान् वक्तुं प्रमाणमेवातिदिशति यद्ब्रह्म इति । यद् वैकुण्ठाख्यं सर्ववेदान्तप्रत्ययं यद् ब्रह्मैव । अनेन बृहत्त्वं बृंहणत्वं चोक्तं प्रामाणिकत्वञ्च । गुणोपसंहारन्यायेन सर्वे गुणाश्च । दोषाभावार्थमाह–ज्योतिः इति, तत् स्वप्रकाशं कोटिसूर्याधिकप्रकाशरूपम् । न चैतदिदानीमेवैवं जातमिति शङ्कनीयं यतः सनातनम् अनादिसिद्धमिदमेतादृशमेव ।" (सुबोधिनी १०। २८।१४-१५) ।

२. मिलाइये, 'यदा भगवान् ईश्वरत्वेन तेषां हृदये जातः तदा अक्षरमपि लोकत्वेनाविर्भूतम्' (सुबोधिनी १०।२८।१४) ।

केषाञ्चिद् गुणानां प्राकट्यम्, अन्येषां भगवद्गुणानां तिरोधानम् एव, इति ज्ञेयम्।

न च, तिरोभावस्य अज्ञानमूलकतया न ब्रह्मणि सः, इति वाच्यम्; *'आविर्भाव-तिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः'* (सर्वनिर्णयप्र० का० १४०) इति वाक्याद् भगवच्छक्तित्वात्।

ननु, 'विद्यमानस्य प्रतीत्यविषयता तिरोभावः। तथा सति सर्वज्ञे ब्रह्मणि न सम्भवस्तस्य। तदानीं जीवस्य अभावात् तद्-बुद्ध्यभिप्रायेणापि न वक्तुं शक्यः।' इति चेत्, न; सतः पदार्थस्य स्वकार्याकारित्वं तिरोभाव इति लक्षणात्। अत एव ब्रह्मनिष्ठस्य प्रलयकर्तृत्वादेः प्रपञ्चस्थित्यवसरे स्वकार्या-

---

के प्रत्यक्ष के विषय इस अक्षर रूप में भगवान् के कुछ गुण प्रकट रहते हैं, अन्य भगवदीय गुण तिरोहित ही रहते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

यह कहना ठीक न होगा कि तिरोभाव अज्ञानमूलक होता है अतः ब्रह्म में उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि श्रीमद्वल्लभाचार्य के तत्त्वार्थदीप-निबन्ध के 'आविर्भाव और तिरोभाव भगवान् विष्णु की दो शक्तियाँ हैं' (सर्वनिर्णयप्र० का० १४०) इस वाक्य में तिरोभाव को भगवान् की शक्ति बताया गया है।

'विद्यमान पदार्थ का प्रतीतिविषय न होना तिरोभाव है। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ ब्रह्म में तिरोभाव सम्भव नहीं है अर्थात् ब्रह्म के सर्वज्ञ होने के कारण उससे कुछ भी तिरोहित (या प्रतीति का अविषय) नहीं हो सकता। उस समय जीव का अभाव होने के कारण यह भी नहीं कहा जा सकता कि जीव की बुद्धि के अभिप्राय से (अर्थात् जीव की दृष्टि से) तिरोभाव का कथन उपपन्न होगा।' पूर्वपक्षी का यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि तिरोभाव का लक्षण 'सत् पदार्थ का अपने कार्य को उत्पन्न न करना' है। इसीलिये प्रपञ्च की स्थिति के समय ब्रह्मनिष्ठ (अर्थात् ब्रह्म में विद्यमान) प्रलयकर्तृत्व आदि गुणों का जो तिरोभाव

कारित्वरूप एव तिरोभावः अङ्गीक्रियते । एवं सर्वत्र बोध्यम् ।

सद्विषयकप्रतीत्यभावरूपः तु तिरोभावो मायाकृतो बद्ध-जीवधर्मः एतद्-भिन्नः, इति दिक् ।

प्रकृतं वदामः । ज्ञानिनां तु सच्चिदानन्दत्व-देशकालापरिच्छिन्नत्व-स्वयंप्रकाशत्व-गुणातीतत्वादिस्वरूपं भासते[1], *'व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वात्, न तु उपलब्धिवत्'* (ब्रह्मसूत्र ३।३।५४) इत्यत्र भाष्ये अक्षरस्य द्वेधा स्फूर्तिनिरूपणात् ।

अतो ज्ञानिनां प्रकाशमानेऽक्षरे ब्रह्मणि सर्वेषां धर्माणां

स्वीकार किया जाता है उसका स्वरूप अपने कार्य को उत्पन्न न करना ही है । इसी प्रकार अन्य सभी स्थलों पर भी समझना चाहिये ।

जिस तिरोभाव का स्वरूप सत् पदार्थ की प्रतीति का अभाव है वह मायाकृत है तथा बद्धजीव का धर्म है और इस उपर्युक्त तिरोभाव से भिन्न है । इसे इस प्रकार समझ लेने पर प्रतीयमान अन्तर्विरोध का समाधान हो जाता है अतः इससे सम्बद्ध विवेचन को यहीं समाप्त करते हैं ।

अब प्रकृत बात कहते हैं । ज्ञानियों को अक्षर ब्रह्म सच्चिदानन्द, देशकालापरिच्छिन्न, स्वयंप्रकाश और गुणातीत रूप में प्रतीत या स्फुरित होता है जैसा कि 'व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वात्, न तूपलब्धिवत्' (ब्रह्मसूत्र ३।३।५४) इस सूत्र के अणुभाष्य[1] में अक्षर के दो रूपों में स्फुरित होने का निरूपण मिलने से ज्ञात होता है ।

ज्ञानियों को प्रकाशित अर्थात् प्रतीत या स्फुरित होने वाले अक्षर

---

१. एवं सति सच्चिदानन्दत्वदेशकालापरिच्छेदस्वयंप्रकाशत्वगुणातीतत्वादिधर्मवत्त्वेनैव ज्ञानिनाम् अक्षरविज्ञानम्; भक्तानामेव पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तथा इति ज्ञेयम्, 'मल्लानामशनिः' (भाग० १०।४३।१७) इति श्लोकोक्तरीत्या पुरुषोत्तमस्यैव ।" (अणुभाष्यम् ३।३।५४) ।

तिरोभावाद् एकस्याः तिरोधानशक्तेः एव प्राकट्यात्, निर्द्धर्मकम् इति व्यवह्रियते।

'संसुप्तवच्छून्यवद् अप्रतर्क्यम्, तन्मूलभूतं पदमामनन्ति'
(भाग० १२।४।२१),

"शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो,
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो,
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्[1]॥" (भाग० २।७।४७-४८)

ब्रह्म में सभी धर्मों का तिरोभाव होता है और केवल तिरोधान शक्ति ही प्रकट रहती है, अतः यह अक्षर ब्रह्म निर्धर्मक कहा जाता है। इस कथन की पुष्टि भागवत के अधोलिखित वाक्यों से होती है, 'ज्ञानी पुरुष उस मूलभूत पद को संसुप्त के समान, शून्य के समान और तर्कागम्य मानते हैं' (भाग० १२।४।२१), 'परम पुरुष भगवान् का वह पद जिसे ज्ञानी लोग ब्रह्म के रूप में जानते हैं किसी भी शब्द, कारक, क्रिया, धातु या प्रत्यय का अर्थ या विषय नहीं है। माया उससे लज्जित होकर दूर भागती है। वह परमानन्दरूप एवं दुःखाभावरूप

---

१. "पादस्वरूपं निरूपयति, 'तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसः' इति।....शाब्दिकं व्यवहारं निराकरोति—'शब्दो न यत्र' इति। भगवत्पदे कर्मत्वाद्यभावान्न कारकत्वम्, अक्रियारूपत्वात् तदव्यङ्ग्यत्वाद्वा न धात्वर्थत्वम्, अप्रयत्नरूपत्वान्न प्रत्ययार्थत्वम्, अनेन शब्दे प्रधानरूपत्वाभावे नामाख्यातार्थत्वाभावादुपसर्गनिपातार्थत्वं दूरादेव निवारितम्। 'कारकवान् क्रियार्थं' इति। नामाख्यातयोः सम्बन्धकथनाद्वाक्यार्थोऽपि न भवतीत्युक्तम्। भगवदाज्ञया मायाव्यवहार्यत्वे जीवानामिवाज्ञानादिनिवृत्तिद्वारा व्यवहार्यत्वं स्यात्, तदपि नास्तीत्याह—'माया परैति' दूरादेवापगच्छति। तस्या गमने हेतुः, विलज्जमाना इति। इयं चरणदासी। ज्ञानरूपत्वाच्च भगवतः। इयं मोहिका। अत एव तस्या जनव्यामोहकत्वं भगवान्

इत्यादिवाक्यात्। न तु श्रुत्युक्तधर्मशून्यम्, तथा सति असतः सत्ता स्यात्। *'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः'* (श्वेता० उप० ३।३) इत्यादिश्रुत्युक्तधर्मस्वीकारे औपाधिकपक्षो वा स्यात्। अतो वेदोक्तधर्माणां तिरोभावः एव, न तु अभावः। अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्ति इति द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्याम्।

है।' (भाग० २।७।४७–४८)। वह वेदोक्त धर्मों से रहित नहीं है, क्योंकि उसे ऐसा मान लेने पर असत् के सत्ताशील होने की बात माननी होगी या 'वह सब ओर नेत्रों वाला और सब ओर मुख वाला है' (श्वेता० उप० ३।३) इत्यादि श्रुतियों में कहे गये धर्मों को स्वीकार करने में औपाधिक पक्ष स्वीकार करना होगा। अतः वेदोक्त धर्मों का ब्रह्म में तिरोभाव ही स्वीकार करना चाहिए, अभाव नहीं। हमारे मत (अर्थात् वाल्लभ सिद्धान्त) में अभावों को तिरोभाव से अतिरिक्त अर्थात् पृथक् और स्वतन्त्र नहीं माना गया है, यह बात भागवत के द्वितीय स्कन्ध की सुबोधिनी में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की गयी है।

जानातीति। ये वा अभिमुखाः चकारादनुचराश्च ज्ञानिनो भक्ताश्च तत्र सर्वत्रैव विलज्जमाना। विशेषतो लज्जा अंशतोऽपि कार्याकरणं द्योतयति। एवं दशभिर्विशेषणैः भगवत्पदं लक्षयित्वा तस्य प्रसिद्धिमाह—ब्रह्मेति यद्विदुः इति। यद्भगवत्पदं सर्ववेदान्तविचारका ब्रह्मेति विदुः। तस्मिन्नेव ब्रह्मणि ईश्वरत्वेन कश्चिदुद्गच्छेत्तदा स भगवान्, पूर्वोक्तं तु पदम्। स एव चेन्नियामको भवेत्तदा परमः, तत्पदम्। स एव चेद्भोक्ता तदा पुमान्। एवं विचारेण ब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मेति तद्वदन्ति। एवं तस्य प्रसिद्धिमुक्त्वा तस्य सहजं फलमाह—अजस्रसुखं विशोकम् इति। परमानन्दो दुःखाभावश्च फलं, तदुभयरूपं तदित्यर्थः।" (सुबोधिनी २।७।४७-४८)।

न च एवं, ब्रह्मणि दुःखं नास्ति, इत्युक्तेः दुःखतिरोभाव-स्वीकाराद् दुःखसत्तापत्तिः, इति वाच्यम्। दुःखस्य मायिकत्वेन मिथ्यात्वात् तदभावस्यापि मिथ्यात्वस्वीकारात्। अतएव कैश्चित् निर्धर्मवादिभिः स्थूलत्वाद्यभावानां मिथ्यात्वमङ्गीकृतम्। अन्यथा ह्यभावनिरूपितं द्वैतं स्यादिति। अतो मायिकधर्माणां भ्रान्तप्रतीतिमात्रसिद्धानां दुःखादीनां मिथ्यात्वेन तदभावस्यापि मिथ्यात्वं, वन्ध्यासुत-तदभाववत्। श्रुत्युक्त-धर्मप्रतियोगिका अभावास्तु तिरोभावात्मका इति विवेकः। अतः तिरोभावस्वीकारे न कश्चिद्दोषः।

यह कहना भी ठीक न होगा कि अभाव को तिरोभाव से पृथक् न मान कर तिरोभाव रूप ही मानने पर 'ब्रह्म में दुःख नहीं है (अर्थात् दुःख का अभाव है)', इस उक्ति से ब्रह्म में दुःख का तिरोभाव स्वीकार करने के कारण दुःख की सत्ता स्वीकार करने का अनिष्ट प्रसङ्ग उपस्थित होगा क्योंकि दुःख के मायिक होने के कारण मिथ्या होने से उसके अभाव (अर्थात् दुःखाभाव) को भी मिथ्या स्वीकार किया गया है। इसीलिये ब्रह्म को निर्धर्मक मानने वाले कुछ चिन्तकों ने स्थूलत्वादि धर्मों के अभाव को भी मिथ्या माना है क्योंकि ऐसा न मानने पर अभावनिरूपित द्वैत को स्वीकार करना होगा। अतः दुःखादि मायिक धर्मों—जिनका भ्रान्त प्रतीति मात्र होना सिद्ध है या जिनकी उपलब्धि या सिद्धि केवल भ्रान्त प्रतीति से ही होती है—के मिथ्या होने के कारण दुःखादि का अभाव भी उसी प्रकार मिथ्या है जैसे वन्ध्यापुत्र और उसका अभाव दोनों समान रूप से मिथ्या हैं। जिनके प्रतियोगी वेदोक्त धर्म हैं वे अभाव तिरोभावात्मक हैं, यह भेद अवधेय है। अतः (उपर्युक्त प्रकार का विवेक करने के कारण) तिरोभाव स्वीकार करने में (सिद्धान्ती के मत में) कोई दोष नहीं है।

तदेवं तिरोहितसर्वशक्तिकं सर्वव्यवहारातीतम् एकं ब्रह्मणो रूपम् ।

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥' (गीता १२।३)

इति गीतावाक्ये एतदेव स्वरूपमुक्तम् ।

तथा च पुरुषोत्तमशब्दवाच्यं श्रीकृष्णस्वरूपम् एकम्; अक्षरं द्वितीयम्, तच्च पूर्वोक्तरीत्या द्विविधम्, इति ब्रह्मणो रूपत्रयं दर्शितम् ।

पुरुषोत्तमस्य तस्यैव स्वरूपनियमनादिकार्यसिद्धयर्थं सूर्यमण्डलादौ पृथिव्या अधिदैवादिषु स्थितं यद् रूपं तदन्तर्यामिशब्दवाच्यम् । *'य आदित्ये तिष्ठन् आदित्याद् अन्तरो, यम् आदित्यो न वेद, यस्य आदित्यः शरीरम्, य आदित्यम् अन्तरो*

इस प्रकार ब्रह्म का एक रूप सर्वव्यवहारातीत है जिसकी सारी शक्तियाँ तिरोहित हैं । भगवद्गीता के **'जो लोग अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रगामी, अचित्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव अक्षर तत्त्व की उपासना करते हैं'** (गीता १२।३) इस वाक्य में इसी स्वरूप का उल्लेख या निरूपण किया गया है ।

उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्म का एक रूप तो श्रीकृष्णस्वरूप है जो पुरुषोत्तम शब्द से अभिहित किया जाता है और दूसरा अक्षर है जो पूर्वोक्त रीति से द्विविध है । इस प्रकार ब्रह्म के तीन रूपों का निरूपण किया गया ।

उपर्युक्त पुरुषोत्तम के ही, स्वरूपनियमन आदि कार्यों की सिद्धि के लिये सूर्यमण्डल आदि तथा पृथिवी के अधिदैव आदि में स्थित रूप को अन्तर्यामी शब्द से अभिहित किया जाता है जैसाकि, **'जो सूर्य में स्थित, सूर्य के भीतर है, जिसे सूर्य नहीं जानता, सूर्य जिसका शरीर है, जो सूर्य के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह तुम्हारा**

यमयति, एष त आत्मा, अन्तर्याम्यमृतः' (बृह० उप० ३।७।९) इति श्रुतेः, 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' (ब्रह्मसूत्र १।१।२०) इति सूत्राच्च। 'य इमं च लोकं, परं च लोकं, सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति' (बृह० उप० ३।७।१) इत्युपक्रम्य, 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः' (बृह० उप० ३।७।३) इति श्रुतेः; 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशाद्' (ब्रह्मसूत्र १।२।१८) इति सूत्राच्च। अयं पुरुषशब्देनोच्यते,

---

आत्मा अन्तर्यामी अमृत है' (वृह० उप० ३।७।९) इत्यादि श्रुति वाक्य तथा 'श्रुति में उसके भिन्न होने का कथन होने वह अन्य है[1]', (ब्रह्मसूत्र १।१।२०) इस ब्रह्मसूत्र से ज्ञात होता है। इसी प्रकार 'जो इस लोक को, परलोक को तथा सम्पूर्ण भूतों को अन्तःस्थित होकर नियमित करता है' (वृह० उप० ३।७।१) इस प्रकार उपक्रम करके कहे गये, 'जो पृथिवी में स्थित, पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है' (वृह० उप० ३।७।३) इत्यादि श्रुतिवाक्य तथा, 'अधिदैवादि में अन्तर्यामी भगवान् ही हैं, उनके धर्मों का व्यपदेश होने के कारण[2]' (ब्रह्मसूत्र १।२।१८) इस ब्रह्मसूत्र से भी उपर्युक्त मत की ही पुष्टि

---

१. "इतोऽपि सूर्यमण्डलस्थः परमात्मा। भेदव्यपदेशात्, 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (वृह० उप० ३।७।९) इति श्रुत्यन्तर आधिदैविकं सूर्यमण्डलाभिमानिभ्यां भेदेन निर्दिष्टम्, यद्यपि तत्राकारो न श्रूयते तथापि हिरण्मयवाक्येनैकवाक्यत्वात्सर्वत्र साकारमेव ब्रह्मेति मन्तव्यम्।" (अणुभाष्यम् १।१।२०)।

२. " 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु'। अधिदैवादिषु अन्तर्यामी भगवानेव

'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः ।
प्रथमं महतः स्रष्टृ, द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् ।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ॥'

इतिवाक्यात् ।

अयं हि सर्वेषां लीलावताराणां मत्स्यादीनां मूलम्, 'लीलावतारान्[1] पुरुषस्य भूम्नः' (भाग० २।६।४५) इति द्वितीयस्कन्धात् । 'ते च पुनरवताराः कस्य इत्यपेक्षायां यस्तु भूमा पुरुषो ब्रह्माण्डाद् अधिकोऽन्तर्यामिरूपो द्वितीयध्यान उक्तः तस्यावताराः'

होती है । इस अन्तर्यामी का अभिधान पुरुष शब्द से किया जाता है, जैसा कि 'ज्ञानियों ने विष्णु के पुरुष नामक तीन रूपों का ज्ञान प्राप्त किया है । इनमें से प्रथम महत्तत्त्व का स्रष्टा, द्वितीय अण्डसंस्थित और तृतीय सभी भूतों के भीतर स्थित है । इन तीनों रूपों को जान कर व्यक्ति मुक्त हो जाता है ।' इस वाक्य से ज्ञात होता है ।

यह मत्स्य आदि सभी लीलावतारों का मूल है, जैसा कि भागवत के द्वितीय स्कन्ध के, 'भूमा पुरुष के लीलावतारों को' (भाग० २।६।४५) इत्यादि वाक्य तथा सुबोधिनी में की गयी इस वाक्य की, 'वे लीलावतार किस तत्त्व के हैं इस प्रकार की अपेक्षा या विपृच्छा के उत्तर में कहते हैं कि वे लीलावतार उस भूमा पुरुष के हैं जो ब्रह्माण्ड से अधिक और अन्तर्यामी रूप है तथा जिसका द्वितीय ध्यान में निरूपण

नान्यः तादृशो भवितुमर्हति । ननु चोक्तं भगवति कथं निषिद्धकल्पनमिति तत्राह—तद्धर्मव्यपदेशात् । तेषां धर्माः तद्धर्माः तत्प्रयुक्तिबोधकाः । ते विशेषेण भगवत्यपदिश्यन्ते । सर्वेषां तत्तत्कार्यसामर्थ्यं च भगवतो न तु स्वतस्तेषामिति ।" (अणुभाष्यम् १।२।१८) ।

१. 'यद्यपि भगवत्सृष्टौ सर्वमेवावताररूपम् इति मुख्यः पक्षः तथापि तादृशस्य अवतारत्वेन लोकप्रसिद्ध्यभावात् लोके यानवतारान् प्राधान्येन मुख्यतया वदन्ति तेषां लीलावतारेति नाम ।' (सुबोधिनी २।६।४५) ।

(सुबोधिनी २।६।४५) इति सुबोधिन्यां व्याख्यातत्वाच्च। द्वितीयध्यानं तु, *'केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्'* (भाग० २।२।८) इत्यत्र उक्तम्। एतद्व्याख्याने, *"[1]पुरुषादतिरिक्तं रूपम् अतिरेकार्थं भजन्ते। अतिरिक्तमपि पुरुषाकारम्। वसन्तं तृतीयं पुरुषम्'* (सुबो० २।२।८) इति सुबोधिन्यामुक्तम्। एवं सति, *'तृतीयं सर्वभूतस्थम्'* इत्यत्र उक्तम् अन्तर्यामिरूपम् इति सूचितम्। अत एव *'यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय*

किया गया है,' (सुबोधिनी २।६।४५) इस व्याख्या से सिद्ध होता है। द्वितीय ध्यान का निरूपण भागवत के 'कुछ लोग अपने शरीर के भीतर हृदयाकाश में विराजमान प्रादेशमात्र पुरुष को (धारणा के द्वारा स्मरण करते हैं)'(भाग० २।२।८) इत्यादि वाक्यों में हुआ है। भागवत के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए सुबोधिनी में कहा गया है कि 'अतिरेक के लिए वे, ('अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' ऋग्वेद १०।९०।१ इत्यादि वाक्यों से निरूपित) पुरुष से अतिरिक्त रूप का वर्णन करते हैं। यह अतिरिक्त रूप भी पुरुषाकार है। विराजमान तृतीय पुरुष को (स्मरण करते हैं)' (सुबोधिनी २।२।८)। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुबोधिनी के उपरिलिखित 'वसन्तं तृतीय पुरुषं' इस वाक्यांश से यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त श्लोक (भाग० २।२।८) और उसकी सुबोधिनी टीका में प्रयुक्त पुरुष शब्द से 'तृतीयं सर्वभूतस्थम्' (इस पाद) में निरूपित अन्तर्यामी रूप का उल्लेख ही अभिप्रेत है। इसीलिये भागवत के 'जहाँ पृथिवी के

---

१. "भगवतो रूपाणि चत्वारि ध्येयानि। अंगुष्ठमात्रं, प्रादेशमात्रं पूर्वोक्तञ्च। तत्र स्वनैकट्यं प्रादेशमात्रस्यैवेति। वैश्वानरविद्यायां च सिद्धत्वात् शुद्धे च सहृदये मातुं शक्यत्वात्। अथवा 'अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' (ऋग्वेद १०।९०।१) इति पुरुषादतिरिक्तं रूपमतिरेकार्थं भजन्ते। अतिरिक्तमपि पुरुषाकारम्। वसन्तं तृतीयं पुरुषम्। तस्य स्थूलरूपं वर्णयति — चतुर्भुजम् इति।" (सुबोधिनी २।२।८)।

बिभ्रद्' (भाग० २।७।१) इत्यस्य आभासे, "[1]अन्तर्यामिस्वरूपे 'प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्' (भाग० २।२।८) इत्यादिपदैः यन्निरूपितं भगवत्स्वरूपम्, तस्य अत्र दशावतारा उच्यन्ते" (सुबो० २।७।१ आभासे) इति सुबोधिन्याम् उक्तम्।

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' (भाग० १।३।२८)

उद्धार के लिए उद्यत पुरुष ने वराह का शरीर धारण किया' (भाग० २।७।१) इस श्लोक की सुबोधिनी टीका के प्रारम्भ में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि—"अन्तर्यामी के स्वरूप में 'प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्' (हृदयाकाश में विराजमान प्रादेशमात्र पुरुष को) इत्यादि पदों से भगवान् के जिस स्वरूप का निरूपण किया गया है, उसी के दश अवतारों का यहाँ वर्णन किया गया है" (सुबो० २।७।१ का आभास)।

'यह उस पुरुष के अंश और उसकी कलायें हैं। कृष्ण स्वयं भगवान् (ही) हैं' (भाग० १।३।२८), इस वाक्य में पुरुष शब्द से

---

१. अन्तर्यामिस्वरूपे 'प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्' (भाग० २।२।८) इत्यादिपदैः यन्निरूपितं भगवत्स्वरूपं तस्यात्र पदशोऽवतारा उच्यन्ते। तत्र प्रथमं प्रादेशमात्रत्वधर्मस्योत्पत्त्या यद्रूपं तत्प्रथममाह—यत्रोद्यत इति। ब्रह्मणो हि भूम्युद्धारे चिन्ता काचिदुत्पन्ना कथमेनां समुन्नेष्य इति। तदा भगवद्ध्यानादन्तर्यामी भगवान् यः प्रादेशमात्रः स आविर्भूतः। स प्रादेश-मात्रोऽपि नासापुटनिर्गमनार्थमंगुष्ठशिरोमात्रो भूत्वा पश्चात्स्थूलो जात इति प्रादेशमात्रत्वं स्थानसापेक्षं न तु स्वाभाविकमिति व्याख्यातम्। यत्र एव स्थितो भगवाननन्तो देशकालाद्यपरिच्छिन्नः क्षितितलोद्धरणाय उद्यतः। यदैव भगवानिति विचारितवान् 'भूमिमुन्नेष्यामि' इति तदैव रूपमबिभ्रत्। न हि तस्य रूपग्रहणे देशकालवस्त्वाद्यपेक्षा। यतोऽन्तःकरण एव ब्रह्मणः स्थित्वा भूम्युद्धारेच्छयैव तत्रैव रूपं गृहीतवान्। अतोऽन्तर्यामिणो रूपग्रहणे न काप्य-पेक्षेति सूचनार्थं प्रथममेव वराहावतार उक्तः। यत्रैवोद्यतः तत्रैव बिभ्रत् धृतवान् इति योजना।' (सुबोधिनी २।७।१)।

इत्यत्र एष एवान्तर्यामी, पुं-शब्देन उक्तः, 'पुंसो नारायणस्य ब्रह्माण्डमूर्तेः अंशाः, कलाश्च' (सुबो० १।३।२८) इति व्याख्यातत्वात्। अत एव, '*य आदित्ये तिष्ठन्*' (बृह० उप० ३।७।९) इत्यारभ्य '*स ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः*' (बृह० उप० ३।७।९) इत्यत्र उक्तस्य अन्तर्यामिणो नारायणत्वं स्मर्यते,

'*ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।*
केयूरवान्, मकरकुण्डलवान्, किरीटी, हारी, हिरण्मयवपुः धृतशङ्खचक्रः॥
(आदित्यहृदय, ५५) इति।

अतः पुरुषोत्तमस्य रूपान्तरम् अन्तर्यामिसंज्ञकम् एकम्, सर्वे तस्य अवताराः, '*एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*' (भाग० १।३।२८) इति श्रीभागवतवाक्यात्।

इसी अन्तर्यामी का उल्लेख किया गया है। इस कथन की पुष्टि इस वाक्य की सुबोधिनी में 'पुरुष के अर्थात् ब्रह्माण्डमूर्ति नारायण के अंश और उनकी कलायें' (सुबोधिनी १।३।२८) इस प्रकार की व्याख्या की जाने से होती है। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में, 'जो सूर्य में स्थित होते हुए भी' (बृह० उप० ३।७।९) इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ कर, 'वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है' (बृह० उप० ३।७।९) इत्यादि वाक्यों में प्रतिपादित अन्तर्यामी को अधोलिखित वाक्यों में नारायण के रूप में स्मरण किया गया है। 'आदित्यमण्डल के मध्य विराजमान केयूर, मकराकृतिकुण्डल, किरीट, हार तथा शङ्ख एवं चक्र धारण किये हुए, कमल के आसन पर स्थित, आनन्दात्मक शरीर वाले नारायण का सदैव ध्यान करना चाहिए[1]।' (आदित्यहृदय ५५)।

अतः पुरुषोत्तम का अन्तर्यामी नामक एक रूपान्तर है और सब अवतार उसी के हैं, जैसाकि भागवत के 'यह उस पुरुष के अंश और उसकी कलायें हैं। कृष्ण तो स्वयं भगवान् (ही) हैं' (भाग० १।३।२८) इत्यादि वाक्य से ज्ञात होता है।

---

१. द्रष्टव्य, (पं० श्रीधर पाठक सम्पादित) अणुभाष्य १।१।१९।

अक्षरान्निर्गमनं येषामन्तर्यामिणाम् उक्तं ते तु एतस्य मुख्यान्तर्यामिणोऽंशाः बोध्याः। ते हि आनन्दप्रधाना जीववत् प्रतिशरीरं भिन्ना नियतनियामकत्वधर्माणः तत्तज्जीवमात्र-नियामकाः। *'जडजीवान्तर्यामिषु एकैकांशप्राकट्याद्'*[1] (*अणुभाष्यम् १।१।३*) इति *'तत्तु समन्वयाद्'* (ब्रह्मसूत्र १।१।३) इति सूत्र-भाष्ये एते एव उक्ताः।

अतः परं लीलावताराणां गुणावताराणां च स्वरूपं विविच्यते। तत्र, *'विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्'* (भाग० १०।२७।४), *'सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः'* (भाग० १०।८९।१८),

---

जिन अन्तर्यामियों के अक्षर से निर्गमन की बात कही गयी है उन्हें इस मुख्य अन्तर्यामी के अंश समझना चाहिए। वे आनन्दप्रधान, जीवों की ही भाँति प्रतिशरीरभिन्न और केवल उन जीवों के ही नियामक होते हैं जिनमें वे अन्तर्यामी होते हैं। इस प्रकार उनका धर्म नियतनियामकत्व है। **'तत्तु समन्वयात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) इस सूत्र के अणुभाष्य के **'जड, जीव और अन्तर्यामियों में क्रमशः सत्, चित्, और आनन्दांश इन एक-एक के ही प्रकट होने से'** (अणुभाष्य १।१।३) इस वाक्य में इन्हीं प्रतिशरीर भिन्न अन्तर्यामियों का उल्लेख किया गया है।

अब लीलावतारों तथा गुणावतारों के स्वरूप का विवेचन किया जाता है। भागवत के **'आप का धाम (स्थान, एवं तेज) शान्त एवं विशुद्धसत्त्वमय है'**[2] (भाग० १०।२७।४), **'सत्त्व जिसकी प्रिय मूर्ति**

---

१. 'तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्यर्थः।''' तत् ब्रह्मैव समवायिकारणम्। कुतः? समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वादस्तिभातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात्, नामरूपयोः कार्यरूपत्वात्, प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वात्।'''नानात्वं त्वैच्छिकमेव जडजीवान्तर्यामिष्वेवैकैकांशप्राकट्यात्।' (अणुभाष्यम् १।१।३)।

२. 'विशुद्धसत्त्वं तव धाम' इति। शुद्धं रजस्तमोभ्यामसम्पृक्तं,

'सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ' (भाग० १०।२।३४) इत्यादि-वाक्येभ्यः, प्राकृतसत्त्वाद् इतरद् भगवद्धर्मात्मकं सत्त्वम् अस्ति, एवं प्राकृतरजस्तमोभ्यामितरे भगवद्धर्मात्मके रजस्तमसी अपि स्तः । *'विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्'* (भाग० १०।२७।४) इत्यस्य सुबोधिन्याम् त्रयाणामप्यप्राकृतत्वनिरूपणात् । 'सत्त्वं रजस्तम

है' (भाग० १०।८९।१८), 'आप (वैदिक धर्म की) स्थिति के लिए विशुद्ध सत्त्व का आश्रय लेते हैं[1]' (भाग० १०।२।३४) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि प्राकृत सत्त्व से भिन्न (एक अन्य) भगवद्धर्मात्मक सत्त्व का अस्तित्व (भी) है । इसी प्रकार प्राकृत रजोगुण तथा प्राकृत तमोगुण से भिन्न अन्य भगवद्धर्मात्मक रजोगुण एवं भगवद्धर्मात्मक तमोगुण भी हैं । इस कथन की सिद्धि भागवत के, 'आपका धाम (स्थान एवं तेज) शान्त एवं विशुद्धसत्त्वमय है' (भाग० १०।२७।४) इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में तीनों गुणों के अप्राकृत होने का निरूपण[2] मिलनेसे होती है । इसी प्रकार भागवत के, 'सत्त्व, रजस् और

विशेषेण शुद्धं सत्त्वेनाप्यसम्पृक्तं तत् तव धाम स्थानं, 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्' (भाग० ४।३।२३) इति, तत्र भगवानाविर्भवति इति वासुदेवः । किञ्च धाम तेजोऽपि सात्त्विकमेव भगवत्तेजः सत्त्वमेव वा । किञ्चेदं सत्त्वं शुद्धसत्त्वान्तरेणापि अमिश्रितं तज्जीवस्थं तरतमभावापन्नं भवति, अत इदं सत्त्वं परमकाष्ठापन्नमेव, तदाह—शान्तम् इति । परमा शान्तिः सत्त्वोत्कर्षो, ज्ञानादयोऽवान्तरभेदा अल्पविक्षेपरूपाः अन्यथा कथं बोधयेत्, कथं वा त्यजेत्, कथं वा भजेत् ? अतः शान्तिरेव परमकाष्ठा ।" (सुबोधिनी १०।२७।४) ।

१. 'स्थितौ स्थित्यर्थम् ('वैदिकधर्मस्थित्यर्थम्' सुबोधिनीप्रकाशः) यदा भवान् विशुद्धं सत्त्वं सत्त्वगुणं श्रयते ।' (सुबोधिनी १०।२।३४) ।

२. "ते गुणाश्च अप्राकृताः सच्चिदानन्दधर्मरूपाः प्राकृतेभ्यो भिन्नाः, अन्यथा 'प्रकृतिजैः त्रिभिः मुक्तं सत्त्वं पृथिव्यादिषु नास्ति' इति न वदेत्,

इति निर्गुणस्य गुणाः त्रयः' (भाग० २।५।१८) इत्यत्र भगवद्-गुणत्वेन त्रयाणामुक्तेः, सुबोधिन्यां[1] तथा व्याख्यातत्वाच्च।

तत्र[2] अप्राकृतसत्त्वं स्वचिकीर्षितमत्स्याद्याकृति विधाय तत्र अयःपिण्डे वह्निरिवाविर्भूय तत्तत्कार्याणि करोति। अस्मिन् विशुद्धसत्त्वात्मके विग्रहे जगत्स्थितिकार्यचिकीर्षया वह्न्य-

---

तमस् ये तीन निर्गुण पुरुष के तीन गुण हैं' (भाग० २।५।१८) इस श्लोक में तीनों के भगवान् का गुण कहे जाने से तथा इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में इनकी इसी प्रकार की व्याख्या उपलब्ध होने से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

भगवान् जब मत्स्यादि रूप में अवतरित होना चाहते हैं तो अप्राकृत सत्त्व को अपनी अभिलषित मत्स्यादि आकृति का कर के उसमें लौहपिण्ड या अयोगोलक में अग्नि के समान आविर्भूत होकर उस अवतार के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों को करते हैं। इस विशुद्ध सत्त्वात्मक

तस्यैवाप्रसिद्धत्वाद्, गुणावताराश्च भगवतोऽप्राकृता न भवेयुः।" (सुबोधिनी १०।२७।४)।

१. 'यथोर्णनाभिः सृष्ट्यर्थमेकामूर्णामुद्वमते तथा भगवानपि त्रिविध-सृष्ट्यर्थं त्रीन् गुणानुद्वमते। गुणरूपत्वाच्च गुणशब्दव्यवहारः। सद्रूपेण निर्गतं सत्त्वम् इत्युच्यते। केवलचिद्रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् सदानन्दा-भावाच्च रज इत्युच्यते। आनन्दांशाच्च तमः। ते भगवद्रूपा एव भगवता सृष्टाः। न च भगवति ते पूर्वं स्थिताः तथा सति भगवदात्मकास्ते न भवेयुः। यथा कार्पासे नहि सूत्रम्, तदेव हि पश्चात् स्वावयवैः पौर्वापर्यमा-पद्यमानं सूत्रतामापद्यते। अत एव भगवान्निर्गुणः।' (सुबोधिनी २।५।१८)।

२. 'ते त्रयो गुणाः ब्रह्मविष्णुशिवेष्वेव प्रतिष्ठिताः। अतः सच्चिदा-नन्दधर्मत्वाद् यदा ब्रह्मादिष्वितरापेक्षा तदेतरभजनम्। सति सत्त्वं, चिति रज आनन्दस्तमसीति। भगवांस्तु कदाचिद् विष्णोः सत्त्वमाधारत्वेन गृह्णाति, यदि न केवलः समायाति।' (सुबोधिनी १०।२७।४)।

योगोलकन्यायेन आविश्य विष्णुसंज्ञां भजते। स गुणावतारो विष्णुः। अप्राकृते रजसि विग्रहभूते वह्न्ययोगोलकन्यायेन प्रविश्य ब्रह्मसंज्ञां भजते। अप्राकृते तमसि विग्रहभूते वह्न्ययोगोलकन्यायेन प्रविष्टः शिवशब्दवाच्यो भवति।

एते त्रयो गुणावतारा अप्राकृतदेहा अपि, प्राकृतसत्त्वरजस्तमसां, *'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष'*[1] (भाग० १।२।२३) इत्यादिप्रमाणसिद्धानां पूर्वोक्तभगवद्धर्मसत्त्वादिभ्यो भिन्नानां नियामकतया सगुणा उच्यन्ते। अत एवैते पुराणादिषु परब्रह्मधर्मवत्त्वेन स्तूयन्ते, अंशिना कृष्णेन

विग्रह में जगत् की स्थिति (अर्थात् प्रपञ्च का पालन-पोषण) करने की इच्छा से वह्न्ययोगोलकन्याय से प्रविष्ट होकर वे 'विष्णु' इस नाम को धारण करते हैं। वह गुणावतार विष्णु कहा जाता है। विग्रहभूत अर्थात् शरीराकार में परिणत अप्राकृत रजोगुण में वह्न्ययोगोलक न्याय से प्रविष्ट होकर वे 'ब्रह्मा' इस नाम को धारण करते हैं, तथा विग्रहभूत अर्थात् देहाकार में परिणत अप्राकृत तमोगुण में वह्न्ययोगोलकन्याय से प्रविष्ट होकर वे 'शिव' शब्द के वाच्य हो जाते हैं।

यह तीनों गुणावतार अप्राकृत शरीर वाले होते हुए भी, 'सत्त्व, रजस् और तमस् ये प्रकृति के गुण हैं, उनसे युक्त परम पुरुष (इस जगत् की स्थिति आदि के लिये हरि, विरिञ्चि और हर आदि नाम धारण करता है)' (भाग० १।२।२३) इत्यादि आप्तवाक्यों (अर्थात् शब्द प्रमाण) से सिद्ध पूर्वोक्त भगवद्धर्म रूप सत्त्वादि से भिन्न सत्त्वादि गुणों के नियामक होने के कारण सगुण कहलाते हैं। इसीलिये पुराणादि में इन गुणावतारों की अपने अंशी कृष्ण से अभिन्न होने के कारण परब्रह्म

---

१. सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते। स्थित्यादये हरि-विरिञ्चि-हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥ (भाग० १।२।२३)।

अभेदात्। अत्र एतावान् विशेषः, त्रयाणां गुणावतारत्वेऽपि विष्णौ चतुर्भुजाद्याकाराणां पीताम्बर-वनमालादीनां पुरुषोत्तम-धर्माणां बहूनां प्रकटत्वेन ब्रह्म-शिवापेक्षया उत्कृष्टत्वं ज्ञेयम्। अत एव '*श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः*'[1] (भाग० १।२।२३) इति श्रीभागवते उक्तम्[2]।

एतावता ग्रन्थेन सिद्धमेतत्। मूलरूपस्य चत्वारि रूपाणि।

के धर्मों से युक्त होने के रूप में स्तुति उपलब्ध होती है। इस सन्दर्भ में एक विशेष अवधेय बात यह है कि यद्यपि विष्णु, ब्रह्मा और शिव तीनों ही गुणावतार हैं तथापि विष्णु में चतुर्भुजादि आकार, पीताम्बर तथा वनमाला आदि पुरुषोत्तम के अनेक धर्मों के प्रकट होने के कारण उन्हें ब्रह्मा और शिव गुणावतारों की अपेक्षा उत्कृष्ट समझना चाहिए। इसी-लिये श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि 'उपर्युक्त तीनों गुणावतारों में से सत्त्वमूर्ति विष्णु से मनुष्यों के श्रेय की सिद्धि होती है' (भाग० १।२।२३)।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि मूल रूप के चार रूप

---

१. "तथा अद्वैते गुणा कार्यार्थं करणत्वेन गृहीता अपि निरन्तरग्रहणाद् उपाधिरूपा जाताः, तेन यद्भजनं तदुपाधावेव पर्यवसितं भवतीति सत्त्वो-पाधिरेव सेव्य इत्यभिप्रायेणाह—'श्रेयांसि' इति। तत्रैवं निर्णयः। सेवकः सेव्यं यादृशं रूपं पश्यति स्वस्यापि तादृशं रूपं सम्पादयति। साधनानि च तानि यद्यपि अपहतपाप्मानं भगवन्तमन्यथाकर्तुं न शक्नुवन्ति तथापि जीवमन्यथा कुर्वन्त्येव। ततश्च यादृशेन रूपेण साधनेन वा नान्यथाभावः तादृशरूपवानेवेश्वरः सेव्यः, नाशशङ्काभावात्।....श्रेयांसि शुभफलानि तत्र भजनीयरूपेषु खलु इति सम्मतिः सोपपत्तिका सा निरूपिता। 'सत्त्वतनोः' इति तनुशब्दात् दृष्टोपाधित्वमुक्तम्। नृणां साधारण-जीवानाम्।" (सुबोधिनी १।२।२३)।

२. द्रष्टव्य, बालबोधः, श्लोक १०–१६।

तत्र एकं पुरुषोत्तमस्वरूपं श्रीकृष्णशब्दवाच्यम्। एकम् अक्षरं स्वरूपम्, तच्च पूर्वोक्तरीत्या द्विविधम्। एकम् अन्तर्यामिरूपम्। एवं चातुर्विध्यं ज्ञेयम्। इदमलौकिकं प्रमेयं वेदान्तप्रतिपाद्यं भगवत्कृपैकलभ्यं यथाबुद्धि मया निरूपितम्। विशेषजिज्ञासायां तु भाष्य-सुबोधिनी-निबन्ध-विद्वन्मण्डनादयो ग्रन्था अवलोकनीया इत्यलं लेखेन ॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे
मूलरूपविवेकः सम्पूर्णः ॥ ३ ॥

हैं। इनमें से एक पुरुषोत्तम स्वरूप है और श्रीकृष्ण शब्द का वाच्य है। एक अक्षर स्वरूप है जो पूर्वोक्त रीति से द्विविध है। एक अन्तर्यामी रूप है। इस प्रकार चतुर्विध रूप समझने चाहिए। यह अलौकिक प्रमेय वेदान्तप्रतिपाद्य है और केवल भगवत्कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। मैंने इस प्रमेय का अपनी बुद्धि के अनुसार निरूपण किया है। इस विषय में विशेष जिज्ञासा होने पर अणुभाष्य, भागवत की सुबोधिनी टीका, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध तथा विद्वन्मण्डन आदि ग्रन्थ देखने चाहिए, अतः इस विवेचन को यहीं समाप्त किया जाता है।

श्रीगोवर्द्धनधर, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ के चरणों के अनुगामी (अथवा अनुचरों के) सेवक, लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध बालकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित प्रमेयरत्नार्णव का मूलरूपविवेक नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

पुष्टिविवेकः

(चतुर्थोऽध्यायः)

अथेदं विचार्यते, का पुष्टिः कश्च पुष्टिमार्ग इति। तत्र, 'पोषणं तदनुग्रहः'[1] (भाग० २।१०।४) इति शुकवाक्यात्, 'कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका'[2] (भागवतार्थप्र० का० ६।२) इति निबन्धोक्तत्वाच्च अनुग्रहरूपो भगवद्धर्मः पुष्टिः।

पुष्टि-विवेक

(चतुर्थ अध्याय)

अब हम इस विषय का विचार करेंगे कि पुष्टि किसे कहते हैं और पुष्टिमार्ग कौन सा है। शुकदेव के 'पोषण भगवान् के अनुग्रह को कहते हैं' (भाग० २।१०।४) तथा तत्त्वदीपनिबन्ध के 'कृष्णानुग्रहरूपा पुष्टि काल आदि का बाध करने वाली है' (भागवतार्थप्र० का० ६।२) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि अनुग्रहरूप भगवान् का धर्म (अर्थात् भगवान् का अनुग्रहरूप धर्म) पुष्टि कहा जाता है। पुष्टि

---

१. "पुष्टिं लक्षयति—'तदनुग्रह' इति। तस्य वैकुण्ठस्य जितेषु स्वाधीनीकृतेषु योऽयमनुग्रहः तेषु मर्यादार्थं सप्त पृथक्कृत्य शिष्टेष्वनुग्रहः। महाभूतेष्वात्मद्वये च नानुग्रहः। तत्र मर्यादैव।" (सुबोधिनी २।१०।४)। 'प्रसादकृपादीन्यस्यैव पर्यायाः। एवञ्च कालादिनिवर्तकोऽनुग्रहापरनामा वीर्यविशेषरूपो भगवद्धर्मः पुष्टिरिति सिद्धम्।' (भागवतार्थप्र० योजना ६।३)।

२. "....रक्षा हि त्रयीद्विषां स्वरूपमात्रनाशिका। पुष्टिस्तु तेषामपि स्वभावस्य बाधिका यया स्वरूपतः सन्तोऽपि न त्रयीं द्विषन्ति, हताश्च मुक्ता भवन्ति। अतः प्रकारोऽपि अत्रालौकिक इत्यर्थः।' (भागवतार्थप्रकरण योजना ६।२)।

सा च विलक्षणा लौकिकालौकिकफलसाधिका, अतोऽधिकारि-विशेषे निःसाधने श्लाघ्यफलं जनयन्ती तेनैव अनुमीयते। तदुक्तं निबन्धे, '*अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावान्निरूपितः*'[1] (भागवतार्थप्र० का० ६।२) इति। अर्थस्तु—*गूढभावाद्* अनुग्रहस्य गूढत्वात् *लोकसिद्धः* लोके उत्तमफलजननेन प्रकटीभूतः, *अनुग्रहः निरूपितः* षष्ठस्कन्धे वर्णितः। तत्कार्यं विवेचितम्

लौकिक एवं अलौकिक फलोंकी सिद्धि या प्राप्ति का विलक्षण साधन है, जिससे निःसाधन अधिकारी को भी श्लाघ्य फल की प्राप्ति होती है, अतः पुष्टि का अनुमान निःसाधन व्यक्ति के श्लाघनीय फलों को प्राप्त करने के तथ्य से होता है। इसीलिये तत्त्वदीपनिबन्ध में कहा गया है कि 'अनुग्रह के गूढ होने के कारण लोकप्रसिद्ध अनुग्रह का निरूपण किया गया है' (भागवतार्थप्र० का० ६।२)। निबन्ध के इस वाक्य का अर्थ यह है कि गूढभावात् अर्थात् अनुग्रह के गूढ होने के कारण, लोकसिद्ध अर्थात् लोक में उत्तम फलों को उत्पन्न करने या प्राप्त कराने के द्वारा प्रकट हुए अनुग्रह का निरूपण अर्थात् षष्ठ स्कन्ध में वर्णन किया गया है। अजामिल आदि की कथाओं में अनुग्रह के कार्य का

---

१. "ननु, अनुग्रहस्य अप्रसिद्धत्वाल्लक्षणमसम्भवीत्याकाङ्क्षायामाहुः 'अनुग्रहो लोकसिद्ध' इति। अनुग्रहः कृपापरपर्यायो मनस आत्मनो वा धर्मविशेष इच्छादिव्यतिरिक्तो, लोकसिद्ध इति लोके क्षीणधनस्याधमर्णस्य उत्तमर्णैः स्वल्पधनग्रहणेनानृणित्वसम्पादने, स्मृतौ प्रायश्चित्ताशक्तस्य पापनिवृत्तये स्वल्पप्रायश्चित्तबोधने च पार्षदनुग्रहत्वादिरूपेण प्रसिद्धोऽतो न लक्षणमसम्भवीत्यर्थः। ननु, अन्यधर्मो भगवति कुत उच्यत इत्यत आहुः—गूढेत्यादि। कम्पनाधिकरणविषयवाक्येन प्रलयकर्तृत्वेन च भगवतः क्रूरत्वा-वगमात् स न प्रसिद्धो वस्तुतस्त्वस्तीति गूढभावात्। अनुकृत्यधिकरणे सर्वस्य भगवदनुकारितायाः सिद्धत्वाल्लौकिकेन तेनानुमेयः, सोऽत्र मूलरूपे कार्यद्वारा निश्चायित इत्यर्थः।" (भागवतार्थप्र० योजना ६।२)।

अजामिलादिषु, अतो निन्दितकर्मनिरतः संकेतितभगवन्नाम्ना मोचितः, विश्वरूप-दधीचि-वृत्राणां कर्मि-ज्ञानि-भक्तानां हन्ता[1], अनिष्टफलभोगयोग्यः शक्रोऽपि पुष्ट्या रक्षितः, दितिगर्भो वज्रहतोऽपि न मृतः, प्रत्युत बहुत्वं सम्पन्नम्[2]। अत एव उक्तम्,

'एवमिन्द्रे महापुष्टिः सर्वबाधा निरूपिता।
सर्वबाधकरूपा हि दैत्ये पुष्टिरथोच्यते[3] ॥' (भागवतार्थप्र०

विवेचन किया गया है, क्योंकि वहाँ यह कहा गया है निन्दित कर्म करने वाला अजामिल भगवान् के नाम का उच्चारण करने मात्र से भगवान् द्वारा (अनुग्रह कर) मुक्त कर दिया गया, कर्मनिष्ठ विश्वरूप, ज्ञानी दधीचि और भक्तप्रवर वृत्र को मार डालने वाले और अनिष्ट फलों का भोग करने के योग्य इन्द्र की भी भगवान् के अनुग्रह के द्वारा रक्षा की गयी, तथा दिति का गर्भ इद्र के वज्रप्रहार से भी मरा नहीं प्रत्युत उसके अनेक भाग हो गये। इसीलिये भागवतार्थप्रकरण में कहा गया है, **'इस प्रकार देवप्रकरण में इन्द्र के सन्दर्भ में सर्वबाधा पुष्टि का निरूपण किया गया है और उसके बाद दैत्यप्रकरण में सर्वबाधकरूपा** (अर्थात् काल, कर्म और स्वभाव का बाध करनेवाली) **पुष्टि का निरूपण किया गया**

---

१. 'दिष्ट्या भवान् मे समुपस्थितो रिपुः यो ब्रह्महा, गुरुहा, भ्रातृहा च।' (भाग० ६।११।१४)।

२. अत्रं च वेदतात्पर्यानभिज्ञयमदूतताडनाद् धर्मालीककर्तुर्विश्वरूपस्य पापस्य वृत्रस्य च हननाद् दितिगर्भच्छेदनाच्च सामान्यलक्षणसमन्वयः, एवमजामिलदुष्कर्मण इन्द्रमृत्योर्वृत्रस्वभावकर्मणोः, दितेः स्वभावस्य, मरुतां कालकर्मस्वभानां बाधनाच्च विशेषलक्षणसमन्वयः।' (भागवतार्थप्र० योजना ६।३)।

३. "प्रकरणमुपसंहरन्ति, 'एवम्' इत्यादि। एवमत्र सार्द्धः सप्तत्रिंशद्भिः देवप्रकरणं विचारितम्। अतः परमष्टभिः दैत्यप्रकरणं विचारयन्ति—

का० ६।९१) । *महापुष्टित्वं तु* बलवत्प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वक-स्वपादावाप्तिसाधकत्वम् । *'सर्वबाधा'* इत्यत्र सर्वशब्देन काल-कर्म-स्वभावा ग्राह्याः । तदिह कुत्सितकर्मणामनिष्टफलाजनकत्वेन तद्बाध इन्द्रे स्पष्टः । दितिगर्भप्रसङ्गे वज्रप्रहारस्य प्राणवियोगसाधकत्वस्वभावबाधो ज्ञेयः,

'न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया ।
बहुधा कुलिशक्षुण्णो, द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान् ॥' (भाग० ६।१८।६५) इति वाक्यात् । एवमन्यत्रापि बोध्यम् ।

है ।' (भागवतार्थप्र० का० ६।९१) । महापुष्टि भगवान् के उस अनुग्रह को कहते हैं जो भगवत्प्राप्ति के मार्ग में आनेवाली बड़ी-बड़ी बाधाओं को दूर कर उसे भगवच्चरणारविन्दों की प्राप्ति करा देने का साधन बनता है । श्लोक में प्रयुक्त **'सर्वबाधा'** पद में आये **'सर्व'** शब्द से काल, कर्म और स्वभाव का ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार इन्द्र पर अनुग्रह के प्रसङ्ग में इन्द्र के दुष्कर्मों के अनिष्ट फल की उत्पत्ति न होने देने के कारण, भगवान् के अनुग्रह से उन कर्मों का बाध होना स्पष्ट है । दिति के गर्भ पर अनुग्रह के प्रसङ्ग में भगवदनुग्रह से वज्रप्रहार के प्राणों को वियुक्त कर देने (अर्थात् मार डालने) के साधन होने के स्वभाव का बाध हुआ समझना चाहिए, जैसा कि भागवत के, **'जिस प्रकार अश्वत्थामा के अस्त्र के प्रहार से आप नहीं मरे थे, उसी प्रकार इन्द्र के वज्र के प्रहार से टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी दिति के गर्भ की मृत्यु नहीं हुई, क्योंकि उस पर भगवान् श्रीनिवास की कृपा थी'** (भाग० ६।१८।६५) इस वाक्य से ज्ञात होता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए ।

'सर्व' इत्यादि । 'दैत्ये' इति, दैत्यप्रकरणे 'सर्वबाधकरूपा' इति कालकर्मस्वभावबाधिका । तेन पूर्वस्माद्विशेष उक्तः । नामप्रकरणे कर्मबाधिका, रूपप्रकरणे हर्यश्वादीनां कर्मबाधिका, वृत्रस्य स्वभावबाधिका इति ततोऽधिका अत्र तु मरुतां त्रितयबाधिकेति ।" (भागवतार्थप्र० योजना ६।९१) ।

इयं च पुष्टिः चतुर्विधपुमर्थान् साधयति। अत एव सुबोधिन्याम् उक्तम्, *'सहस्रार्जुनो भगवदंशः पुष्ट्या राजा बभूव'* इति। निबन्धे देवहूतिमुक्तिश्च पुष्टिकारणिका निरूपिता। योगादीनां तु व्यापारत्वम् उक्तमेव, अजामिलादिषु नामादीनामिव। तदुक्तं निबन्धे,

---

यह पुष्टि चार प्रकार के पुरुषार्थों की सिद्धि या प्राप्ति करा देती हैं। इसीलिये सुबोधिनीमें कहा गया है कि **'भगवदंश सहस्रार्जुन भगत्कृपा से राजा हुआ,'** तथा तत्त्वदीपनिबन्ध में देवहूति को भगवदनुग्रह से मुक्ति प्राप्त होने का निरूपण किया गया है। अजामिल आदि की कथाओं में नाम आदि के समान ही योगादि का व्यापारत्व तो (भागवत और तत्त्वदीपनिबन्ध में, प्रकृत प्रकरण के) पहले ही निरूपित किया जा चुका है। इसीलिये निबन्ध में गहा गया हैं कि, '(पुष्टि का कालादिबाधिका होना केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं अपितु देवताओं के लिये भो दुर्ज्ञेय है, यह बताने के लिये) कालादिनिवर्तक के व्यापारभूत नामादि अर्थात् भगवन्नाम, भगवद्ध्यान तथा भगवदर्चन आदि का कालादिनिवर्तक के रूप में निरूपण किया गया है। नाम आदि में जो कालादिनिवर्तकत्व प्रतिपादित किया गया है वह (नामत्वादि की दृष्टि से नहीं प्रत्युत) नामादि में भगवान् के वीर्य की दृष्टि से ही[1]।' (भाग-

---

१. "ननु अत्र कालादिनिवर्तकत्वं नामादिषु प्रतीयते न तु पुष्टौ इति कथं तस्याः तथात्वमित्यत आहुः, 'देव'–इत्यादि। न हि पुष्टेः तथात्वं मनुष्याणामेव दुर्ज्ञेयम् किन्तु देवानामपि, इति देवगुह्यत्वज्ञापनार्थं तद्व्यापारभूतं नामादिकं तथात्वेन निरूप्यत इति शेषः। ननु कथमेतदवगम्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः, 'पुर' इत्यादि। अत्र हि नामादिषु यत्तथात्वं निरूप्यते तन्न नामत्वादिकं पुरस्कृत्य किन्तु, 'नामव्याहरणं विष्णोः····महापुरुषपूजायाःसिद्धिः काम्यानुषङ्गिकी' इत्यादिकथनाद्भगवद्वीर्यं पुरस्कृत्य इति तेनावगम्यत इत्यर्थः।" (भागवतार्थप्र० योजना ६।३)।

'नामध्यानार्चनादिकं; पुरस्कृत्य हरेः वीर्यं नामादिषु निरुप्यते[1] ॥' (भागवतार्थप्र०.का० ६।३) इति । इदं सामान्यानुग्रहस्वरूपम् ।

पुष्टिविशेषस्तु केवलं भगवत्स्वरूपफलिकां भक्तिं साधयति । अतस्तज्जन्या भक्तिः पुष्टिभक्तिः इत्युच्यते । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्याम्; 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः[2]' (सिद्धान्तमुक्तावली, १८) इति । 'पुष्टिमार्गे' पुष्टिभक्तिमार्गे इत्यर्थः । 'तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं च नुमस्तदीयांश्च' (भक्तिहेतु-

---

वतार्थ प्र० का० ६।३) । यह सामान्य अनुग्रह का स्वरूप है ।

पुष्टि विशेष अर्थात् विशेष अनुग्रह से भगवत्स्वरूप (की उपलब्धि) रूप फल की देने वाली भक्ति सम्पादित या सिद्ध होती है, अतः उस विशेष अनुग्रह से उत्पन्न होनेवाली भक्ति पुष्टिभक्ति कही जाती है । इसीलिये सिद्धान्तमुक्तावली में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है, 'पुष्टिमार्ग में अनुग्रह ही नियामक है, ऐसी व्यवस्था है' (सिद्धान्तमुक्तावली १८) । इस श्लोकार्ध में प्रयुक्त 'पुष्टिमार्गे' इस पद का अर्थ है पुष्टिभक्तिमार्ग में । भक्तिहेतुनिर्णय के प्रारम्भ में गोस्वामी विट्ठलनाथ ने भी 'हम केवल भगवान् कृष्ण के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकने वाली

---

१. देवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नामध्यानार्चनादिकम् ।
पुरस्कृत्य हरेर्वीर्यं नामादिषु निरूप्यते ।। (भागवतार्थप्र०का० ६।३)

२. इस वाक्य का अर्थ करते हुए बालकृष्णभट्ट लिखते हैं, "पुष्टिमार्गे इति पुष्टिजन्यो भक्तिमार्ग इत्यर्थः । पुष्टिश्च 'पोषणं तदनुग्रहः' (भाग० २।१०।४) इति वाक्यादनुग्रहरूपो भगवद्धर्मः सर्वलौकिकोत्तमफलसाधकः । तज्जन्यत्वं पुष्टिभक्तौ । अत्र पुष्टिशब्देन पुष्टिविशेषो ग्राह्यः।.... अतः साधारणानुग्रहो लौकिकफलसाधकः, विशेषानुग्रहस्तादृग्भक्तिहेतुरिति निष्कर्षः ।.... पुष्टिजन्या भक्तिः पुष्टिभक्तिः । अत एवोक्तं श्रीमत्प्रभुचरणैः 'तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं च नुम' (भक्तिहेतुनिर्णयः, १) इति भक्तिहेतुनिर्णये ।" (सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना १८) ।

निर्णयः, १) इति भक्तिहेतुनिर्णयेऽपि । अत एव भक्त्या कार्य-रूपया पुष्टिविशेषोऽनुमीयते । तदुक्तं पुष्टिप्रवाहमर्यादा-निरूपणे[1], *'भक्तिमार्गस्य कथनाद् पुष्टिरस्तीति निश्चयः'* (पुष्टिप्र० २) इति । अयमर्थः, *'मनोगतिरविच्छिन्ना' यथा गङ्गाम्भसोऽ-म्बुधौ*[2] (भाग० ३।२९।११) इत्यारभ्य, *'स एव भक्तियोगाख्य*

भक्ति तथा भगवान् कृष्ण के अनन्य भक्तों को नमस्कार करते हैं[3]' (भक्तिहेतुनिर्णय, १), इस श्लोक में इसी आशय को अभिव्यक्त किया है । इसीलिये कार्यरूप भक्ति के द्वारा पुष्टिविशेष अर्थात् विशेष अनुग्रह का अनुमान किया जाता है। इसीलिये श्रीवल्लभाचार्यने पुष्टिप्रवाहमर्यादा-भेद में कहा है कि, ' (शास्त्रों में) भक्तिमार्ग का प्रतिपादन उपलब्ध होने से (उस भक्ति की बीजभूत भगवद्धर्मरूप) पुष्टिके होने का निश्चय होता है' (पुष्टिप्र० २) । श्रीवल्लभाचार्य के इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि भागवत में ग्रन्थ के प्रारम्भ में, 'जिस प्रकार गङ्गाजल पर्वतादि को पार कर के भी समुद्रमें अविच्छिन्न रूप से गिरता है उसी प्रकार लौकिक और वैदिक प्रतिबन्धों को दूर कर मन को भगवान् में तैलधारा-वदनवच्छिन्न रूप से लगा देना (निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है[4]),' (भाग० ३।२९।११) इस श्लोक से प्रारम्भ कर, 'वही

---

१. द्रष्टव्य; श्रीमत्पीताम्बरकृत पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदव्याख्या, २ ।

२. मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।। (भाग० ३।२९।११)

३. 'ब्रह्मादिदुर्लभकथं राधामानापनोदकं कृष्णम् ।
तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं च नुमस्तदीयांश्च ।।' (भक्तिहेतुनिर्णयः, १)

४. 'सर्वगुहाशये मयि भगवति प्रतिबन्धरहिता अविच्छिन्ना या मनोगतिः । पर्वतादिभेदनमपि कृत्वा यथा गङ्गाम्भोऽम्बुधौ गच्छति, तथा लौकिकवैदिकप्रतिबन्धान् दूरीकृत्य या भगवति मनसो गतिः । मनस इत्युपलक्षणं, दुर्लभत्वाय वा यथा कायिकगतिर्गोपिकानाम् । सा गतिः

आत्यन्तिक उदाहृतः' (भाग० ३।२९।१४) इत्यन्तं, ग्रन्थादौ भागवते भक्तिमार्गस्य निर्गुणस्य निरूपणाद्. भक्तिसत्तायां सिद्धायां तादृश्या भक्त्या तत्कारणीभूता पुष्टिः अनुग्रहरूपा भगवति अस्ति इति निश्चय इत्यर्थः। सापि ईशानुकथा-शब्देन नवमस्कन्धे व्यवह्रियते। ईशस्य अनुगामिनां कथा भगवच्छ्रवणादिरूपं चरित्रम् इत्यर्थः[1]। तच्च द्विविधं मर्यादा-भक्तिरूपं, पुष्टिरूपं च। तत्र विशेषानुग्रहजन्या या भक्तिः सा पुष्टिभक्तिः। तल्लक्षणं तु भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षा-

---

भक्तियोग कहा जाता है और उसे ही आत्यन्तिक कहा गया है[2]' (भाग० ३।२९।१४) इस श्लोक तक निर्गुण भक्तिमार्ग का निरूपण उपलब्ध होने से भक्ति की सत्ता सिद्ध हो जाने पर उस भक्ति से उसकी कारणभूत भगवदनुग्रहरूप पुष्टि के होने का निश्चय होता है। नवमस्कन्ध में उसके लिये ईशानुकथा शब्द का व्यवहार किया गया है। ईशानुकथा का अर्थ है ईश अर्थात् भगवान् के अनुगामियों अर्थात् भक्तों की कथा अर्थात् भगवान् (की लीलाओं) का श्रवण करना आदि रूप चरित्र या भक्ति। उसके दो भेद हैं, मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति। विशेष अनुग्रह से उत्पन्न (अर्थात् प्राप्त) होने वाली भक्ति पुष्टिभक्ति कही जाती है। उसका लक्षण है, 'भगवान् के स्वरूप

निर्गुणस्य भक्तियोगस्य भगवति प्रेम्णो गतिः लक्षणं ज्ञापकमित्युत्तरेण सम्बन्धः'। (सुबोधिनी ३।२९।११)।[3]

१. इसी बात को बालकृष्णभट्टजीने अन्यत्र इन शब्दों में कहा है, 'सा च नवमस्कन्धे सूर्यसोमवंशीयवृत्तान्तकथनेन प्रपञ्चिता मर्यादापुष्टिभेदे-शानुकथाशब्देन व्यवह्रियते, ईशस्य अनुगामिनां भक्तानां कथा भक्ति-रित्यर्थः।' (सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना १८)।

२. 'भक्तियोग इति तस्यैव नाम। स एव आत्यन्तिक इति उदाहृतः।' (सुबोधिनी ३।२९।१४)।

रहितत्वे सति भगवत्स्वरूपात्मकफलाकाङ्क्षावत्त्वम्[1]। अत एव '*अक्षण्वतः फलम्*[2]' (भाग० १०।२१।७) इत्यत्र स्वरूपस्यैव फलत्वं निरणायि। अतः पुष्टिमार्गीया न तदतिरिक्तं कामयन्ते; '*न योगसिद्धीः अपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्*[3]'

(की प्राप्ति) के अतिरिक्त किसी अन्य फल की आकाङ्क्षा न रखते हुए भगवत्स्वरूपात्मक फल की (प्राप्ति की) आकाङ्क्षा करना।' इसीलिये, 'चक्षुरादि इन्द्रियों से सम्पन्न व्यक्तियों के लिये (चरम) फल यही है' (भाग० १०।२१।७) इस श्लोक की सुबोधिनी में श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भगवत्स्वरूपोपलब्धि के ही फल होने का निर्णय किया है। अतः जैसाकि भगवान् के 'जिसने अपने को मुझे समर्पित

१. पुष्टिभक्ति का लक्षण बताते हुए अन्यत्र श्रीबालकृष्णभट्ट लिखते हैं, "भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षारहिता भक्तिः पुष्टिभक्तिः इति पुष्टिभक्तेर्लक्षणं ज्ञेयम्। न च निष्काममर्यादाभक्तावतिव्याप्तिः; अत्र मोक्षात्मकफलस्याकाङ्क्षितत्वात। न च, 'मोक्षः स्वरूपात्मक एव' इति वाच्यम्, 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे' (भाग० ६।११।२५) इति वृत्रवाक्ये स्वरूपातिरेककथनात्। अत एव पुष्टिमार्गीयाः नैनं कामयन्ते। एतच्च 'अक्षण्वताम्' (भाग० १०।२१।७) इति श्लोकविवृतौ, 'वीक्ष्यालकावृतमुखम्' (भाग० १०।२९।३९) इत्यस्य सुबोधिन्यां स्पष्टम्। अत एव मोक्षकामनापि काममध्ये विमृष्टा।.... अतः स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षारहिताः पुष्टिभक्ता एव इति सुधीभिर्विभावनीयम्।" (सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना १८)।

२. अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥
(भाग० १०।२१।७)।

३. न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(भाग० ११।१४।१४), मिलाइये, भाग० ६।११।२५।

(भाग० ११।१४।१४) इति भगवद्वाक्यात्, *'वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रि'*[1] (भाग० १०।२९।३९) इति पुष्टिभक्तव्रज-सुन्दरीवाक्ये स्पष्टम्, भक्तिहंसे च निरूपितम्, *'भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्'* (भक्तिहंसः, पृष्ठ २७) इत्यनेन।

सा पुष्टिभक्तिश्चतुर्धा प्रवाहपुष्टिभक्ति—मर्यादापुष्टिभक्ति-पुष्टिपुष्टिभक्ति—शुद्धपुष्टिभक्तिभेदात्,

'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः, प्रवाहेण क्रियारताः।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाऽतिदुर्लभाः' ॥ (पुष्टिप्र० १४),

---

कर दिया है वह मेरे सिवा योगसिद्धि या कैवल्य आदि कुछ नहीं चाहता' (भाग० ११।१४।१४) इस वाक्य से सिद्ध होता है पुष्टि-मार्गीय भक्त भगवत्स्वरूप से भिन्न किसी अन्य पदार्थ की कामना नहीं करते। यह पुष्टिभक्त व्रजसुन्दरियों के, 'कुण्डलों से सुशोभित तथा अलकों से आवृत तुम्हारे मुख को देख कर' (भाग० १०।२९।३९) इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है तथा भक्तिहंस में भी 'भक्ति का भगवत्स्वरूप से भिन्न अन्य कोई फल नहीं है' (भक्तिहंस, पृष्ठ २७) इस वाक्य द्वारा इसी बात का प्रतिपादन किया गया है।

वह पुष्टिभक्ति प्रवाहपुष्टिभक्ति, मर्यादापुष्टिभक्ति, पुष्टिपुष्टिभक्ति तथा शुद्धपुष्टिभक्ति के भेद से चार प्रकार की होती है, जैसा कि श्रीवल्लभाचार्य के अधोलिखित कथन से ज्ञात होता है, 'उपर्युक्त चतुर्विध[2] पुष्टिजीवों में पुष्टिमिश्र जीव सर्वज्ञ, प्रवाहमिश्र जीव क्रियारत एवं मर्यादामिश्र जीव गुणज्ञ होते हैं। शुद्ध जीव प्रेमप्रधान होते हैं

---

१. वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रि गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥
(भाग० १०।२९।३९)।

२. ते हि द्विधा शुद्ध-मिश्रभेदात्, मिश्राः त्रिधा पुनः।
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ॥ (पुष्टिप्र० १३)।

इति वाक्यात्।

'पुष्ट्या[१]' इत्यादि। ये पुष्टिभक्ताः पुनः *पुष्ट्या विमिश्राः* अनुग्रहान्तरेण भजनोपयोगिज्ञानजनकेन युक्ताः ते *सर्वज्ञा* भवन्ति। सर्वशब्देन प्रभु-तल्लीला-तत्परिकर-प्रपञ्चस्वरूपादि ग्राह्यम्। सर्ववस्तूनां यथोक्तस्वरूपं विदित्वा ये भजन्ते ते पुष्टिभक्ता इत्यर्थः।

(और उनका ज्ञापक या उपलक्षक प्रेम ही है)। ये शुद्ध जीव अति-दुर्लभ हैं।' (पुष्टिप्र० १४)।

'पुष्ट्या' इस पद से प्रारम्भ होने वाले पूर्वोक्त उद्धरण के प्रथम चरण की व्याख्या करते हैं। जो पुष्टिभक्त पुष्टि से संवलित अर्थात् भजनोपयोगी ज्ञान के उत्पादक अनुग्रहान्तर (अर्थात् एक अन्य अनुग्रह) से युक्त हैं, वे सर्वज्ञ होते हैं। सर्वज्ञ शब्द के घटक सर्व शब्द से भगवान्, उनकी लीला, उनके परिकर तथा प्रपञ्च के स्वरूप आदि का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि जो सभी पदार्थों का यथोक्त स्वरूप जान कर भगवान् की भक्ति करते हैं वे पुष्टिभक्त हैं।

"पुष्टिजीवान् विभजन्ते, 'ते हि द्विधा' इति। ते पुष्टिजीवादयः। हि यतो हेतोः भगवत्कार्यस्य लीलावैचित्र्यस्य सिद्ध्यर्थम्, शुद्धमिश्रभेदेन द्विप्रकाराः। मिश्राः पुनः प्रवाहमर्यादापुष्टीनां यो विभेदः विशिष्टः शुद्धादतिरिक्तः सङ्कीर्णो भेदः, तेन त्रिप्रकाराः, प्रवाहमिश्राः, मर्यादामिश्राः, पुष्टिमिश्रा इति।" (पुष्टिप्र० व्याख्या १३)।

१. "एते मामभिजानन्तु इत्यभिध्यापूर्विका या पुष्टिस्तया मिश्रा ये पुष्टावङ्गीकृताः ते सर्वज्ञा यथा तथा भगवत्स्वरूपज्ञातारो भवन्ति। तेन सर्वज्ञत्वं तदभिज्ञापकं लिङ्गम्। उदाहरणं तु नारदर्षभादयः। ज्ञानमिश्राः परमभक्ता इति यावत्।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥ इत्यादिवाक्यानामेते

'*प्रवाहेण*[१]' इति । प्रवाहस्य अहन्ताममतात्मकसंसार-प्रधानत्वात् तद्धर्मेण केवलं कर्मरुचयः, पुष्टिभक्तत्वाच्च भगवदुपयोगि क्रियायां प्रवर्तन्ते प्रवाहपुष्टिभक्ताः ।

'*मर्यादया*[२]' इति । मर्यादा हि जीवस्य रागतो विषयप्रवृत्तिं निराकृत्य निवृत्तिमार्गीयधर्मेषु योजयति । अतो मर्यादया मिश्रणाद् विषयासक्तिम् अविभाव्य भगवत्कथाश्रवणादौ ये प्रवर्तन्ते ते मर्यादापुष्टिभक्ताः ।

पूर्वोक्त उद्धरण के 'प्रवाहेण' इस पद से प्रारम्भ होने वाले द्वितीय चरण की व्याख्या करते हैं । प्रवाह में अहन्ता-ममतात्मक संसार का प्राधान्य होने से, उसके गुणों के कारण केवल कर्मों में ही रुचि रखने वाले प्रवाहमिश्र पुष्टिजीव पुष्टिभक्त होने के कारण भगवदुपयोगी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं ।

उपर्युक्त उद्धरण के 'मर्यादया' इस पद से प्रारम्भ होने वाले तृतीय पाद की व्याख्या करते हैं । मर्यादा जीव की राग के कारण होने वाली विषयों में प्रवृत्ति का निराकरण कर उसे निवृत्तिमार्गीय धर्मों में लगाती है । अतः मर्यादा से संयुक्त होने के कारण, विषयों में आसक्त होने की बात न सोच कर, भगवान् की कथा सुनने आदि में प्रवृत्त होने वाले मर्यादामिश्र पुष्टिजीव मर्यादापुष्टिभक्त कहे जाते हैं ।

विषयाः" । (पुष्टिप्र० व्याख्या १४) ।

१. 'मदुपासनादिपरा एते भवन्तु इत्यभिध्यापूर्वकेण प्रवाहेण मिश्रा ये पुष्ट्यावङ्गीकृताः ते क्रियारताः भगवदुक्तपञ्चरात्रादिप्रसिद्धकर्मपराः, प्रावाहिकभक्ता इति यावत् । तादृशक्रियापरत्व तदभिज्ञापकम् । उदाहरणम्, श्रुतदेव-निमिप्रभृतयः ।' (पुष्टिप्र० व्याख्या १४) ।

२. 'मद्गुणान् जानन्तु इत्यभिध्यापूर्विका या मर्यादा भगवदुक्तब्रह्मवादसरणिः तया मिश्रा ये पुष्ट्यावङ्गीकृताः ते गुणज्ञा भगवत उत्पन्नानां गुणानां सत्त्वादीनां भगवदीयानां स्रष्टृत्वैश्वर्यादीनां ज्ञातारो भवन्ति इति

'शुद्धाः प्रेम्णा[१]' इति। केवलं प्रेमप्रधानाः परिचर्यागुणगानादिकं स्नेहेनैव कुर्वन्ति। तेऽत्यन्तं दुर्लभाः, सर्वोत्कृष्टा इत्यर्थः। 'स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणः श्रवणादिरुत्तमः पुष्टिभक्तिः[२]' (भक्तिहंसः, पृष्ठ ५४) इति भक्तिहंसे तेषामेव भक्तेः स्वरूपम् उक्तम्, न तु सामान्यतः पुष्टिभक्तिस्वरूपम्, स्नेहानन्तर्यकथनाद् उत्तमपदप्रयोगाच्च।

उपर्युक्त उद्धरण के 'शुद्धाः प्रेम्णा' इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाले चतुर्थ चरण की व्याख्या करते हैं। शुद्ध जीव केवल प्रेम प्रधान होते हैं। वे स्नेहवश ही भगवान् की परिचर्या और उनका गुणगान आदि करते हैं। वे अत्यन्त दुर्लभ अर्थात् सर्वोत्कृष्ट हैं। भक्तिहंस में, 'स्नेह की उत्पत्ति के बाद सहजभाव से स्वतः (स्वतन्त्र पुरुषार्थ के रूप में) किये जाने वाले श्रवणादि उत्तम हैं तथा उन्हें पुष्टिभक्ति कहा जाता है' (भक्तिहंस, पृष्ठ ५४), इत्यादि वाक्य में इन शुद्ध पुष्टिभक्तों की भक्ति के स्वरूप का ही निरूपण किया गया है न कि सामान्य पुष्टिभक्ति के स्वरूप का। यह बात भक्तिहंस के उपर्युक्त वाक्य में 'स्नेहोत्पत्ति के अनन्तर' तथा 'उत्तम' पदों के सन्निवेश से सिद्ध होती है।

तदभिज्ञापकम्, मार्यादिकभक्ता इति यावत्। उदाहरणम्, भीष्मादयः' (पुष्टिप्र० व्याख्या १४)।

१. "शुद्धाः तु प्रेम्णा उपलक्षिताः निरुपधिप्रेमैव तेषामभिज्ञापकः, ते अतिदुर्लभाः। तान् भगवान् कदापि न त्यजति।....न च ज्ञानिभक्तापेक्षया तेषां निकर्षः शङ्क्यः।... अतिदुर्लभाः ब्रह्मादिदुरापचरणरेणवः, 'षष्टिवर्षसहस्त्राणि' इति वृहद्वामनपुराणवाक्यात्। अत्र येऽवान्तरभेदाः ते फलबलादूह्याः।...भक्तिभेदा भक्तिहंसाद्भावभेदा जलभेदादवगन्तव्याः।"

(पुष्टिप्र० व्याख्या १४)।

२. उपलब्ध भक्तिहंस का पाठ अधोलिखित है, 'स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं

इदमत्र ज्ञेयम् । जीवैः पुष्टिपुष्टिभक्त्यर्थं यतनीयम् । भगवद्भक्त्युपयोगिज्ञानं सम्पाद्य भगवान् भजनीयः ।

चतुर्थी शुद्धपुष्टिभक्तिस्तु भगवद्दत्ता प्राप्यते, '*भक्तिः शुद्धा स्वतन्त्रा च दुर्लभेति न सोच्यते*'[1] (सर्वनिर्णयप्र० का० १९६) इति निबन्धात् ।

न च, अनुग्रहे वैलक्षण्याभावात् तज्जन्यभक्तौ कथं नानात्वम् इति शङ्क्यम्,

---

इस विषय में यह अवधेय है। जीवों को पुष्टिपुष्टिभक्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिए। भगवद्भक्ति के लिये उपयोगी ज्ञान का सम्पादन कर भगवान् का भजन करना चाहिए।

उपर्युक्त चतुर्थ प्रकार की शुद्ध पुष्टिभक्ति भगवान् द्वारा प्रदान की जाने पर मिलती है, जैसा कि तत्त्वदीपनिबन्ध के, "शुद्ध एवं स्वतन्त्र (अर्थात् स्वतः पुरुषार्थरूप) भक्ति दुर्लभ है. अतः उसका (प्रकृत स्थल पर) निरूपण नहीं किया जा रहा है (सर्वनिर्णयप्र० का० १९६), इस वाक्य से ज्ञात होता है।

यह आशंका करना भी ठीक न होगा कि 'अनुग्रह में वैलक्षण्य या वैशिष्ट्य न होने के कारण अनुग्रहजन्य भक्ति अर्थात् पुष्टिभक्ति में विविधता नहीं हो सकती और इसीलिए पुष्टिभक्ति का चातुर्विध्य उपपन्न नहीं है', क्योंकि भागवत के अधोलिखित वाक्यों से भगवान् के अनुग्रह

स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणं उत्तमः पुष्टिभक्तिरूपः ।' (भक्तिहंस, पृष्ठ ५४)।

१. "एषा भक्तिः माहात्म्यज्ञानपूर्वकपरमस्नेहरूपा। तथाभूता सती भगवत्परिचर्यायुक्ता भवेत्। स्वतः पुरुषार्थरूपा सेवा चेत् सा भक्तिः स्वतन्त्रा इत्युच्यते।...एवं फलप्रकरणे तां सामान्यतो निरूप्य विशेषतो निरूपणाभावे हेतुमाह, 'दुर्लभेति न सोच्यते' इति। सन्ति ब्रह्मभावं प्राप्ता न त्वेतादृशा भक्ता इति।" (सर्वनिर्णयप्र० प्र० १९६)।

'नेमं विरञ्च्यो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्, तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥'
(भाग० १०।९।२०)।

"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः,
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥' (भाग० १०।४७।६०) इत्यादिवाक्यैः तथा अवधारणात्।

में वैलक्षण्य या वैशिष्ट्य का होना सिद्ध होता है। 'जो अनिर्वचनीय कृपा-प्रसाद मुक्तिदाता भगवान् श्रीकृष्ण से गोपाङ्गना यशोदा को उपलब्ध हुआ उसे (भगवान् के नाभिकमल में स्थित) ब्रह्मा (पुत्र होते हुए भी न पा सके और भगवच्चरणकमलाश्रित) महादेव तथा (भगवान् के वक्षःस्थल की शोभा बढ़ाने वाली अर्धाङ्गिनी) लक्ष्मी भी न पा सकीं[1]।' (भाग० १०।९।२०)। 'रासोत्सव के समय भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गले में बाँहें डाल देने आदि से प्राप्त सौभाग्य का अनुभव करनेवाली व्रजाङ्गनाओं को भगवान् का जो प्रेम-प्रसाद प्राप्त हुआ वह भगवान् की सहचरी रमा तथा कमल की सी सुगन्ध एवं शोभा वाली स्वर्गाङ्गनाओं को भी नहीं मिल सका, फिर अन्य स्त्रियों की तो बात ही क्या कही जाये[2]।' (भाग० १०।४७।६०)।

---

१. 'इमं प्रसादं न कश्चित् पूर्वं प्राप्तवान्।···त्रयाणामपि गुणावताराणां यद्दुर्लभं तदन्येषां दुर्लभमेव। स कः प्रसाद इत्याशङ्क्य तमनुवदति, गोपी यत्तत्प्राप इति। जात्या स्वरूपतो हीना, प्रसादः तत्रैव प्रसिद्धो न तु केनचिन्निरूपितः। न हि सर्वमोचकः कश्चिदात्मानं बध्नाति, खेदस्तु ज्ञानमपि दत्त्वा विदेहकैवल्यं वा दत्त्वा मोचयितुं शक्यते, किं स्वयं बन्धनेन; अतः प्रसिद्धः प्रसादोऽयमेव नान्य इत्यर्थः।' (सुबोधिनी १०।९।२०)।

२. 'न हि कदाचिदप्यनेकरूपाणि कृत्वा रमणार्थमेवं रसाभिनिविष्टो

अतः अनुग्रहविशेषेण पुष्टिभक्तिर्लभ्यते, तया भगवांस्तदधीनो[1] भवति, '*वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या*[2]' (भाग० ९।४।६६) इत्यादिवाक्यैः। '*कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते*[3]'

अतः अनुग्रह विशेष अर्थात् विशिष्ट अनुग्रह से पुष्टिभक्ति की उपलब्धि होती है और उस (पुष्टिभक्ति) से भगवान्, जैसा कि उनके, 'मुझे भक्ति से वश में कर लेते हैं' (भा० ९।४।६६) इत्यादि वाक्यों से

भवति। तत्रापि व्रजवल्लवीभिः सह। तास्तु असंवृताः दध्यादिविक्रये सर्वत्र पर्यटनपराः। महतामपि प्रार्थनया कदाचिद्भगवानेकं रूपं गृह्णाति महति कार्ये। आनन्दश्च तासां सर्वोत्तमः सम्पादितः, अनेकधा रसमुत्पाद्य। अतो ज्ञायते नैतादृश्यः काश्चन, नाप्येतादृशः क्वापि भगवत्प्रसाद इति। अतो ज्ञायतेऽवस्थापि तासां...सर्वोत्तमैवेति।' (सुबोधिनी १०।४७।६०)।

१. अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ (भाग० ९।४।३६)।

२. मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या, सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
(भाग० ९।४।६६)।

'मयि अनन्यनिर्बद्धं अनन्यविषयत्वेन स्थिरीकृतं हृदयं यैः ते अतएव समदर्शनाः सर्वस्य मदात्मकत्वदर्शिनः साधवः मद्भक्ता भक्त्या अनन्यप्रयोजनया मयि प्रीतिरूपया मां वशीकुर्वन्ति।' (भाग० बालप्रबोधिनी ९।४।६६)।

३. ननु अस्य मर्यादास्कन्धत्वाद् विरक्तस्य ब्रह्मविदः पश्चाद्भोगे प्रवृत्तस्य अस्य कथा (मर्यादाभङ्गाद्) विरुद्धा, इत्यत आह, कृष्णाधीना इति। तादृशस्य स्वतो भोगे प्रवृत्तौ हि मर्यादाभङ्गः, भगवदधीनतया तथा करणं मर्यादैवेति (मर्यादाभङ्गाभावात्) न विरोध इत्यर्थः। (ननु एवं सति भगवानेव कृपया तं भोगे प्रवर्तितवान् इति पुष्टिरेव इयं

(भागवतार्थप्र० का० ५।२६) इति निबन्धोक्तेश्च । इह पुष्टि-शब्देन पुष्टिभक्तिः, 'यत्र च भक्तस्य स्वातन्त्र्यं तदिच्छानुसारेण भगवत्कृतिः, यथा दामोदरलीलायां, सा पुष्टिः' (भागवतार्थप्र० प्र० ५।२६) इति व्याख्यास्वारस्यात् ।

'पुष्टिः स्वार्था परार्था तु भक्तिः सानवमे मता'[1] (भागवतार्थप्र०

ज्ञात होता है, उस (पुष्टिभक्त) के अधीन हो जाते हैं' । तत्त्वार्थदीप-निबन्ध के भागवतार्थप्रकरण के 'मर्यादा भगवान् कृष्ण के अधीन होती है और पुष्टि स्वाधीन कही जाती है' (भागवतार्थप्र० का० ५।२६) इस वाक्य से भी उपर्युक्त कथन की ही सिद्धि होती है । श्रीविट्ठलनाथ ने अपनी प्रकाश व्याख्या में आचार्य वल्लभ के उपर्युक्त कथन का जो अर्थ किया है उसका स्वारस्य, सामञ्जस्य और औचित्य उपर्युक्त श्लोक (भागवतार्थप्र० का० ५।२६) में आये 'पुष्टि' शब्द का अर्थ पुष्टिभक्ति करने पर ही स्पष्ट या सिद्ध हो पाता है, क्योंकि वहाँ कहा गया है कि 'पुष्टि वह है जिसमें भक्त का स्वातन्त्र्य होता है अर्थात् भगवान् भक्त की इच्छा के अनुसार ही काम करते हैं, जैसे दामोदरलीला में भगवान् यशोदा की इच्छा के अनुसार ही स्वयं रस्सी में बँध गये थे' (भागवतार्थप्र० प्र० ५।२६), अतः भागवतार्थप्रकरण की उपर्युक्त कारिका में आये 'पुष्टिः' पद से पुष्टिभक्ति का ही ग्रहण करना चाहिए ।

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के, 'पुष्टि जीव के हित की साधिका है तथा

प्रतीयते न मर्यादा इत्याशङ्क्य पुष्टेः स्वरूपं मूले आहुः, स्वाधीना पुष्टि-रुच्यत इति । तदेव विवृण्वन्ति,) यत्र च भक्तस्य स्वातन्त्र्यं, (स्वातन्त्र्य-स्वरूपमाहुः,) तदिच्छानुसारेण भगवत्कृतिर्यथा दामोदरलीलायां सा पुष्टिः (तथा च उक्तरीतिकस्वाधीनत्वाभावान्न पुष्टिः किन्तु मर्यादैवेति तयैवा-विरोध इत्यर्थः) ।' (भागवतार्थप्र० प्रकाश एवं योजना ५।१६) ।

१. 'पुष्टिः' इत्यादि । अत्रोक्ता पुष्टिः स्वार्था जीवहितकरी । भक्तिः तु परार्था भगवत्कार्योपयोगिनी । सा अनवमे पूर्णे प्रसादे मता ।

का० ६।१३) इत्यादिवाक्येषु पुष्टिशब्देन अनुग्रह एव ग्राह्यो, न पुष्टिभक्तिः, तथैव ग्रन्थार्थसिद्धेः ।

तदेवं सुबोधिनी-निबन्धादिषु पुष्टिशब्देन क्वचिदनुग्रहः, क्वचित् तज्जन्या भक्तिरुच्यते । स एव च पुष्टिमार्ग इति सहृदयैर्विभावनीयम् ।

न च, 'भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षारहितत्वं प्रवाहपुष्टिभक्त्यादौ अव्याप्तं, तादृग्भावस्य शुद्धपुष्टिभक्तेष्वेव प्रसिद्धेः' इति वाच्यम्; शुद्धपुष्टिभक्तेतरपुष्टिभक्तेषु अपि मोक्षान्तफलाकाङ्क्षाविरहस्य सिद्धत्वात्,

---

भक्ति भगवत्कार्योपयोगिनी है और वह (अर्थात् भक्ति, भगवान् की) पूर्ण कृपा होने पर होती है,' (भागवतार्थप्र० का० ६।१३) इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त पुष्टि शब्द से पुष्टिभक्ति का ग्रहण न कर अनुग्रह का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि वहाँ ग्रन्थ के अर्थ की सिद्धि पुष्टि पद का अर्थ अनुग्रह मानने पर ही होती है ।

उपर्युक्त प्रकार से श्रीवल्लभाचार्य की सुबोधिनी, तत्त्वदीपनिबन्ध आदि कृतियों में पुष्टि शब्द से कहीं अनुग्रह और कहीं अनुग्रहजन्य भक्ति का निर्वचन किया गया है और वही पुष्टिमार्ग है ऐसा सहृदयों को समझना चाहिए ।

यह कहना भी ठीक न होगा कि "पुष्टिभक्ति का 'भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति (अर्थात् भगवद्रूप फल) के अतिरिक्त किसी अन्य फल की आकांक्षा न रखना' यह लक्षण (पुष्टिभक्ति के एक प्रकार) प्रवाहपुष्टिभक्ति में अव्याप्त है क्योंकि इस लक्षण में प्रतिपादित वैशिष्ट्य का केवल शुद्धपुष्टिभक्तों में ही उपलब्ध होना (शास्त्रों में) प्रसिद्ध है ।" उपर्युक्त कथन के ठीक न होने का कारण यह है कि श्रीरुद्रके

तथा च कारणभेदात्कार्यभेदाच्च तस्या नैतत्स्कन्धार्थता । (भागवतार्थप्र० योजना ६।१३) ।

'नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः[1] ॥' (भाग० ६।१७।२८)
इति वाक्यात्; इदं वाक्यं न शुद्धपुष्टिभक्तिपरम्, 'एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः[2]' (सर्वनिर्णयप्र० का० २१९), इत्यस्य व्याख्याने निबन्धे ज्ञानमिश्रनिर्णयात्। 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे[3]' (भाग० ६।११।२५) इति वृत्र-

---

'स्वर्ग, मोक्ष और नरक को समान समझने वाले नारायणपर भगवद्भक्त लोक में किसी से भी नहीं डरते' (भाग० ६।१७।२८) इत्यादि वाक्यों से शुद्धपुष्टिभक्तों की ही भाँति अन्य पुष्टिभक्तों के भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्षरूप फलों की आकांक्षा से विरहित होने की सिद्धि होती है। अवधेय है कि यह वाक्य शुद्धपुष्टिभक्तिपरक नहीं है क्योंकि श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के 'इस प्रकार का पुरुष तो करोड़ों में भी दुर्लभ है' (सर्वनिर्णयप्र० का० २१९) इस वाक्य की प्रकाश व्याख्या में इसके ज्ञानमिश्रभक्तपरक होने का निर्णय किया है (अर्थात् नारायणपर शब्द से ज्ञानमिश्रभक्त का ग्रहण किया है)। इसी प्रकार वृत्र के, 'हे सर्वसौभाग्यसम्पन्न भगवन्! आप को छोड़ कर मैं योगसिद्धियों या अपवर्ग की भी आकांक्षा नहीं करता' (भाग० ६।११।२५) इत्यादि

---

१. 'स्वर्गादिष्वपि भक्तिसुखराहित्येन अरोचकत्वाविशेषेण तुल्योऽर्थः प्रयोजनमिति द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा।' (भाग० बालप्रबोधिनी ६।१७।२८)।

२. "'एतादृशस्तु दुर्लभः' योऽग्रे वक्ष्यते। भागवते नारायणपरः प्रशान्तात्मैव लोके दुर्लभ उक्तः, ज्ञानमिश्रो भक्तः; प्रेमयुक्तस्तु ततोऽपि दुर्लभः। तत्रापि सदा प्रेमप्लुतः तस्य भगवत्सायुज्यं भवतीति किं वक्तव्यमित्यर्थः।" (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २१९)। द्रष्टव्य, उपर्युक्त की आवरणभङ्गटीका।

३. 'हे समञ्जस! सर्वसौभाग्यसम्पन्न! त्वा त्वां विरहय्य विहाय नाकपृष्ठं ध्रुवलोकं पारमेष्ठ्यं चतुराननलोकं सार्वभौमं सर्वभूमिराज्यं

वाक्याद् वृत्रस्य शुद्धपुष्टित्वाभावात्। अतो लक्षणं सुस्थम्।

श्रीहरिरायैस्तु शुद्धपुष्टिभक्तेरेव स्वरूपं कारिकाभिर्विवृतम्, न तु पुष्टिर्लक्षिता, विचारे क्रियमाणे तथैवार्थस्फूर्तेः; अन्यथा सर्वसाधनराहित्यादिधर्माणां प्रवाहपुष्टिभक्तौ अव्याप्तेश्च। अतो नेदमसाधारणं लक्षणम्, किन्तु शुद्धपुष्टिभक्तेर्धर्माणां निरूपणम् इति ज्ञेयम्। तथा हि,

'सर्वसाधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम्।
फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० १)।

वाक्यों से भी (सिद्धान्ती के) उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है क्योंकि वृत्र शुद्धपुष्टिभक्त नहीं था। अतः पुष्टिभक्ति का उपर्युक्त (पृष्ठ ८१-८२ तथा ९१ पर उल्लिखित) लक्षण निर्दोष है।

श्रीहरिराय ने अपनी 'श्रीपुष्टिमार्गलक्षणानि' नामक कारिकाबद्ध कृति में पुष्टि का लक्षण न करके शुद्ध-पुष्टिभक्ति के स्वरूप का ही निरूपण किया है क्योंकि विचार करनेपर उनके वाक्योंका जो अर्थ स्फुटित होता है उससे उपर्युक्त मत की ही पुष्टि होती है। ऐसा न मानने पर सर्वसाधनराहित्य (अर्थात् सभी साधनों से विहीन होना) आदि धर्मों की प्रवाहपुष्टिभक्ति में अव्याप्ति होने का प्रसङ्ग भी उपस्थित होगा। अतः 'श्रीपुष्टिमार्गलक्षणानि' नामक कृति में पुष्टि का असाधारण लक्षण नहीं दिया गया है प्रत्युत शुद्ध पुष्टिभक्तिके धर्मों का ही निरूपण किया गया है ऐसा समझना चाहिए।

"जिस मार्ग में फल की प्राप्ति में सभी साधनों का अभाव ही साधन है अथवा जिस मार्ग में स्वयं फलरूप भगवान् ही भगवद्रूप फल की प्राप्तिके साधन हैं वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० १)।

रसाधिपत्यं विलस्वर्गसुखं योगसिद्धीः अणिमादिरूपाः, अपुनर्भवं जीवस्वरूपप्राप्तिलक्षणं मोक्षं परवैकुण्ठप्राप्तिरूपां मुक्तिं वा न काङ्क्षे नेच्छामि।" (भाग० बालप्रबोधिनी ६।११।२५)।

'सर्व' इत्यादि। *यत्र फलस्य भगवतः, आप्तौ,* सर्वसाधनाभावः हेतुः, *स शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः कथ्यते* इत्यर्थः। तामस प्रकरणीयफलप्रकरणे अन्वेषण-गुणगानादिसाधनानि त्यक्त्वा, रोदनेन दैन्ये प्रकटीकृते व्रजवधूनां भगवदाप्तिकथनात्।

एवं सति साधनाभावस्यापि साधनतायां न निःसाधनफलत्वं प्रभौ सिद्ध्यति, इति अरुच्या पक्षान्तरमाहुः, *'फलं वा'* इत्यादिना। फलरूपो भगवान् एव स्वरूपात्मकफलाप्तौ साधनम् इत्यर्थः। अत एव श्रीमदाचार्यैः उक्तम्, *'ततो भगवान् ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जातः इत्याह'* (सुबो० १०।३२।२) इति।

'सर्वसाधनराहित्यम्' इस पद से प्रारम्भ होनेवाली श्रीहरिराय की कारिका की व्याख्या करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस भक्तिमार्ग में फल अर्थात् भगवान् की प्राप्ति में सभी साधनों के अभाव को हेतु माना गया है वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहलाता है। श्रीमद्भागवतमें तामसप्रकरण के फलप्रकरण (भाग० १०।२९-३५) में गोपियोंके अन्वेषण, गुणगान आदि साधनों का परित्याग कर रोदन द्वारा दैन्य प्रकट करने पर उन्हें भगवान् की प्राप्ति होने का निरूपण मिलने से उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है।

साधनाभाव को फलप्राप्तिका साधन मान लेने पर प्रभु का निःसाधनफलत्व सिद्ध न होगा (अर्थात् प्रभुके साधन विरहित व्यक्तियों के प्राप्य फल होने के स्वरूप की सिद्धि नहीं होगी) अतः इस पक्ष में रुचि न होने से दूसरे पक्षको 'फलं वा' इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होने वाले पाद के द्वारा उपस्थित करते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वयं फलरूप भगवान् ही स्वरूपात्मक फल की प्राप्ति के साधन हैं। इसी लिये सुबोधिनी (१०।३२।२) में श्रीमद्वल्लभाचार्य ने कहा है कि "तदनन्तर भगवान् ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र होकर पुनः कृष्ण ही हो गये, यह स्पष्ट करने के लिये भागवतकार कहते हैं 'तासामाविरभूच्छौरिः' इत्यादि।"

'अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी ।
न यत्नाद्, अन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० २)।

'अनुग्रहेण' इत्यादि। साधनान्तरनिरपेक्षेण *अनुग्रहेण* यत्र लौकिक-वैदिकसिद्धिः स शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः। अतएव व्रजस्थानां तथैव वैकुण्ठप्राप्तिः, *'अह्नयापृतं निशि शयानमतिश्रमेण लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम्'*[1] (भाग० २।७।३१), इति ब्रह्म-

---

(सुबो० १०।३२।२)।

"जिस भक्तिमार्ग में लौकिक और वैदिक फलों की सिद्धि प्रयत्न से नहीं अपितु भगवदनुग्रहमात्र से ही होती है अन्यथा अर्थात् भगवद्भजन से भिन्न अन्य प्रयत्न या उपाय करने से विघ्नों की प्राप्ति होती है उसे शुद्धपुष्टिमार्ग कहते हैं" (श्रीपुष्टिमा० २)।

'अनुग्रहेण' इस पद से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में साधनान्तरनिरपेक्ष (अर्थात् जिसे अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं है ऐसे) भगवदनुग्रह के द्वारा ही समस्त लौकिक और वैदिक सिद्धियों की प्राप्ति होती है उसे शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहते हैं। इसीलिए व्रजवासियों को साधनान्तर निरपेक्ष अनुग्रह से ही वैकुण्ठ की प्राप्ति हुई थी, जैसा कि ब्रह्मा के अधोलिखित वाक्यों से ज्ञात होता है। 'दिन भर लौकिक कार्यों में लगे रहने वाले और इस प्रकार दिन में अत्यधिक परिश्रम करने से थक जाने के कारण रात में गहरी नींद में सो जाने वाले गोकुलवासियों को भगवान् स्वजन समझने के कारण अपने वैकुण्ठ लोक में ले जायेंगे' (भाग० २।७।३१)।

---

१. 'अह्नयापृतम्' इति। अह्नि दिवसे आपृतं लौकिकक्रियया व्याप्तम्। 'निशि शयानमतिश्रमेण' इति। निर्भरनिद्रया रात्रौ व्याप्तम्। एवमहोरात्रं परलोकसाधनरहितं स्वमेव वैकुण्ठं व्यापिवैकुण्ठम् उप समीप एव नेष्यति। स्वनिकट एव मायाजवनिकां दूरीकृत्य तत्रैव वैकुण्ठे नीतवान्। इदं चरित्रं न योगस्य, न मायायाः, न कालस्य, न मण्यादीनाम्।

वाक्यात् । यत्ने कृते तु विघ्न एव भवेद्, एतच्च श्रीनन्दादीनाम् अम्बिकावनयात्राप्रसङ्गे (भाग० १०।३४) स्पष्टम् ।

'यत्राङ्गीकरणे नैव योग्यतादिविचारणम् ।
अविलम्बः प्रभुकृतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० ३) ।

'यत्र' इत्यादि । प्रभुः जीवयोग्यताविचारम् अकृत्वा एव यत्र शीघ्रम् अङ्गीकरोति स शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः । 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः'[1] (भाग ११।१२।८) इति वाक्यात् । स्वरूपविचारे तु शास्त्रस्य पुरुषाधिकारकत्वेन पश्वादीनां मोक्षसम्भावनैव नास्ति इति ज्ञेयम् ।

प्रयत्न करने पर तो विघ्न ही होता है यह श्रीमद्भागवत में नन्द आदि के अम्बिका वन यात्रा प्रसङ्ग (भाग० १०।३४) में स्पष्ट है ।

"जिस भक्तिमार्ग में भक्त को स्वीकार करने में भगवान् उसकी योग्यता आदि का विचार नहीं करते और उसे स्वीकार करने में विलम्ब नहीं करते वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० ३) ।

'यत्र' (जिस भक्तिमार्ग में) इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं । भगवान् विना जीव की योग्यता का विचार किये ही जिस भक्तिमार्ग में भक्त को शीघ्र ही स्वीकार कर लेते हैं वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है, जैसा कि भगवान् के 'केवल भाव (अर्थात् भक्ति) से ही गोपियों, गायों, पक्षियों और हरिणादि पशुओं इत्यादि ने मुझे प्राप्त किया' (भाग० ११।१२।८), इस वाक्य से ज्ञात होता है । इस प्रसंग में यह अवधेय है कि स्वरूपका विचार करने पर तो पशुओं आदि के मोक्ष की सम्भावना ही नहीं है

अतो ब्रह्मचरित्रमेवैतत् । नयने हेतुः स्वम् इति । आत्मत्वेन भगवान् तत् परिगृहीतवान् । (सुबोधिनी २।७।३१) ।

१. केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ (भाग० ११।१२।८) ।

'स्वरूपमात्रपरता　　तात्पर्यज्ञानपूर्वकम् ।
धर्मनिष्ठा यत्र नैव, पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० ४) ।

'स्वरूप' इत्यादि । यत्र धर्मविधायकवाक्यानां भगवत्सम्बन्धे तात्पर्यमवगत्य फलाप्त्यवसरे तत्प्रतिबन्धकधर्मान् हित्वा धर्मिपरतया स्थीयते, स शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः । अतएव 'श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानात्, मयि भावः[1]' (भाग० १०।२९।२७) इति वाक्यतात्पर्यमवगत्य स्वरूपपरतया एव स्थितं, न तु तद्विरुद्धं गृहगमनम् आचरितम् ।

क्योंकि शास्त्रों में केवल पुरुष ही अधिकृत हैं अर्थात् शास्त्रों का उपयोग कर सकने की योग्यता केवल मनुष्यों में ही है ।

"जिस भक्तिमार्ग में (धर्मविधायक वाक्यों के) तात्पर्य का ज्ञान प्राप्त कर स्वरूपमात्रपर होकर स्थित हुआ जाता है और जिसमें धर्मनिष्ठा का नितान्त अभाव है उसे शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहते हैं" (श्रीपुष्टिमा० ४)।

'स्वरूप' इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में धर्मों का विधान करने वाले वाक्यों का भगवान् में तात्पर्य समझ कर फलप्राप्ति के समय उसके प्रतिबन्धक धर्मों का त्याग कर धर्मिपर अर्थात् स्वरूपनिष्ठ होकर रहा जाता है, वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है; इसीलिए भगवान् के, 'श्रवण, दर्शन, एवं ध्यान से मुझमें भाव होता है' (भाग० १०।२९।२७), इस वाक्य का तात्पर्य समझ कर गोपियाँ स्वरूपपर होने से वहीं रुकी रहीं और उन्होंने घर लौट जाने का तद्विरुद्ध आचरण नहीं किया ।

---

१. 'आदौ श्रवणं भगवद्वाचकानां पदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यावधारणम् । तथा सति विषयो व्यावर्तितो भवति, अन्यथा अन्यत्रापि स्नेहः स्यात् । तदनु दर्शनं तदर्थस्यानुभवः, कृपया भगवत्साक्षात्कारो वा भगवत्कामार्थः नारदादेरिव । ततो ध्यानं योगेन चिन्तनम् । एतैरेव मयि भावो भवति । स चोत्पन्नो भावः अनुकीर्तनात् स्थिरो भवति ।' (सुबोधिनी १०।२९।२७)।

'यत्र प्रभुकृतौ नैव गुणदोषविचारणम् ।
तत्कृतावुत्तमत्वज्ञा, पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० ५) ।

'यत्र' इत्यादि । यत्र रोदन-चौर्यादिरूपे चरित्रे हीनत्वबुद्ध्या न अनुपादेयत्वरूपदोषदृष्टिः । न वा कालीयदमनदावाग्निमोक्षणादिषु माहात्म्यबोधनादिषु चरित्रान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यबुद्धिः, किन्तु भगवत्कृतिमात्र उत्तमत्वज्ञानं सर्वत्र स पुष्टिमार्गः ।

'न वेद-लोकसापेक्ष्यं सर्वथा यत्र वर्तते ।
सापेक्षता स्वामिसुखे पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० ६)।

'न वेदलोक....' इत्यादि । यत्र तु स्वामिसुखार्थमेवाखिल-

"जिस भक्तिमार्ग में भगवान् की किसी भी कृति में गुणदोष का विचार नहीं किया जाता और उनकी प्रत्येक कृति को उत्तम समझा जाता है वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० ५) ।

'यत्र' (जिस भक्तिमार्ग में) इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं । जिस भक्तिमार्ग में भगवान् के रोने, (नवनीत आदि की) चोरी करने आदि चरित्रों में हीनत्वबुद्धि नहीं रखी जाती अर्थात् इन्हें 'हीन होने से अग्राह्य (अनुपादेयत्वरूपदोषयुक्त ;' नहीं माना जाता, एवं इसी प्रकार कालियदमन तथा दावाग्नि से मोक्ष आदि भगवान् के माहात्म्य बोधक चरित्रों को उपर्युक्त अन्य चरित्रों की अपेक्षा विशिष्ट भी नहीं समझा जाता प्रत्युत भगवान् के सभी चरित्रों, उनकी सभी कृतियों को सर्वदा सर्वत्र उत्तम ही माना जाता है, वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है ।

"जिस भक्तिमार्ग में भक्त को किसी लौकिक या वैदिक (पारलौकिक) फल की सर्वथा अपेक्षा नहीं रहती और केवल अपने प्रभु के सुख की ही अपेक्षा रहती है उसे शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहते हैं" (श्रीपुष्टिमा० ६) ।

'न वेदलोक.......' इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होने वाली कारिका

चेष्टितं, न ऐहिक-पारलौकिकयत्नः, स शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः।

'दिष्टया पुत्रान् पतीन् देहान्[1] स्वजनान् भवनानि च।
हित्वा वृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥'

(भाग० १०।४७।२६) इति वाक्यात्।

'वरणे दृश्यते यत्र हेतुर्नाणुरपि स्वतः।
वरणं च निजेच्छातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥' (श्रीपुष्टिमा० ७)।

'वरणे' इत्यादि। स्वीयत्वेन अङ्गीकृतौ जीवकर्तृकसाधनानां यत्र न कारणता, स शुद्धपुष्टिमार्गः; यतः साधनसम्पन्नेषु

की व्याख्या करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में भक्त की सारी चेष्टायें प्रभु के सुख के लिये ही होती हैं और उसका कोई भी प्रयत्न किसी अन्य ऐहिक या पारलौकिक फल की प्राप्ति के लिये नहीं होता, वह शुद्ध-पुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है, जैसा कि उद्धव के अधोलिखित वाक्य से ज्ञात होता है, 'सचमुच यह कितने सौभाग्य की बात है कि आप लोगों ने अपने-अपने पुत्र, पति, देह,[1] स्वजन एवं घर को छोड़कर श्रीकृष्ण नामक परम पुरुष का वरण किया है।' (भाग० १०।४७।२६)।

"जिस भक्तिमार्ग के अनुसार भगवान् के द्वारा भक्त के वरण किये जाने में कोई अणुमात्र कारण भी नहीं (दिखाई देता) है तथा भगवान् स्वेच्छा से स्वतः जीव का वरण करते हैं, वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० ७)।

'वरण' इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में जीवकृत उपाय भगवान् द्वारा स्वजन के रूप में स्वीकार किये जाने के हेतु अर्थात् कारण नहीं (माने जाते) हैं

---

१. 'देहाः स्वस्यैव अवस्थाभेदेन भिन्नाः नानाविधोपयोगा इति तद-पेक्षाभावाय वहुवचनम्। स्वार्थं विनियोगाभावात्त्यागः। अन्यथा भगवतः स्थाने गच्छेयुः। किन्तु भगवदाकाङ्क्षामेव भावयमानास्तिष्ठन्तीति पुत्रादि-वद् देहत्यागोऽपि।' (सुबोधिनी १०।४७।२६)।

अपि न तत्फलं, यद् अत्यन्तायोग्येषु पुलिन्द्यादिषु दीयते। *'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'* (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३) इति श्रुतिरपि अत्र अनुसन्धेया।

'यत्र स्वतन्त्रता भक्तेराविर्भावानपेक्षणात्।
सर्वानुभवरूपत्वं, पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० ८)।

'यत्र' इति। यत्र वियोगावस्थायां गुणगानादिरूपायाः भक्तेः एव स्वरूपानन्दात्मकफलदाने स्वतन्त्रता; न स्वरूपाविर्भावस्य संयोगरससम्बन्धिनः आकाङ्क्षा; प्रेमभरेण जायमानस्य श्रवणकीर्तनादेः एव सर्वसुखानुभवरूपत्वं, स शुद्धपुष्टिमार्गः।

वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग है; क्योंकि साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को भी उस फल की प्राप्ति नहीं होती जिसे भगवान् अत्यन्त अयोग्य पुलिन्दी (पुलिन्द जाति की स्त्री) आदि को प्रदान करते हैं। श्रुति के 'यह आत्मतत्त्व (परमात्मा) उसी के द्वारा प्राप्य है जिसको यह वरण कर लेता है' (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादि वाक्यों से भी उपर्युक्त मत की ही पुष्टि होती है।

"जिस भक्तिमार्ग में भक्ति को आविर्भाव की अपेक्षा किये बिना ही स्वरूपानन्दात्मक फल देने की स्वतन्त्रता (प्राप्त) है तथा जिसमें श्रवण कीर्तनादिरूप भक्तिको ही सर्वसुखानुभवरूप माना जाता है, उसे शुद्ध-पुष्टिभक्तिमार्ग कहते हैं" (श्रीपुष्टिमा० ८)।

'यत्र' (जिस भक्तिमार्ग में) इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में वियोगावस्था में भगवद्गुणगानादिरूप भक्ति की स्वरूपानन्दात्मक फल देने में स्वतन्त्रता (मानी जाती) है अर्थात् भक्ति को स्वरूपानन्दात्मक फल देने के लिए संयोगरससम्बन्धी स्वरूपाविर्भाव की अपेक्षा नहीं रहती; जिस भक्तिमार्ग में प्रेमातिशय से किये जाने वाले श्रवण कीर्तनादि ही सर्व-

'लोकवेदभयाभावो यत्र भावातिरेकतः ।
सर्वबाधकतास्फूर्तिः, पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० ९)।

'लोकवेद....' इत्यादि । *यत्र भावातिरेकतः* भगवद्भावाधिक्यात् पतिपुत्रादिभयं पारलौकिकभयं च नास्ति । भगवद्भावे सर्वस्य कालकर्मस्वभावादेः बाधकोऽयमिति स्फूर्तिः स शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग इत्यर्थः । अत एव *'अस्वर्ग्यम् अयशस्यं च'*[1]

सुखानुभवरूप होते हैं अर्थात् भक्त को उन्हीं में सभी सुखों का अनुभव होता है, वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है ।

"जिस भक्तिमार्ग में भावातिरेक (अर्थात् भगवद्विषयक प्रेमातिशय) के कारण लोक और वेद का भय नहीं रहता और उस भक्तिभाव के काल, कर्मादि सभी के बाधक होने की स्फूर्ति होती है उसे शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहते हैं " (श्रीपुष्टिमा० ९) ।

'लोकवेद......' इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं । तात्पर्य यह है कि जिस भक्तिमार्ग में भावातिरेक अर्थात् भगवान् के प्रति भक्तिभाव के आधिक्य के कारण (लौकिक अर्थात्) पतिपुत्रादि का एवं पारलौकिक भय नहीं होता तथा 'भगवद्भाव काल, कर्म और स्वभाव आदि सभी का बाधक है' इस प्रकार की स्फूर्ति होती है वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग है । उपर्युक्त कारण से ही गोपियों के हृदय में, भगवान् के, 'परलोकनाशक तथा अपयश

---

१. अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।
जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः ॥ (भाग० १०।२९।२६) ।

'हे कुलस्त्रियः ! औपपत्यं जारसम्बन्धः तद्रसालमपि बहुदोषग्रस्तम् । तत्रत्यान् षड्दोषानाह । अस्वर्ग्यं परलोकनाशकम्, पूर्वं धर्मेण सिद्धोऽपि स्वर्गः तस्मिन् अपगच्छति । किञ्च इह लोकेऽपि यशो दूरीकरोति । चकारात् नरकोऽपि ।' (सुबोधिनी १०।२९।२६) ।

(भाग० १०।२९।२६) इत्यादिवाक्यैः वेदभयं, 'विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्त'¹ (१०।२९।२०) इत्यादिभिः लोकभयं च न उत्पन्नम्।

'सम्बन्धः साधनं यत्र, फलं सम्बन्ध एव हि।
सोऽपि कृष्णेच्छया जातः, पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥' (श्रीपुष्टिमा० १०)।

'सम्बन्ध' इत्यादि। यत्र जीवानां भगवता सह देहज-भावजान्यतरसम्बन्धः फले साधनम्, यत्र च सम्बन्धः सर्वेन्द्रियाणां

फैलाने वाले' (भाग० १०।२९।२६) इत्यादि वाक्यों से वेद का भय तथा 'तुम्हें न देखकर खोज रहे होंगे' (भाग० १०।२९।२०)। इत्यादि वाक्यों से लोकभय नहीं उत्पन्न हुआ।

"जिस भक्तिमार्ग में सम्बन्ध ही फल की प्राप्ति का साधन है और फल भी सम्बन्ध ही (माना जाता) है तथा वह सम्बन्ध भी भगवान् कृष्ण की इच्छा से ही होता है (ऐसा माना जाता है) उसे शुद्धपुष्टि-भक्तिमार्ग कहते हैं" (श्रीपुष्टिमा० १०)।

'सम्बन्ध' इत्यादि पदोंसे प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में भगवान् के साथ जीवों का दैहिक या

---

१. मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥
(भाग० १०।२९।२०)।

'भवतीनां मातरो नियामिकाः, तास्तु नागताः, अतो भवतीनामन्वेषण-मपि करिष्यन्ति। अतः तासां साध्वसं भयं मा कृढ्वम् मा कुरुत।.... 'विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्त' इति। (हि शब्दस्यार्थमाहुः,) गोकुलान्निर्गतानां कृष्णस्थानागमने मध्ये बहवो मार्गाः स्फुटिताः सन्ति। तत्र भगवन्माया तिष्ठति, यथा न कोऽपि भगवत्समीपं गच्छति अतो मार्गान्तरेणैव गताः अपश्यन्तः सन्तः विचिन्वन्ति एव। अनेन स्थितौ शङ्काभावोऽप्युक्तः।.... सर्वं एवापश्यन्तः गृहे अदृष्ट्वा अवश्यं विचिन्वन्ति, ततो बहुकालमदृष्ट्वा नाशशङ्कया अपहारशङ्कया च भयं प्राप्स्यन्ति।' (सुबोधिनी १०।२९।२०)।

प्रभुणा संगमः, स एव फलं, स शुद्धपुष्टिमार्गः, 'भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च'[1] (सुबोधिनीका० १०।२१।७।३)। किञ्च सम्बन्धोऽपि यत्र कृष्णेच्छया कृष्णस्य भक्तविषयिण्या इच्छया जातः स तथा, 'मदन्यत् ते न जानन्ति, नाहं तेभ्यो मनागपि'[2] (भाग० ९।४।६८) इति वाक्यात् ।

भावात्मक किसी भी प्रकार का सम्बन्ध फल की प्राप्ति का साधन है तथा जिस मार्ग में सम्बन्ध अर्थात् सभी इन्द्रियों का भगवान् के साथ संगम ही फल माना जाता है, वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है; जैसा कि सुबोधिनी के, 'भगवान्‌के मिल जाने पर उनका दर्शन एवं उनके साथ वार्तालाप' (सुबोधिनी का० १०।२१।७।३) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। किञ्च शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग वह है जिसमें सम्बन्ध भी भगवान् कृष्ण की भक्तविषयक इच्छा से होता है, जैसा कि भगवान् के 'मेरे भक्त मुझसे अन्य और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता' (भाग० ९।४।६८) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है।

---

१. भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च ॥
आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ।
अधरामृतपानञ्च भोगो रोमोद्गमस्तथा ॥
तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ।
तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदा ॥
इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोऽपि नान्यथा ।
यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णो फलं भवेत् ॥
एवं मोक्षोऽपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि ।
बाधकानां परित्यागे साधकानां न तद्भवेत् ॥
(सुबोधिनीका० १०।२१।७।३-७) ।

२. साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥ (भाग० ९।४।६८)।

'तत्सम्बन्धिषु तद्भावः तद्भिन्नेषु विरोधिता ।
उदासीनेषु समता, पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० ११)।

'तत्सम्बन्धिषु' इति । यत्र प्रभुसम्बन्धिषु भगवद्बुद्धिः, भिन्नोदासीनयोः विरोधि-समत्वबुद्धिः *स पुष्टिमार्गः* । अत एव उद्धवदर्शने परमोत्साहः, *'इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकाः तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम्*[1] (भाग० १०।४७।२) इति वाक्यात् ।

"जिस भक्तिमार्ग में भगवान् के सम्बन्धियों अर्थात् उनसे सम्बद्ध व्यक्तियों में भगवद्बुद्धि रखी जाती है, भगवद्भिन्न अर्थात् भगवद्विमुख व्यक्तियों को विरोधी समझा जाता है तथा भगवान् के प्रति उदासीन व्यक्तियों के प्रति समत्वबुद्धि अर्थात् औदासीन्यबुद्ध रखी जाती है, वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० ११)।

'तत्सम्बन्धिषु' (भगवान् के सम्बन्धियों में) इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में भगवान् के सम्बन्धियों में भगवद्बुद्धि, भगवद्विमुखों में विरोधीबुद्धि तथा भगवान् से उदासीन व्यक्तियों में समत्वबुद्धि अर्थात् औदासीन्यबुद्धि रखी जाती है वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है। इसीलिये उद्धव को देखकर

'किं बहुना साधवो मद्भक्ताः मह्यं मम हृदयं हृदय्या इत्यर्थः, अत्यन्तप्रियत्वेनाभेदनिर्देशः । साधूनां तु हृदयं हृदय्यः अहम् एव । एतदेव स्पष्टयति। ते मद्भक्ता मत्तः अन्यत् किमपि न जानन्ति, तथा अहम् अपि तेभ्यो भक्तेभ्योऽन्यत् मनाग् ईषद्-अपि किञ्चित् प्रियं वस्तु न जानामि ।' (भाग० बालप्रबोधिनी ९।४।६८)।

१. 'सर्वा एव परिवव्रुरुत्सुकाः । ननु तासां किं प्रयोजनम् ? तत्राह उत्सुका इति । औत्सुक्यस्वभावादेव कृष्णस्मारक इति कृष्णौत्सुक्याच्च तं परितो वेष्टयामासुः ।......उत्तमश्लोकस्य पदाम्बुजमेवाश्रित्य तिष्ठतीति भगवच्चरणसेवकः भक्तिमार्गानुसारी । तत्रापि शास्त्रीय इत्यर्थः ।' (सुबोधिनी १०।४७।२)।

'विद्यमानस्य देहादेर्न स्वीयत्वेन भावनम् ।
परोक्षेऽपि तदर्थित्वं पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० १२) ।

'विद्यमानस्य' इति । यत्र देहादेः न स्वीयत्वबुद्ध्या रक्षणादिकम् अपि तु भगवदीयत्वबुद्ध्या, स *पुष्टिमार्गः* । किञ्च, *परोक्षेऽपि* विरहावस्थायामपि भगवदुपयोगं भाविनमालोच्य शरीरादिरक्षा स तथा, *'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते'* (भाग०

गोपियों में परम उत्साह का सञ्चार हो गया, जैसा कि '... यह कहती हुई[1] उत्कण्ठित गोपियों ने भगवच्चरणानुचर श्रीउद्धव को सब ओर से घेर लिया' (भाग० १०।४७।२) इस वाक्य से ज्ञात होता है ।

"जिस भक्तिमार्ग में भक्त अपने वर्तमान शरीरादि में ममत्वबुद्धि नहीं रखते तथा परोक्ष अर्थात् भगवद्वियोगदशा में भी उन्हें भगवान् के उपयोग का समझकर ही उनकी रक्षा आदि करते हैं वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० १२) ।

'विद्यमानस्य' इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं । जिस भक्तिमार्ग में भक्त अपने शरीर आदि की रक्षा आदि उसमें स्वीयत्वबुद्धि (अर्थात् ममत्वबुद्धि या 'यह मेरा है' इस प्रकार की बुद्धि) रखकर नहीं अपितु भगवदीयत्वबुद्धि रखकर (अर्थात् इस शरीर पर भगवान् का अधिकार है, यह उनकी सम्पत्ति है, इस प्रकार की बुद्धि रखकर) करता है वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है । इसी प्रकार शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग वह है जिसमें भक्त अपने शरीरादि की रक्षा परोक्ष अर्थात् भगवान् के विरह की दशा में भी, 'यह भविष्य में भगवान्के उपयोग में आयेगा' इस प्रकार की बुद्धि या भावना से करता है, जैसा कि भागवत के, 'हम गोपियाँ, जो तुम्हारे लिए ही प्राण धारण

---

१. शुचिस्मितः कोऽयमपीच्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युतवेशभूषणः ।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकाः तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥
(भाग० १०।४७।२) ।

१०।३१।१) इति वाक्यात्, 'त्वदर्थमेव प्राणानां धारणम्'[1] इति व्याख्यानात् ।

'भजने यत्र सेव्यस्य नोपकारकृतिः क्वचित् ।
पोषणं भावमात्रस्य पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० १३)।

'भजने यत्र' इत्यादि । *यत्र सेव्यस्य उपकारकृतिः* अपेक्ष्यत्वेन नास्ति, यत्र च सेव्यकर्तृकं सेवकाधिकरणकं *भावपोषणं* स

किये हुए हैं, तुम्हें खोज रही हैं' (भाग० १०।३१।१) इस वाक्य से ज्ञात होता है । सुबोधिनी में वल्लभाचार्य द्वारा इस श्लोक के 'त्वयि धृतासवः' इन पदों का अर्थ, 'तुम्हारे लिए ही प्राणों को धारण किये हुए हैं'[1] इस प्रकार करने से भी उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती है ।

"जिस भक्तिमार्ग में भक्त या सेवक भगवान् की भक्ति करते समय कभी भी (उस भक्ति के फलस्वरूप) भगवान् द्वारा उपकृत होने की अपेक्षा नहीं करता तथा भगवान् उसके भाव का ही पोषण करते हैं, वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० १३) ।

'भजने यत्र' इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं । जिस भक्तिमार्ग में भक्त या सेवक भगवान् की भक्ति या सेवा करते समय (उस भक्ति के फल के रूप में) भगवान् से किसी फल या उपकार की अपेक्षा नहीं करता (अर्थात् वह यह नहीं सोचता कि भगवान् इस भक्ति से प्रसन्न होकर मेरा अमुक उपकार कर देंगे या मुझे अमुक वर या फल प्रदान करेंगे) तथा स्वयं भगवान् अपने सेवक या भक्त के हृदय में स्फुरित भगवद्विषयक भाव का पोषण करते हैं वह

---

१. 'त्वयि धृतासव' इति । त्वदर्थमेव धृता असवः प्राणा यैः । यदैव त्वदनुपयोगं ज्ञास्यन्ति तदैव त्यक्ष्यन्ति इति भावः । अत एव त्वां विचिन्वते प्राणानाश्वसयितुम्, अल्पविलम्बेऽपि प्राणा गमिष्यन्तीति । अन्यथा व्रजे गच्छेयुः प्रातः त्वमेवायास्यसीति अन्वेषणं व्यर्थमेव स्यात् । (सुबोधिनी १०।३१।१) ।

शुद्धपुष्टिमार्गः । अत एव गोवर्द्धनमखप्रसङ्गे अन्यभजनान्निवृत्य स्वभजनयोजनेन भाववृद्धिं कृतवान् प्रभुः इति ज्ञेयम् ।

'भजनस्यापवादो न क्रियते फलदानतः ।
प्रभुणा यत्र तद्भावात् पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० १४) ।

'भजनस्यापवादः' इत्यादि । *यत्र प्रभुणा भजनस्य* फलदानेन *अपवादो न क्रियते स शुद्धपुष्टिमार्गः ।* अयमर्थः । विरहानुभवार्थं भगवता वियोगे सम्पादिते गोपिकाः तज्जन्यं तापं भूयांसं प्राप्नुवत्यः । यदि तदवस्थायां गुणगानादिना अन्तरेव प्रकटी-

---

शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है । इसीलिए गोवर्द्धनमख के प्रसङ्ग में भगवान् ने व्रजवासियों को अन्य (अर्थात् इन्द्र) का पूजन करने से विरत कर, अपनी भक्ति (अर्थात् भगवद्भक्ति) में लगा कर[1] उनके भक्तिभाव की वृद्धि की ऐसा समझना चाहिये ।

"जिस भक्तिमार्ग में भगवान् भक्त को उसकी भक्ति का फल देकर उसका अपवाद नहीं करते, उसके उस भाव में बाधा नहीं डालते, वह शुद्धिपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० १४) ।

'भजनस्यापवादः' इस पदसे प्रारम्भ होनेवाली कारिका का अर्थ करते हैं । जिस भक्तिमार्ग में भगवान् भक्तिका फल देकर अपवाद नहीं करते वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है । उपर्युक्त वाक्य का आशय अधोलिखित है । गोपियाँ भगवान् के विरह का अनुभव कर सकें इस उद्देश्य से भगवान् ने जब उन्हें वियोग की अवस्था प्राप्त करा दी (अर्थात् जब भगवान् व्रज से मथुरा को चले गये) तो गोपियों को विरहजन्य तीव्र ताप का अनुभव हुआ । यदि ऐसी स्थिति में भगवान् (गोपियों द्वारा किये जाने वाले अपने) गुणगान आदि से (प्रभावित होकर) बीच में ही प्रकट हो जाते (अर्थात् मथुरा से लौट आते या गोपियों के हृदयमें आविर्भूत हो जाते) और इस प्रकार उन्हें (संयोग का) सुख प्रदान

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी १०।२४।२५,३०,३५ ।

भूय सुखं दद्यात्, ज्ञानमुत्पाद्य ज्ञानिनामिव वा सुखं दद्यात्, तदा पूर्णतापानुभवाभावेन उत्तरदलादानमेव स्यात्, अतो भगवान् न तथाकरोति, प्रत्युत तापमेव वर्द्धयति, '*कृष्णावेशात्मविक्लवम्*'[1] (भाग० १०।४७।५७) इति वाक्यात्, '*इहागतोऽहं विरहातुरात्मा*'[2] (भाग० ३।४।२०) इति प्राप्तोपदेशोद्धववाक्याच्च।

कर देते अथवा उनमें ज्ञान उत्पन्न कर उन्हें ज्ञानियों को प्राप्त होने वाला सुख दे देते, तो उन्हें विरहजन्य पूर्ण ताप का अनुभव न हो पाता और उत्तरदल अर्थात् विरह का दान पूरा न हो पाता (अर्थात् विरहावस्था सम्पादित करने का मन्तव्य पूरा न हो पाता), इसीलिये भगवान् वैसा नहीं करते अपितु उनके विरहजन्य ताप को ही और अधिक बढ़ाते हैं जैसाकि 'कृष्ण के प्रेम में तन्मय होने के कारण देहादि की विकलता' (भाग० १०।४७।५७), तथा भगवान् का उपदेश ग्रहण कर, उनके पास से आये हुए उद्धव के, 'मैं विरहातुरचित्त होकर यहाँ आया हूँ'

---

१. दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतः ता नमस्यन्निदं जगौ ॥ (भाग १०।४७।५७)।

'प्रत्यहमुपदेशः प्रत्यहं वैक्लव्यम् एतदुभयं दृष्ट्वा आत्मत्वेऽपि बहिःसंवेदनमात्रेणैव तासां भगवदाकाङ्क्षैवोत्पद्यते। परं निर्दुष्टा। एवं तासां भावं दृष्ट्वा कृष्णावेशेन आत्मनो देहस्य विक्लवं दृष्ट्वा, अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा द्वयमेव न तु तासामन्या लौकिकी अवस्था एवं दृष्ट्वा, परमप्रीतो जात एवमेव हि स्थातव्यं भक्तेनेति। पश्चात्तासूभयं दृष्ट्वा स्वस्मिन्नेकमेवेति आधिक्यात् ता नमस्यन् नमने दोषशङ्काभावाय तासां स्तुतिरूपम् इदं वक्ष्यमाणं जगौ।' (सुबोधिनी १०।४७।५७)।

२. स एवमाराधितपादतीर्थादधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देवम् इहागतोऽहं विरहातुरात्मा ॥
(भाग० ३।४।२०)।

'यत्र वा सुखसम्बन्धो वियोगे सङ्गमादपि ।
सर्वलीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० १५) ।

'यत्र' इत्यादि । यत्र वियोगावस्थायां संयोगावस्थातोऽप्यधिकं सुखम्, क्षणे क्षणे एवान्तर्लीलान्तरप्राकट्यात्, कस्याश्चिल्लीलाया भावनेन प्रकटीभूताया अनुभवे, पुनरन्यस्या लीलाया दिदृक्षया तत्प्राप्तिसौकर्यात् । अत एव सुबोधिन्यामुक्तम्, *'आन्तरं तु परं फलम्'* (सुबोधिनी का० १०।२९।१।५) इति ।

अथवा मैं यहाँ आकर विरहविकल हो गया हूँ[१]" (भाग० ३।४।२०) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है ।

"जिस भक्तिमार्ग में प्रभु के विरह की दशा में, उनकी सभी लीलाओं का अनुभव होने से उनके सङ्गम की अवस्था में होने वाले सुख से भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है उसे शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहते हैं" (श्रीपुष्टिमा० १५) ।

'यत्र' (जिस भक्तिमार्ग में) इत्यादि पदों से आरम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं । जिस भक्तिमार्ग में भगवान् से वियोग की दशा में हृदय में प्रतिक्षण उनकी नयी-नयी लीलाओं का आविर्भाव होते रहने के कारण, भावना करने पर आविर्भूत हुई उनकी किसी एक लीला का अनुभव होने पर, उसी क्षण किसी दूसरी लीला को देखने की इच्छा होने पर उसे देख सकना (अर्थात् हृदय में उसकी भावना करना) सुकर होने के कारण, भगवान् के संयोग की दशा में होने वाले सुख से भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है वह शुद्धिपुष्टिभक्तिमार्ग है । इसीलिये श्रीमद्वल्लभाचार्य ने सुबोधिनीकारिकाओं में कहा है कि,

---

१. 'एवं प्रकारेण भगवता ज्ञापितार्थोऽहं पादौ प्रणम्य परिवृत्य विरहातुरात्मा इहागत इति सम्बन्धः । इहागत्य वा विरहातुरात्मा जातः इति ।' (सुबोधिनी ३।४।२०) ।

'फले च साधने चैव सर्वत्र विपरीतता ।
फलं भावः साधनं स पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० १६)।

'फले च' इत्यादि। यत्र साधनफलयोः वैपरीत्यं स शुद्ध-पुष्टिभक्तिमार्गः। तमेव स्पष्टयन्ति, 'फलम्' इत्यादिना। यत्र भावः निरुपधिस्नेहः, फलम् प्राप्तव्यम् इत्यर्थः। स्वरूपानन्द-प्राप्तिसाधनस्यापि भावस्य पूर्वप्रार्थनीयत्वेन फलत्वात्। स च भावो भगवद्दत्त एव प्राप्यते, इति स फलरूपो, भगवान् एव तत्र साधनम्, इति स्फुटमेव साधनफलयोर्वैपरीत्यम् इति भावः।

'मन में भगवान् की लीलाओं की अनुभूतिरूप आन्तर रमण परफल[1] अर्थात् परमानन्दस्वरूप है' (सुबोधिनीका० १०।२९।१।४-५)।

"जिस भक्तिमार्ग में फल और साधन में सर्वत्र विपरीतता होती है तथा स्वरूपानन्द की प्राप्ति का साधनरूप भाव अर्थात् भगवद्विषयक निरुपधिस्नेह फल होता है और उसकी प्राप्ति के साधन स्वयं भगवान् होते हैं उसे शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहते हैं" (श्रीपुष्टिमा० १६)।

'फले च' इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं। जिस मार्ग में साधन और फल में विपरीतता हो वह शुद्धपुष्टि-भक्तिमार्ग कहा जाता है। इसी कथन के आशय को 'फलं भावः' इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाले पाद में स्पष्ट करते हैं। जिस भक्ति-मार्ग में भाव अर्थात् भगवद्विषयक निरुपधिस्नेह फल अर्थात् प्राप्तव्य होता है। यद्यपि यह भाव स्वरूपानन्द की प्राप्ति का साधन है फिर भी पहले इसकी प्राप्ति की प्रार्थना या कामना की जाती है अतः इसे फल कहा गया है। इस भाव की प्राप्ति तभी होती है जब भगवान् इसे प्रदान करें अतः यह फल रूप कहा गया है। उपर्युक्त भाव की प्राप्ति के एक-

---

१. अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम्।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु परं फलम् ॥
(सुबोधिनीका० १०।२९।१।४-५)।

'पश्चात्तापः सदा यत्र तत्सम्बन्धिकृतावपि ।
दैन्योद्बोधाय सततं, पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० १७)।

'पश्चात्तापः' इत्यादि । यत्र भगवत्सम्बन्धिकृतौ भगवल्लीलाया-मनुभूयमानायामपि पश्चात्तापः स शुद्धपुष्टिमार्गः । अयमर्थः । भगवतो व्रजागमनादौ या व्रजभक्तानुगुणा कृतिः तदानन्दम्

मात्र साधन भगवान् ही हैं । इस प्रकार साधन और फल की विपरीतता स्पष्ट है* ।

*भाव या भक्ति साधन है और भगवान् साध्य या प्राप्य हैं इस सामान्य क्रम की विपरीतता—जो शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग का वैशिष्ट्य है—भागवत के वृत्रासुर के प्रत्यक्षप्राप्त भगवान् से भगवद्विषयक भाव की ही याचना[1] करने आदि के प्रसङ्गों में स्पष्ट है ।

"जिस भक्तिमार्ग में भगवान् के कार्यों या चरित्रों अर्थात् भगवान् की लीलाओं का अनुभव होते हुए भी दैन्य को जागृत करने (तथा जागृत रखने) के लिये भक्त सदैव (भगवान् की अन्य लीलाओं के अनुभव से वञ्चित रहने का) पश्चात्ताप किया करता है वह शुद्धपुष्टि-भक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० १७) ।

'पश्चात्ताप' इस पद से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं । जिस भक्तिमार्ग में भगवान् के कार्यों या चरित्रों अर्थात् भगवान् की लीलाओं का अनुभव हो रहे होने पर भी भक्त (अन्य लीलाओं के अनुभव से वञ्चित रहने का) पश्चात्ताप करते रहते हैं वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग है । उपर्युक्त कथन का आशय यह है । भगवान् के (दिन भर वन में पशुचारण करने के बाद लौटकर सायंकाल) व्रज को आने पर, गोपियाँ उनकी व्रजभक्तों के अनुकूल लीलाओं के आनन्द

---

१. अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपते गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥
(भाग० ६।११।२४) ।

अनुभवन्त्यो वनकृतलीलान्तराननुभवजन्यं पश्चात्तापं कुर्वन्ति[1], तेन च दैन्यमाविर्भवति, न तु मानादि । अयं चैको विलक्षणोऽनुभवः, 'पीत्वा मुकुन्द······' (भाग० १०।१५।४३) इत्यस्य व्याख्याने[2] स्पष्टः ।

'आविर्भावे नसापेक्षं दैन्यं यत्र हि साधनम् ।
फलं वियोगजं दैन्यम्, पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० १८)।

'आविर्भावे' इत्यादि । यत्र जीवाधिकरणकं दैन्यम् अन्य-

का अनुभव करती हुई भी, भगवान् द्वारा वन में की गयी (धेनुकवध आदि) अन्य लीलाओं के अनुभव के सौभाग्य से वञ्चित रह जाने से पश्चात्ताप करती हैं और इससे उनमें दैन्य का आविर्भाव होता है, न कि मान आदि का । यह एक विलक्षण अनुभव है जिसका विशद विवेचन 'पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैः' अर्थात् 'गोपियों ने अपने नेत्ररूप भ्रमरों से भगवन्मुखारविन्द का मकरन्दरस पान कर' (भाग० १०। १५।४३) इत्यादि श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में मिलता है ।

"जिस भक्तिमार्ग में जीव का (भगवान् के दर्शन के पूर्व होने वाला) दैन्य भगवदाविर्भाव का निरपेक्ष साधन एवं भगवान् के (दर्शन के बाद होने वाले उनके) वियोग से उत्पन्न होने वाला दैन्य फल (माना जाता) है, वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० १८) ।

'अविर्भावे' इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या

---

१. देखिये, भागवत १०।१५।४२ की सुबोधिनी, "आगच्छन्तं भगवन्तं वर्णयति, 'तं गोरजश्छुरितकुन्तल···' (भाग० १०।१५।४२) इति । तं भगवन्तं गोप्योऽभ्यगमन् इति सम्बन्धः । पूर्वं पुरुषार्थचतुष्टयसहिता दशरसयुक्ता लीला च प्रदर्शिता, सा गोपिकाभिर्न दृष्टा इति गोपिकानां भवति तापः, अतः तन्निवृत्त्यर्थं चतुर्दशधर्मयुक्तो भगवानत्र निरूप्यते ।" इत्यादि ।

२. द्रष्टव्य, सुबोधिनी १०।१५।४३

निरपेक्षं भगवदाविर्भावे कारणं, स शुद्धपुष्टिमार्गः। वियोगे मिलनार्त्या तदसम्भवजं यद्दैन्यम् तद् यत्र फलं प्रार्थनीयम् अवान्तरफलम्। विरहो हि दैन्यमुत्पादयति, संयोगो मानमिव, तद्दैन्यं च भगवन्तम् आविर्भावयति, अतः प्रार्थनीयत्वात् फलत्वम्। अत एव श्रीगोकुलनाथैः उक्तम् '*तां कृपां कुरु राधेश! यया तद्दैन्यमाप्नुयाम्*[1]' (गोकुलनाथकृतविज्ञप्तिः, १) इति।

'*समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि।*
समर्पणं च देहादेः,पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥' (श्रीपुष्टिप्रा० १९)।

करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में जीव की दीनता, विना किसी अन्य साधन की अपेक्षा किये ही भगवान् के आविर्भाव का हेतु बन जाती है वह शुद्ध-पुष्टिभक्तिमार्ग कहा-जाता है। यह वह मार्ग है जिसमें वियोग की स्थिति में मिलन की आकांक्षा और आतुरता रहने किन्तु उस दशा में मिलन सम्भव न होने से उत्पन्न होने वाला दैन्य फल अर्थात् प्रार्थनीय अवान्तर फल (माना जाता) है। जिस प्रकार संयोग मान को जन्म देता है उसी प्रकार विरह दैन्य को जन्म देता है तथा वह विरहजन्य दैन्य भगवान् का आविर्भाव कराता है, अतः वह दैन्य प्रार्थनीय है और प्रार्थनीय होने के कारण ही उसे फल कहा गया है। इसीलिये श्रीगोकुलनाथ ने कहा है, 'हे राधेश! मुझ पर वह कृपा कीजिये जिससे मैं उस दैन्य को प्राप्त कर सकूँ (जो आपकी कृपा का कारण है और जो मुझमें अणुमात्र भी नहीं है)' (गोकुलनाथकृतविज्ञप्ति १)।

"जिस भक्तिमार्ग में सर्वात्मना सारे विषयों का परित्याग कर दिया जाता है तथा देहादि को भगवान् को समर्पित कर दिया जाता है, वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० १९)।

---

१. यद्दैन्यं त्वत्कृपाहेतुः न तदस्ति ममाण्वपि।
तां कृपां कुरु राधेश! यया तद्दैन्यमाप्नुयाम्॥
(गोकुलनाथकृतविज्ञप्तिः, १)। मिलाइये, विट्ठलनाथकृतविज्ञप्तिस्तोत्र ३।१।

'समस्त'—इत्यादि । यत्र सकललौकिकविषयाणां त्यागः सानुरागग्रहणाभावः स शुद्धपुष्टिमार्गः। सर्वभावेन सर्वात्मना देहादेः यत्र समर्पणम् । अत एव व्रजवरवधूभिरुक्तम् 'संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं प्राप्ताः[1]' (भाग० १०।२९।३१) इति ।

'विषयत्वेन तत्त्यागः स्वस्मिन् विषयता स्मृतेः ।
यत्र वै सर्वभावेन पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥' (श्रीपुष्टिमा० २०) ।

'समस्तविषयत्याग' (अर्थात् सारे विषयों का त्याग) इस पाद से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में समस्त लौकिक विषयों का परित्याग कर दिया जाता है अर्थात् उनका अनुरागपूर्वक ग्रहण नहीं किया जाता वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग है। यह वह मार्ग है जिसमें सर्वभावेन अर्थात् सर्वात्मना देहादि को भगवदर्पित कर दिया जाता है। इसीलिये व्रजाङ्गनाओं ने भगवान् से कहा था, 'हम सभी विषयों का परित्याग कर आपके चरणों में आयी हैं' (भाग० १०।२९।३१)।

"जिस भक्तिमार्ग में विषयों को विषय के रूप में त्याग दिया जाता है तथा जीव सर्वात्मना भगवान् के स्मरण (अर्थात् भगवत्कर्तृक

---

१. मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं, सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूलम् ।
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्, देवो यथादिपुरुषो भजतेमुमुक्षून् ॥
(भाग० १०।२९।३१) ।

"यच्च भगवतोक्तं 'व्रजस्यानामयम्' (भाग० १०।२९।१८) इति तदस्माकं नोद्देश्यम्, यतः सर्वविषयान् एव सन्त्यज्य तव पादमूलं प्राप्ताः। अनेन त्यक्तार्थपरिग्रहः अनुचितः। नापि जारत्वेन समागतमिति निरूपितम् । एकादशेन्द्रियाणामपि विषयाः त्यक्ताः सवासनाः । तत्र विनिगमकं तव पादमूलं प्राप्ताः इति । अन्यथा पादमूलप्राप्तिरेव न स्यात् । यदुक्तं, 'व्रूतागमनकारणम्' (भाग० १०।२९।१८) इति, तत्राहुः 'भजस्व' इति ।" (सुबोधिनी १०।२९।३१) ।

'विषयत्वेन'—इत्यादि । *यत्र विषयत्वेन* विषयाणां *त्यागः* ममताविरहो, भगवदीयत्वेन ग्रहणं स *पुष्टिमार्गः*। कृतात्मनिवेदनानां तावदंशस्यैव त्याज्यत्वात् । *'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते, स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः*" (भाग० ८।२२।२०) इति वाक्यात् पदार्थमात्रस्य भगवदीयत्वेन

स्मरण) का विषय बनता है वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है" (श्रीपुष्टिमा० २०)।

'विषयत्वेन' (अर्थात् विषय के रूप में) इस पद से प्रारम्भ होने वाली कारिका की व्याख्या करते हैं। जिस भक्तिमार्ग में विषयों का विषय के रूप में परित्याग कर दिया जाता है (अर्थात् विषयों में विषय के रूप में ममत्व का अभाव रहता है) तथा उन्हें भगवदीय के रूप में (अर्थात् वे भगवान् के हैं इस बुद्धि से) गृहीत किया जाता है वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है क्योंकि जिन्होंने आत्मनिवेदन या आत्मसमर्पण कर दिया है उन (प्रपन्न जीवों) के लिए केवल उतना अंश (अर्थात् विषयों को विषयत्वेन ग्रहण करना) ही त्याज्य है। वलि की पत्नी विन्ध्यावली के, 'हे भगवन्! इन तीनों लोकों की सृष्टि आपने अपनी लीला के लिये की है, किन्तु अन्य दुर्वुद्धि लोग अपने को इनका स्वामी मान बैठते हैं' (भाग० ८।२२।२०), इस कथन से भगवदीयत्वेन पदार्थ-

---

१. क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः॥
(भाग० ८।२२।२०)।

"सर्वसामर्थ्यं सूचयन्ती सम्बोधयति ईश! इति। ते त्वया, आत्मनः स्वस्य, क्रीडार्थम् इदं त्रिजगत् लोकत्रयात्मकं कृत्स्नं जगत्, कृतं सृष्टम्। तत्र त्वत्क्रीडोपकरणीभूते जगति, अपरे केचित् स्वाम्यं स्वत्वबुद्धिं कुर्युः कुर्वन्ति। तथा बुद्धिं कृत्वा वयं दातार इति मन्यन्ते। तन्न घटत इत्याह, कर्तुः इति। कर्तुः जगत्स्रष्टुः प्रभोः पालकस्य, अस्यतः संहर्तुश्च, तव

उत्तमत्वम्, तथा सति ममतामात्रस्यैव संसारत्वेन अनादरणीयत्वम्। किञ्च, 'स्वस्मिन्' इत्यादि। यत्र 'सर्वभावेन' सर्वात्मना, स्वस्मिन् जीवे भगवत्स्मृतेः विषयता स शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः। अयमर्थः। भक्तो हि यदि भगवत्कर्तृकस्मृतिविषयो भवति तदा भक्तेः साफल्यम्, 'यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याऽभद्ररन्धन!'[१]

मात्र के उत्तम होने की सिद्धि होती है और ऐसी स्थिति में पदार्थों में ममतामात्र ही संसार के रूप में अनादरणीय एवं हेय सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि भगवदीयपदार्थों में ममता रूप संसार ही हेय है। उपर्युक्त कारिका के 'स्वस्मिन् विषयता स्मृतेः' इस चरण की व्याख्या करते हैं। जिस मार्ग में जीव सर्वात्मना भगवान् के स्मरण (अर्थात् भगवत्क-

---

ते किम् आवहन्ति किं समर्पयन्ति ? न किमपि, स्वत्वस्यैवाभावात्। तर्हि कुत एवमभिमानः तत्राह, कुधियः इति। लोकलज्जापि तैस्त्यक्तेत्याह— त्यक्तह्रिय इति। वस्तुतस्तु त्वयैव मायाप्रेरणया अवरोपितः कर्तृवादो वयं स्वतन्त्राः कर्तार इति वादमात्रं येषां ते। अयं भावः। 'त्वदीयमेव सर्वं यथेच्छं गृहाण' इति वक्तव्ये, 'अहं त्रिलोकेशो मामुपेत्य जनः पुनरन्यत्र याचितुं नार्हति, त्वं तु बालिशमतिः स्वल्पमेव याचसे' इत्युक्त्वा पुनः, 'लोकत्रयं मयार्पितं तृतीयपादाय देहं समर्प्य प्रतिश्रुतम् ऋतं करोमि' इति देहादिषु स्वाम्याविष्कारेण ब्रुवन्नयं त्वन्मायामोहितः कुबुद्धिः निर्लज्जश्च, यतस्त्वमेव देहादिसर्वस्यापि स्वामी। अतो मन्दबुद्धिमेनं केवलं कृपयैव विमुच्य पालय इति!" (बालप्रबोधिनी ८।२२।२०)।

१. एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः।
यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन ॥ (भाग० ४।३०।२८)।

"हे अभद्ररन्धन! अमङ्गलनाशन! दीनेषु वत्सलैः कृपालुभिः प्रभुभिः स्वामिभिः एवातद् एव भाव्यम् कार्यम् किं तद् इत्यपेक्षायामाहुः, 'यद्' इति। एषोऽस्मदीय इति स्वबुद्ध्या काले सेवादिसमये अनुस्मर्यते इति यत्।" (बालप्रबोधिनी ४।३०।२८)।

(भाग० ४।३०।२८) इति प्रचेतोवाक्यात्। एतच्च 'नामभिः दूरगान् पशून्। क्वचिदाह्वयति प्रीत्या" (भाग० १०।१५।१२) इत्यस्य व्याख्याने स्पष्टम्। एवमुक्त्वा उपसंहरन्ति,

'एवंविधैर्विशेषेण प्रकारैस्तु सदाश्रितैः।
हृदि कृत्वा निजाचार्यान्, पुष्टिमार्गो हि बुद्ध्यताम् ॥'

(श्रीपुष्टिमा० २१)।

'एवम्' इत्यादिना। एवम् अन्यैरपि पुष्टिमार्गीयैः शुद्धपुष्टौ

तृ कस्मरण) का विषय बनता है अर्थात् भगवान् द्वारा याद किया जाता है वह शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग कहा जाता है। इस कथन का आशय यह है। भक्त यदि भगवत्कर्तृक स्मरण का विषय बनता है अर्थात् यदि भगवान् भक्त को याद करते हैं तो भक्ति को सफल हो गयी समझना चाहिए, जैसा कि वरुण के, "हे अमङ्गलनाशक प्रभु ! दीनों पर दया करने वाले प्रभुओं को इतनी ही कृपा करनी चाहिए कि अवसर पर वे उन्हें 'यह मेरा है' इस प्रकार की स्वजन बुद्धि से स्मरण कर लें" (भाग० ४।३०।२८) इस वाक्य से ज्ञात होता है। यह बात, 'कभी दूर चले गये पशुओं को उनका नाम लेकर प्रेम से पुकारते या बुलाते हैं' (भाग० १०।१५।१२) इस वाक्य की सुबोधिनी में स्पष्ट है।

उपर्युक्त प्रकार से शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग का निरूपण कर श्रीहरिराय 'एवम्' इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होनेवाली अधोलिखित कारिका से अपनी श्रीपुष्टिमार्गलक्षणानि नामक कृति का उपसंहार करते हैं,

सदाश्रित अर्थात् सज्जनाश्रित या भगवदाश्रित व्यक्तियों को "विशेषतः उपर्युक्त प्रकार की विशेषताओं से सर्वदायुक्त पुष्टिभक्तिमार्ग को श्रीमद्वल्लभाचार्य को हृदय में धारण कर, समझना चाहिए" (श्रीपुष्टिमा० २१)।

इसी प्रकार (अर्थात् श्रीहरिराय की ही भाँति) अन्य पुष्टिमार्गियों

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी १०।१५।१२।

श्रद्धाधिक्यात् प्रायः तत्स्वरूपम् एव उच्यते, न तु सामान्यतः पुष्टिभक्तिस्वरूपम् । सामान्यलक्षणं तु पूर्वोक्तम् एव निबन्धादिसिद्धम् इति कोविदा एव विदाङ्कुर्वन्तु ॥

इति श्रीगोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे पुष्टिविवेकः समाप्तिमगमत् ॥ ४ ॥

ने भी शुद्धपुष्टिभक्ति में अधिक श्रद्धा होने के कारण, समान्यतः पुष्टिभक्ति के स्वरूप का निरूपण न कर प्रायः शुद्धपुष्टिभक्ति के स्वरूप का ही निरूपण किया है। विद्वानों को विदित हो कि पुष्टिभक्ति का तत्त्वदीपनिबन्ध आदि में प्रतिपादित सामान्यलक्षण तो वही है जो हमने पहले (ऊपर पृष्ठ ८१–८२ पर) बताया है ॥

श्रीगोवर्द्धनधर, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ के चरणों के अनुगामी (अथवा अनुचरों के) सेवक, लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध बालकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित प्रमेयरत्नार्णव का पुष्टिविवेक नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

पुष्टिभक्त्यधिकारविवेकः

(पञ्चमोऽध्यायः)

अथ पुष्टिभक्तिमार्गाधिकारो विमृश्यते । 'तत्र,

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३), इति श्रुतेः यस्मिन् भगवत्कृपा सोऽधिकारी । तत्र कृपाया अप्रत्यक्षत्वात् तत्कार्यरूपपुष्टिमार्गरुच्या सा अनुमीयते, यतः कृपां विना पुष्टिमार्गे रुचिर्नोदेति । तदुक्तं निबन्धे, *'कृपायुक्तस्य तु यथा सिध्येत् कारणमुच्यते'* (सर्वनिर्णयप्र० का०

पुष्टिभक्त्यधिकार-विवेक

(पञ्चम अध्याय)

अब पुष्टिभक्तिमार्ग के अधिकारी का विचार किया जाता है । श्रुति के, 'इस आत्मतत्त्व की उपलब्धि न तो प्रवचन से हो सकती है, न मेधा से और न बहुश्रुत होने से ही । यह आत्मतत्त्व तो उसी व्यक्ति के द्वारा प्राप्य है जिसका यह वरण करे' (कठोप० १।२।२३, मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है कि पुष्टिभक्तिमार्ग का अधिकारी वही होता है जिस पर भगवान् की कृपा हो जाये । भगवान् की कृपा प्रत्यक्षगम्य नहीं है अतः अप्रत्यक्ष होने के कारण उसका अनुमान उसके कार्य के आधार पर किया जाता है और उस कृपा का अनुमापक कार्य है पुष्टिमार्ग में व्यक्ति की अभिरुचि, क्योंकि भगवान् की कृपा के विना पुष्टिमार्ग में अभिरुचि नहीं होती । तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के, 'कृपायुक्त (अर्थात् जिसको भगवत्कृपा की उपलब्धि हो गयी है उस) व्यक्ति को

२२६) इति; व्याख्याने *'कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते'* (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २२६) इति। एवञ्च, पुष्टिमार्गीयफलदित्सासमुद्भूतभगवत्कृपाजन्यपुष्टिमार्गविषयकरुचिमान् अधिकारी इति ज्ञेयम्।

तादृशरुच्युत्पत्तौ प्रकार उच्यते। तथा हि, दैवजीवेषु यं जीवं पुष्टिमार्गे अङ्गीकर्तुं हरिः वाञ्छति, तस्य प्रभुकृपया सत्सङ्गे सति तत्कृपया परिचर्यादिना तत्प्रसङ्गाद् यथासम्भवं श्रवणतनुजसेवनादिरूपभजनानुभवाद् एतन्मार्गे रुचिराविर्भवति, *'एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते'*

फल की सिद्धि या प्राप्ति किस प्रकार होती है यह बताते हैं' (सर्वनिर्णय प्र० का० २२६) इस वाक्य तथा इसकी व्याख्या में कहे गये, 'किसी व्यक्ति पर भगवान् की कृपा हो गयी है इस बात का निश्चयात्मक ज्ञान उस व्यक्ति की भक्तिमार्ग में अभिरुचि हो गयी है यह देख कर होता है' (सर्वनिर्णयप्र०प्र० २२६) इत्यादि वाक्य में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार पुष्टिमार्ग का अधिकारी वह व्यक्ति है जिसकी, पुष्टिमार्गीय फल प्रदान करने की इच्छा से होने वाली भगवत्कृपा के कारण, पुष्टिमार्ग में रुचि उत्पन्न हो गयी है, ऐसा समझना चाहिए।

पुष्टिमार्ग में उपर्युक्त रुचि किस प्रकार उत्पन्न होती है, यह बताते हैं। दैवी जीवों में से जिस जीवको भगवान् पुष्टिमार्ग में स्वीकार करना चाहते हैं उसकी, भगवत्कृपा से सत्सङ्ग की उपलब्धि होने पर उसकी कृपा से भगवद्भक्तों की परिचर्या आदि का अवसर मिलने से प्रसङ्गवश यथासम्भव भगवत्कथाश्रवण एवं तनुजा सेवा आदि रूप भक्ति का अनुभव होने से, इस मार्ग अर्थात् पुष्टिभक्तिमार्ग में रुचि आविर्भूत अर्थात् जाग्रत हो जाती है, जैसाकि श्रीमद्भागवत के 'इस प्रकार निरन्तर उन महात्माओं की सेवा करने से मेरा चित्त विशुद्ध हो गया और उन महात्माओं के (अपरिग्रह, सङ्गनिवृत्ति, श्रवण, कीर्तन एवं भगवच्चिन्तन

(भाग० १।५।२५) इतिवाक्यात् । एतादृशरुचिमान् अधिकारी पुष्टिमार्गे ।

ततो मार्गरुच्या क्रियमाणे श्रवणादौ चित्ते भगवदावेशः, तदा चित्तशुद्धिः, ततः श्रवणाद्यनुवृत्तिः, तदुक्तं द्वितीयस्कन्धे,

'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥
धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति[1]' । (भाग० २।८।५-६) इति । एवं श्रवणाद्यावृत्तौ भगवति रुचिरुत्पद्यते, '*ताः श्रद्धया*

आदि रूप) धर्म में मेरा (आत्मा की अर्थात् मन की) रुचि अपने आप उत्पन्न हो गयी' (भाग० १।५।२५) इस वाक्य से ज्ञात होता है । इस प्रकार की रुचि वाला व्यक्ति ही पुष्टिमार्ग का अधिकारी है ।

तदनन्तर पुष्टिमार्ग में रुचि उत्पन्न हो जाने से श्रवणादि करने पर चित्त में भगवान् का प्रवेश या प्राकट्य होता है और तब चित्त शुद्ध हो जाता है और फिर श्रवणादि की अनुवृत्ति होती है । श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में परीक्षित् ने यही बात अधोलिखित वाक्यों में कही है, 'भगवान् कृष्ण कर्णरन्ध्र द्वारा अपने भक्तों के भावमय हृदयंकमल पर आकर बैठ जाते हैं तथा उनके मनोमल को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार शरद् ऋतु जल का गँदलापन दूर कर देती है । जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है वह श्रीकृष्ण के चरणकमलों को नहीं छोड़ता[1] ।' (भाग० २।८।५-६) । इस प्रकार श्रवणादि की आवृत्ति होने पर भगवान् में रुचि उत्पन्न होती है, जैसा कि नारद के 'कृष्ण की उन कथाओं को श्रद्धापूर्वक प्रत्येक वाक्य, पद एवं अक्षर का अर्थ समझते

---

१. द्रष्टव्य; भाग० २।८।५–६ की प्रकाशसहिता सुबोधिनी तथा बालप्रबोधिनी ।

मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद् रुचिः" (भाग० १।५।२६) इति वाक्यात्। 'इयम् अननुभूतविषया परोक्षरुचिरित्यभिधीयते। इयं हि श्रवणादिना सत्पुरुषादरदर्शनादिना रुचिराविर्भवति इति प्रथमकक्षापन्ना ज्ञेया। '*यदनुध्यासिना युक्ता*' (भाग० १।२।१५) इति श्लोकव्याख्याने '*सर्वत्रालौकिकेषु पदार्थेषु माहात्म्यश्रवणाद् रुचिरुत्पद्यते*' (सुबो० १।२।१५) इति सुबोधिन्याम् इयमेव रुचिरुक्ता इति बोध्यम्। सा भक्तिरेव, '*रुचिः श्रवणादिः प्रेम च इति भक्तिस्त्रिविधा*' इति प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तेः।

ततोऽननुभूतविषयया भगवद्रुच्या श्रवणादिरूपे भजने भक्तिवर्द्धिनीप्रकरणोक्तदिशा बीजरूपो भावः सूक्ष्मभक्तिः वृद्धि

हुए सुनने से प्रियकीर्तिवाले भगवान् कृष्ण में मेरी रुचि हो गयी' (भाग० १।५।२६) इस वाक्य से ज्ञात होता है। विषय (अर्थात् भगवान्) के अपरोक्ष अनुभव से विरहित यह रुचि परोक्षरुचि कही जाती है। यह रुचि श्रवणादि, सत्पुरुषों का आदर-सत्कार करने एवं उनका दर्शन, सत्सङ्ग करने आदि से आविर्भूत होती है अतः इसे प्रथम कक्षा की (अर्थात् प्रारम्भिक) रुचि समझना चाहिए। भागवत के 'जिनके निरन्तर ध्यान रूप खड्ग से युक्त विवेकी लोग' (भाग० १।२।१५) इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में 'सर्वत्र अलौकिक पदार्थों में, उन अलौकिक पदार्थों का माहात्म्य सुनने से रुचि उत्पन्न होती है' (सुबोधिनी १।२।१५) इस वाक्य में इसी रुचि का प्रतिपादन किया गया है। यह रुचि भक्ति ही (का नामान्तर) है जैसाकि प्रथम स्कन्ध की सुबोधिनी टीका की 'भक्ति, रुचि, श्रवणादि और प्रेम के भेद से त्रिविध है' इस उक्ति से ज्ञात होता है।

तदनन्तर भगवान् में होने वाली विषय (अर्थात् भगवान्) के अनुभव से विरहित रुचि से श्रवणादिरूप भजन करनेपर श्रीमद्वल्लभाचार्य-

---

१. द्रष्टव्य, भाग० १।५।२६ की सुबोधिनी एवं बालप्रबोधिनी।

प्राप्नोति। स भावो भगवता पूर्वमेव जीवत्वसम्पादनोत्तरं पुष्टिमार्गीयत्वसिद्धये सूक्ष्मरूपः स्थापित इति ज्ञेयम्[1]। स बीजभाव इत्युच्यते। स एव भावः परोक्षरुच्या श्रवणादि-सहकृतः अन्तर्भगवत्स्फूर्तिं करोति, '*श्रवणादिना तु स्वाभाविको भगवानाविर्भवति*' (भागवतार्थप्र० प्र० २।१६) इति द्वितीय-स्कन्धनिबन्धात्। तथा सति अन्तर्भगवत्स्फूर्तौ यत्किञ्चिदनु-भवाद् रुचिविशेष उत्पद्यते, स च अपरोक्षरुचिः इत्युच्यते। तथा स एव भावो बीजरूपः श्रवणादिसाधनैर्वृद्धः सन् प्रेमरूपो भवति। स च स्नेहो हरीतर-विषय-राग-निवर्तकः, 'स्नेहाद्राग-

---

कृत (षोडशग्रन्थान्तर्गत) भक्तिवर्धिनी नामक (एकादशश्लोकात्मक) प्रकरणग्रन्थ में प्रतिपादित प्रकार से बीजरूपभाव या सूक्ष्मभक्ति की वृद्धि होती है। अवधेय है कि यह सूक्ष्मरूप भाव भगवान् ने पहले ही, जीवत्व सम्पादित कर देने के बाद, जीव के पुष्टिमार्गीय होने की सिद्धि के लिये स्थापित कर दिया था[1] और (इसीलिये) यह बीजभाव कहा जाता है। श्रवणादि से युक्त होने पर यह बीजभाव उपर्युक्त परोक्ष-रुचि से अन्तस्तल में भगवान् की स्फूर्ति कराता है जैसा कि श्रीवल्लभा-चार्य के तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के भागवतार्थप्रकरण की प्रकाश व्याख्या के 'श्रवणादि से स्वाभाविक भगवान् आविर्भूत होते हैं' (भागवतार्थ-प्र० प्र० २।१६) इस वाक्य से ज्ञात होता है। तब अन्तस्तल में भगवान् के स्फुरित होने पर ज़ो अनुभव होता है उससे एक विशेष रुचि उत्पन्न होती है। उस विशेष रुचि को सिद्धान्त में अपरोक्ष रुचि कहा जाता है। उस अपरोक्षरुचि से उपर्युक्त बीजरूप भाव ही श्रवणादि साधनों द्वारा वृद्धिंगत होकर प्रेम बन जाता है। यह प्रेम या स्नेह भगवान् के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में होने वाले राग की निवृत्ति कर देता है जैसाकि श्रीवल्लभाचार्यकृत 'भक्तिवर्द्धिनी' के, 'स्नेह से राग

---

१. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ ३७।

विनाशः स्याद्' (भक्तिवर्द्धिनी, ४) इति भक्तिवर्द्धिनीग्रन्थात्; भगवद्भिन्नरागनिवर्तको भगवद्भावः स्नेहः इति कार्यलक्षणात्।

ततः सेवा-श्रवणावृत्त्या वर्द्धमानः स एव आसक्तिरूपो भवति। स तु भगवत्सम्बन्धरहितपदार्थेषु बाधकत्वं भासयति, *'आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः'* (भक्तिवर्द्धिनी, ४) इति भक्तिवर्द्धिनीप्रकरणात्। अरुचिः न रुच्यभावः किन्तु रुचिविरुद्धो भावः, विरोधार्थे नञः स्मरणात्[1], *'गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च*

का नाश होता है' (भक्तिवर्द्धिनी, ४) इस वाक्य से सिद्ध होता है। स्नेह के 'भगवान् से भिन्न (अन्य सभी) विषयों में विद्यमान राग का निवर्तक अर्थात् नाशक भगवद्भाव स्नेह कहा जाता है' इस कार्य लक्षण (अर्थात् स्नेह के कार्य की दृष्टि से की गयी स्नेह की परिभाषा) से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

तदनन्तर वह स्नेह या प्रेम ही भगवान् की सेवा और उनकी लीलाओं के श्रवण की पुनः-पुनः आवृत्ति से बढ़ कर आसक्तिरूप हो जाता है और उसके कारण भक्त को भगवान् के सम्बन्ध से विरहित पदार्थ बाधक प्रतीत (या ज्ञात) होने लगते हैं जैसा कि भक्तिवर्द्धिनी के 'आसक्ति से गृह (आदि) में अरुचि हो जाती है' (भक्तिवर्द्धिनी, ४) इस वाक्य से ज्ञात होता है। भक्तिवर्द्धिनी के इस पाद में प्रयुक्त 'अरुचि' शब्द का अर्थ 'रुचि का अभाव' नहीं प्रत्युत 'रुचिविरोधी भाव' है; (अरुचि का अर्थ रुचिविरोधी भाव मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है) क्योंकि 'नञ्' का विरोध के अर्थ में प्रयोग व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध है और भक्तिवर्द्धिनी के उपर्युक्त आशय को स्पष्ट करते हुए परवर्ती श्लोक में ही कहा गया है कि 'भगवान् में आसक्ति हो जाने पर घर में रहने वाले (परिजन-पुरजन आदि) बाधक और अनात्मस्वरूप जान पड़ने लगते

---

१. तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥ (वैयाकरणभूषणसारे)

भासते' (भक्तिवर्द्धिनी, ५) इति तत्रैव विवरणात्। तथा च भगवदितरविषयबाधकत्वस्फूर्तिसम्पादको भावं आसक्तिः इति लक्षणम्। ततः स एव उत्तरोत्तरं वृद्धो व्यसनत्वं प्राप्नोति। विशेषेण अस्यन्ते क्षिप्यन्ते दैहिका धर्मा अनेन इति व्यसनम्।

सा व्यसनभावं प्राप्ता भक्तिः मानसी सेवा इत्युच्यते। '*सा परानुरक्तिः ईश्वरे'* (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र १।१।२) इति भक्तिसूत्रात्। '*यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि'* (भक्तिवर्द्धिनी, ५) इति भक्तिवर्द्धिन्याम्। '*चेतः तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा*'[1]

है' (भक्तिवर्द्धिनी, ५)। इस प्रकार आसक्ति का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि भगवान् के अतिरिक्त सभी विषयों के बाधक होने की अनुभूति का सम्पादन करा देने वाला भाव आसक्ति कहा जाता है।

तदनन्तर उपर्युक्त आसक्तिरूप भाव ही उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होकर व्यसन हो जाता है। व्यसन शब्द का अर्थ है वह भाव जिससे दैहिक धर्मों का विशिष्ट रूप से निक्षेप हो जाता है।

व्यसनभाव को प्राप्त भक्ति 'मानसी सेवा' कही जाती है। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र के भक्ति के 'वह (भक्ति) ईश्वर में परम अनुरक्ति है' (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र १।१।२) इस लक्षण से (भी) उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। भक्तिवर्द्धिनी में कहा गया है कि 'कृष्ण में व्यसन हो जाने पर भक्त कृतार्थ हो जाता है' (भक्तिवर्द्धिनी, ५)। श्रीवल्लभाचार्य द्वारा सिद्धान्तमुक्तावली के 'कृष्णप्रवण चित्त (अर्थात् चित्तवृत्ति) ही (मानसी) सेवा है। तनुजा सेवा और वित्तजा सेवा उपर्युक्त मानसी

---

१. "सेवां लक्षयति, 'चेतःतत्प्रवणम्' (सिद्धान्तमुक्तावली, २) इति। तत् शब्देन पूर्वोक्तः कृष्णः परामृश्यते।... तथा च कृष्णप्रवणं चेतः सेवा,

देवानां गुणलिङ्गानाम् आनुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥

(सिद्धान्तमुक्तावली, २) इति मुक्तावलीप्रकरणे तदर्थस्यैव स्फुटीकरणात्, मुक्तावलीप्रकाशे एतद्विवृतौ, '*ता नाविदन्मय्य-नुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्*' (भाग० ११।१२।१२) इत्येकादशवाक्योपन्यासाच्च;

सेवा की सिद्धि में साधक या सहायक हैं।' (सिद्धान्तमुक्तावली, २) इत्यादि श्लोक में इसी अभिप्राय के स्पष्ट किये जाने, तथा सिद्धान्त मुक्तावली के प्रथम श्लोक की विवृति नामक अपनी व्याख्या में विट्ठल-नाथ द्वारा श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध के 'भावातिरेक से मुझमें तन्मय हो गयी व्रज की उन गोपियों को, अपने कहलाने वाले पति-पुत्रादि की, अपने शरीर की, अपनी, परलोक की और इस लोक की भी सुध-बुध नहीं रह गयी थीं' (भाग० ११।१२।१२), इस भगवद्वाक्य को उद्धृत करने एवं भागवत के तृतीयस्कन्ध के

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। (भाग० ३।२५।३२-३३) इति लक्षणवाक्ये मनोवृत्तेरेव भक्तित्वेन कथनाद् वृत्तेश्च कारणतानतिरेकात्। अतः तादृशी चित्तवृत्तिः मानसी सेवा इति फलितम्। 'यथा' इत्यारभ्य 'एतदेव सेवास्वरूपम् इत्याहुः' (सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिः,१) इत्यादि। अत एव आथर्वणे 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरा-स्येन मनःकल्पनम्' इति श्रूयते। अत्रापि मनसः कल्पनं भक्तिः इत्युक्त्या तादृक्चित्तस्यैव भक्तित्वमायाति। भक्तिमीमांसासूत्रेऽपि 'सा परानुरक्ति-रीश्वरे' (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र १।१।२) इति लक्षणेन चित्तधर्मस्यानुराग-स्यैव भक्तित्वम् उक्तं धर्मधर्मिणोरभेदात्। भक्तिशब्देन च सेवैव विवक्षिता, भज सेवायाम् इति धात्वर्थात्'''। भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी सेवा एव आयाति। सा केन साधनेन स्याद् इत्याकाङ्क्षायामाहुः, 'तत्सि-द्ध्यै' इति।'''तनुजसेवायाः''''वित्तजायाश्च'''उभयोश्च तथात्वावगतेः।:" (सिद्धान्तमुक्तावली-योजना, २)।

'मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ॥' (भाग० ३।२९।११-१२)

इति तृतीयस्कन्धे तादृग्भक्तेः लक्षितत्वाच्च। अत एव एतद्-व्याख्याने *'यथा कायिकगतिर्गोपिकानाम्'* (सुबोधिनी ३।२९।११) इत्यनेन मुख्यभक्ता एव उदाहृताः। अतो व्यसनपर्यन्तं साधनाचरणम्। अत एव सुबोधिनी-निबन्धयोः प्रमाण-प्रमेय-साधनाख्यैः त्रिभिः प्रकरणैः प्रेमासक्ति-व्यसनानि निरूप्य अग्रे फलं निरूपितम्। अतः श्रीमद्भागवतादौ श्रीमदाचार्योक्तौ श्रीमद्विट्ठलेशोक्तौ च यत्र यत्र साधनानां प्रेमावधिकत्वं दृश्यते तत्र तत्र प्रेम-व्यसनयोः अभेदमादायोक्तम् इति ज्ञेयम्। 'प्रेम-

---

'जिस प्रकार गङ्गा का जल समुद्र में निरन्तर गिरता रहता है उसी प्रकार मन का भगवान् में निर्बाध रूप से निरन्तर लगा रहना निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है' (भाग० ३।२९।११-१२), इस वाक्य में उसी प्रकार की भक्ति का लक्षण मिलने (अर्थात् भक्ति के उपर्युक्त स्वरूप का ही निरूपण होने) से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। इसीलिए तृतीयस्कन्ध के इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में श्रीवल्लभाचार्य ने **'जिस प्रकार गोपियों की कायिक गति'** (सुबोधिनी ३।२९।११) इत्यादि वाक्यों द्वारा मुख्य भक्तों का उदाहरण ही दिया है। अतः व्यसनपर्यन्त साधन का आचरण होता है। इसीलिये सुबोधिनी तथा तत्त्वदीपनिबन्ध में प्रमाण, प्रमेय एवं साधन नामक तीन प्रकरणों में प्रेम, आसक्ति और व्यसन का निरूपण करने के बाद फल का निरूपण किया गया है। अतः श्रीमद्भागवतादि में तथा श्रीमद्वल्लभाचार्य एवं श्रीविट्ठलनाथ की उक्तियों में जहाँ-जहाँ साधनों के प्रेमावधिक होने का उल्लेख है वहाँ प्रेम और व्यसन को अभिन्न मान कर ही वैसा कहा गया है (अर्थात् वहाँ प्रेम शब्द से अभिप्राय उपर्युक्त व्यसन से ही है) ऐसा समझना चाहिए। श्रीवल्लभाचार्य के **'प्रेमसेवा से भग-**

सेवात एव स्याद् विशिष्टव्यक्तिरुत्तमा'' (सर्वनिर्णयप्र० का० ९२) इत्यादावपि प्रेमसेवाशब्देन मानसी सेवा व्यसनशब्दवाच्या ज्ञेया।

एवं सति भगवद्रुच्युत्पत्त्यनन्तरं क्रियमाणैः श्रवणादिभिः साध्यायाः प्रेमभक्तेः प्रथमावस्था प्रेमशब्दवाच्या, ततो मध्यमावस्था आसक्तिः, परिपाकावस्था व्यसनशब्दवाच्या, इत्येवम् अभेदात् कुत्रचित् प्रेमशब्देन आसक्तिः, कुत्रचिद् व्यसनम् अभिधीयते इत्यर्थः स्वारस्याद् बोध्यः। मुख्यफलं तु व्यसनोत्तरमेव, 'यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे, कृतार्थः स्यात् तदैव हि' (भक्तिवर्द्धिनी, ५) इत्यत्र एवकारेण अन्ययोगव्यवच्छेदात्।

वान् कृष्ण की उत्तम अभिव्यक्ति होती है अर्थात् भगवान् का प्राकट्य होता है' (सर्वनिर्णयप्र० का० ९२) इत्यादि वाक्यों में भी 'प्रेमसेवा' शब्द से अभिप्राय व्यसन शब्द से अभिहित की जाने वाली उपर्युक्त मानसी सेवा से ही है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार भगवान् में रुचि उत्पन्न होने के बाद किये जाने वाले श्रवणादि से साध्य प्रेमभक्ति की प्रथम या प्रारम्भिक अवस्था प्रेम शब्द से, (द्वितीय या) मध्यम अवस्था आसक्ति शब्द से एवं परिपाक की अवस्था व्यसन शब्द से अभिहित की जाती है और इसीलिए प्रेम शब्द को यथावसर कहीं आसक्ति तथा कहीं व्यसन—जहाँ जो अर्थ उपयुक्त हो—का बोधक समझना चाहिये। मुख्यफल की प्राप्ति तो व्यसन के बाद ही होती है जैसा कि भक्तिवर्धिनी के, 'भक्त कृतार्थ तभी होता है जब कृष्ण में व्यसन हो जाता है' (भक्तिवर्धिनी, ५), इस वाक्य में

---

१. "विशिष्टाभिव्यक्तौ हेतुमाह—प्रेमसेवात इति। भक्तिशब्दस्य प्रत्ययार्थः प्रेम धात्वर्थः सेवा। 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' इति वाक्यात्, 'पश्यन्ति ते मे' (भाग० ३।२५।३५) इति च। विशिष्टस्य कृष्णस्य कृतार्थत्वज्ञापनाय अभिव्यक्तिः उत्तमा, न तु दैत्यवधार्थमिव।" (सर्वनिर्णयप्र० प्र० ९२)।

इयं व्यसनात्मिकैव भक्तिः भगवता देवहूतिं प्रति आत्यन्तिकीत्वेन उक्ता,

'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।' (भाग० ३।२९।१२-१४) इति तृतीयस्कन्धात् । व्याख्यातं चाचार्यैः, *'अत्यन्तप्रेमोत्पत्तावेवं भवति'* (सुबोधिनी ३।२९।१३-१४) इति । अतः प्रेमपरिपाकावस्था व्यसनम् । ततो व्यसनवशात् सर्वत्र पुरुषोत्तमबुद्धौ सर्वत्रैव उत्कटस्नेहो भवति । स सर्वात्मभावशब्दवाच्यः ।

'एव' (तब ही) शब्द के प्रयोग से अन्य स्थितियों में कृतार्थ होने का निषेध सूचित किये जाने से ज्ञात होता है ।

भगवान् (कपिल) ने देवहूति को आत्यन्तिकी भक्ति के रूप में उपर्युक्त व्यसनात्मिका भक्ति का ही उपदेश दिया था, जैसा कि भागवत के तृतीयस्कन्ध के 'पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण में अर्थात् मुझमें अहैतुकी और अव्यवहित भक्ति (से सम्पन्न) मेरे भक्त, मेरी सेवा छोड़ कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व स्वीकार करने को भी प्रस्तुत नहीं होते । वह भक्तियोग ही आत्यन्तिक कहा गया है ।' (भाग० ३।२९।१२-१४), इन वाक्यों से ज्ञात होता है । उपर्युक्त की व्याख्या करते हुए श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि, 'अत्यन्त प्रेम की उत्पत्ति होने पर ऐसा होता है' (सुबोधिनी ३।२९।१३-१४) । अतः प्रेम की परिपाकावस्था ही व्यसन कही जाती है । तदनन्तर व्यसन के कारण सर्वत्र पुरुषोत्तमबुद्धि हो जाने पर सर्वत्र अर्थात् पदार्थमात्र में उत्कटस्नेह हो जाता है । यह उत्कटस्नेह ही सर्वात्मभाव शब्द से अभिहित किया जाता है ।

तत्सिद्धौ पुरुषोत्तमाविर्भावो बाह्याभ्यन्तरभेदेन[1] निरन्तरं सिद्ध्यति। ततः फलावसरे सेवाफलप्रकरणोक्तरीत्या हि अलौकिकसामर्थ्यं फलं भविष्यति इत्यलं विस्तरेण।

एवमनेन प्रकारेण शुद्धपुष्टिभक्तानामधिकारः फलसहितो निरूपितः। फलं तु नित्यलीलान्तःप्रवेशलक्षणम्, तदेव सेवा-फलविवरणे[2] अलौकिकसामर्थ्यशब्देन उच्यते। आनन्दमया-धिकरणभाष्ये भगवता सह कामाशनाख्यं यत्फलम् उक्तं जीवस्य अत्यनुगृहीतस्य तदिदम्। पुष्टिप्रवाहमर्यादानिरूपण-

---

इस सर्वात्मभाव की सिद्धि हो जाने पर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का का बाह्य और आन्तर भेद से द्विविध आविर्भाव या प्राकट्य होता है। तदनन्तर फलप्राप्ति के समय श्रीवल्लभाचार्यविरचित सेवाफल नामक कृति में निरूपित रीति से अलौकिकसामर्थ्यरूप (अर्थात् नित्यलीलान्तः-प्रवेशरूप) फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस विषय में और अधिक विस्तार में न जाकर यहीं विराम करते हैं।

इस तरह उपर्युक्त प्रकार से शुद्धिपुष्टिभक्तों के अधिकार और फल का भी निरूपण किया गया। फल का लक्षण है 'नित्य लीला में प्रवेश'। सेवाफल विवरण में श्रीवल्लभाचार्य ने इस नित्य लीलान्तःप्रवेशरूप फल को ही अलौकिक सामर्थ्य कह कर निरूपित किया है। ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण के भाष्य (अणुभाष्य १।१।११) में भगवान् के द्वारा अत्यधिक अनुगृहीत जीव का "भगवान् के साथ भोगरूप जो फल प्रतिपादित किया गया है वह भी यह नित्यलीलान्तःप्रवेशरूप फल ही

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनीःका० १०।२९।१४; १०।२९।४२।२।

२. 'सेवायां फलत्रयम् अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवौपयिको देहो वा वैकुण्ठादिषु।' (सेवाफलविवरणम्, पृष्ठ १५७)। श्रीबालकृष्णभट्ट-सम्मत पाठ के लिये देखें नीचे पृष्ठ १३७।

ग्रन्थे '*भगवानेव हि फलम्*'(पुष्टिप्र० १५) इत्यनेन स्वरूपस्यैव फलत्वम् उक्तं तदपि नित्यलीलान्तःप्रवेशरूपम् ।

तच्च बहुप्रकारकं ज्ञेयम् । नित्यलीलायां हि केचन भक्त-रूपेण गो-पशु-पक्षि-वृक्षादिरूपेण नद्यादिरूपेण पुरुषोत्तमात्मकं फलं निरवधि-आनन्दात्मकम्, आनन्दमयाधिकरणभाष्योक्त-रीत्या तादृशमलौकिकं देहं प्राप्य देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण-जीवेषु भगवदानन्दप्राकट्यात् तादृशा भूत्वा अनुभवन्ति । अत एव, '*अहो अमी देववरामरार्चितम्*' (भाग० १०।१५।५) इत्यादिभिः भगवता स्वलीलापरिकरस्वरूपं तादृशमेव निरूपितम् । पुष्टि-मार्गीयो जीवस्तु फलदशायां तत्परिकरमध्येऽन्यतमः कश्चिद्

है । इसी प्रकार पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदनिरूपण नामक अपनी कृति में श्रीवल्लभाचार्य ने 'भगवान् ही फल हैं' (पुष्टिप्र० १५) इस वाक्य में स्वरूप को ही फल कहा है, वह भी नित्यलीलान्तःप्रवेशरूप ही है ।

उपर्युक्त नित्यलीलाप्रवेश के अनेक प्रकार या रूप हैं । नित्यलीला में कुछ जीव भक्त के रूप में और कुछ गाय, पशु, पक्षी, वृक्ष, नदी आदि के रूप में, ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण के अणुभाष्य में प्रति-पादित प्रकारसे, उस प्रकार का अलौकिक शरीर प्राप्त कर, देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और जीव में भगवदीय आनन्द के प्रकट हो जाने से उसी प्रकार के होकर असीम आनन्दात्मक पुरुषोत्तमात्मक फल का अनुभव करते हैं । इसीलिये भगवान् ने 'हे देववर ! ये वृक्ष देवताओं द्वारा पूजित आपके चरणकमलों को शिरसा नमस्कार करते हैं' (भाग० १०।१५।५) इत्यादि वाक्यों द्वारा अपनी लीला के परिकर का उसी प्रकार का स्वरूप बताया है[1] । पुष्टिमार्गीय जीव फलदशा में भगवान् के परिकर में कोई अन्यतम स्थान प्राप्त करता है अर्थात् किसी एक विशिष्ट

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी १०।१५।५ ।

भविष्यति। तत्र भगवदिच्छा नियामिका। पुष्टिभक्तिः चतुर्विधा, शुद्धपुष्टि-पुष्टि-पुष्टि-मर्यादापुष्टि-प्रवाहपुष्टिभेदात्। तत्र पुष्टिभक्तित्वेन रूपेणैक्येऽपि प्रकारभेदाद्भेदः। एवमेतत्फलस्यापि नित्यलीलान्तःप्रवेशत्वेन ऐक्येऽपि प्रकारभेदो भक्त-गो-पशु-वृक्षादिरूपेण बोध्यः। एतदेव तारतम्यं च। तथा सति सर्वेषां प्रवाहादिभेदभिन्नानां पुष्टिस्थानाम् एकमेव अलौकिक-सामर्थ्यरूपं फलं नित्यलीलान्तःपातित्वशब्दवाच्यम्। *'तदापीतेः संसारव्यपदेशात्'* (ब्रह्मसूत्र ४।२।८) इति तत्त्वसूत्रे, *'तदा नित्यलीलान्तःपातलक्षणपुष्टिमार्गीयदशायाम्'* (अणुभाष्य ४।२।८) इति भाष्योक्तेः। नित्यलीलाश्च शुद्धपुष्टिस्था व्रजसम्बन्धिन्यो ज्ञेयाः। तादृशनित्यलीलान्तःपाते सति पुनः प्रकारविशेषस्तु

रूप में रहता है। इस सम्बन्ध में भगवान् की इच्छा ही नियामक है। शुद्धपुष्टि, पुष्टिपुष्टि, मर्यादापुष्टि और प्रवाहपुष्टि के भेद से पुष्टिभक्ति चार प्रकार की है। इन चारों में, पुष्टिभक्ति होने के रूप में अभेद होने पर भी, प्रकारभेद होने से भेद है। इसी प्रकार यद्यपि इन चारों का फल भी एक ही है, और वह है नित्यलीला में प्रवेश, किन्तु पुष्टिभक्ति के भेदों के अनुरूप ही उसमें भी भक्त, गाय, पशु, वृक्ष आदि के रूप में रहने का भेद हो जाता है और यही तारतम्य है। इस प्रकार प्रवाह, मर्यादा, पुष्टि और शुद्ध चारों प्रकार के पुष्टिभक्तों को प्राप्त होनेवाले एक ही अलौकिक सामर्थ्यरूप फल का अभिधान 'नित्यलीलान्तःपातित्व' (अर्थात् नित्यलीला में प्रवेश) शब्द से किया जाता है, यह 'तदापीतेः संसारव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र ४।२।८) इस ब्रह्मसूत्र के अणुभाष्य के 'तदा का अर्थ है तब अर्थात् नित्यलीला में प्रवेश रूप पुष्टिमार्गीय दशा में' (अणुभाष्य ४।२।८) इस वाक्यसे ज्ञात होता है। शुद्धपुष्टिस्थ नित्यलीलायें व्रजसम्बन्धिनी हैं। उपर्युक्त प्रकार की नित्य लीलामें प्रवेश होने पर प्रकार-विशेष अर्थात् किसी विशेष रूप में अवस्थिति तो जीव

इष्ट एव, *'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्'* (भाग० १०।४७।६१) इति वाक्यात्। अत आधिदैविके बृहद्-वृन्दावनादौ भक्तरूपेण गोपादिरूपेण वा स्थित्वा रसानुभवः।

आधुनिकानामपि पुष्टिमार्गस्थितानां तादृग्भगवत्कृपया पर्यवसाने फलरूपभावोत्पत्तौ नित्यलीलान्तःपातो भविष्यति। तत्र ये आधुनिका हीनाधिकारिणः पुष्टिमार्गीयाः तेषां चरम-जन्माभावाद् बहुभिर्जन्मभिः तादृशभावोत्पत्तौ नित्यलीला-प्रवेशो भावी इति बोध्यम्। तृतीयस्कन्धे, *'देवानां गुणलिङ्गानाम्'* (भा० ३।२५।३२) इत्यत्र सुबोधिन्याम्; *'अन्येषां तु यथाकथञ्चित् क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिः अक्षय्यत्वाद् बहुभिः जन्मभिः पुष्टि*

को इष्ट ही है, यह बात उद्धव के 'मेरे लिये यह बहुत बड़ी बात होगी कि मैं इन गोपियों की चरणरज की अभिलाषा रखनेवाली झाड़ियों, लताओं या ओषधियों में से कुछ हो जाऊँ' (भाग० १०।४७।६१) इत्यादि वाक्य से ज्ञात होती है। अतः पुष्टिजीव आधिदैविक महावन, वृन्दावन आदि में भक्त के रूप में या गोप आदि के रूप में स्थित होकर रसानुभूति करते हैं।

आजकल के पुष्टिमार्गियों को भी भगवान् की कृपा से अन्त में फलरूप भाव की उत्पत्ति होने पर नित्यलीला में प्रवेश प्राप्त होगा। यहाँ यह अवधेय है कि जो आधुनिक पुष्टिमार्गीय भक्त हीन-अधिकारी हैं उनका यह अन्तिम जन्म नहीं है अतः उनका नित्यलीलाप्रवेश अनेक जन्मों (की साधना) के बाद फलरूप भाव (या भक्ति) की उत्पत्ति होने पर होगा। यह बात तृतीयस्कन्ध के, 'देवरूप (अर्थात् आसुररूप इन्द्रियोंसे भिन्न) इन्द्रियों की…' (भाग० ३।२५।३२) इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या के अधोलिखित वाक्य से ज्ञात होती है; 'अन्य लोगों की तो यथाकथञ्चित् सम्पादित की गयी भगवान् में खण्डशः लगी

गता अन्तिमजन्मनि भक्तिरूपां वृत्तिं जनयिष्यति इति न काप्यनुपपत्तिः' (सुबो० ३।२५।३२) इत्युक्तेः ।

निबन्धे सेवाप्रकरणे '*भक्तिमार्गे मुख्यानां*[1] *फलमाह*' (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २१८ आभासे) इत्युक्त्वा ये व्याख्याताः ते सर्वे मर्यादाभक्तिमार्गीया एव । '*अधुना तु*' (सर्वनिर्णयप्र० का० २१२) इत्यारभ्य; '*सायुज्यं कृष्णदेवेन*' (सर्वनिर्णयप्र० का० २१८) इत्यन्तेन गौणमुख्यभेदेन मर्यादाभक्तानां फलं सायुज्यावधि निरूपितम्; अत एव '*मर्यादाभक्तिमार्गस्य काष्ठा*

चित्तवृत्ति अक्षय होने के कारण अनेक जन्मों में पुष्ट होकर अन्तिम जन्म में भक्तिरूप वृत्ति को जन्म देगी, अतः उपर्युक्त कथन में कोई अनुपपत्ति नहीं है।' (सुबोधिनी ३।२५।३२)।

तत्त्वार्थदीपनिबन्धके सर्वनिर्णयप्रकरण में सेवा अर्थात् भक्ति के विचारके प्रसङ्गमें '(मर्यादा-)भक्तिमार्ग में मुख्य अधिकारियों को क्या फल प्राप्त होता है, यह बताते हैं' यह कह कर जिन भक्तों के प्राप्य फल का निरूपण किया गया है वे सब मर्यादाभक्तिमार्गीय ही हैं। वहाँ 'अधुना तु' (सर्वनिर्णयप्र० का० २१२) इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होने वाली कारिकासे प्रारम्भ कर, 'सायुज्यं कृष्णदेवेन' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण से सायुज्य (सर्वनिर्णयप्र० का० २१८) इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली पंक्ति तक गौण और मुख्य के भेद से मर्यादाभक्तों को प्राप्त होनेवाले सायुज्यावधि फल का निरूपण किया गया है। इसीलिये तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के भागवतार्थप्रकरणके 'मर्यादाभक्तिमार्ग

---

१. सर्वनिर्णय प्रकरण की आवरणभङ्गटीका के लेखक पुरुषोत्तम का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार प्रकाश का पाठ अधोलिखित है, 'भक्तिमार्गे अमुख्यानां मध्यमाधिकारिणां फलमाह इत्यर्थः ।' (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २१८ आवरणभङ्गः, पृष्ठ, १६६)

गङ्गा परा स्मृता' (भागवतार्थप्र० का० ९।६५) इति निबन्धाद् गङ्गायाः मर्यादाभक्तिरूपायाः सेवनात् सायुज्यं भवति इति, *'सायुज्यं वान्यथा तस्मिन् गङ्गातीरे न संशयः'* (भागवतार्थप्र० का० ९।७०) इति नवमनिबन्धे उक्तम्। सायुज्यं च एकत्व-रूपं भगवत्प्रवेशशब्दवाच्यम्, *'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'* (गीता १८।५५) इत्यादिवाक्यसिद्धम्। अग्रे, *'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा'* (सर्वनिर्णयप्र० का० २२८) इत्यारभ्य, *'गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्'* (सर्वनिर्णयप्र० का० २४६)

की पराकाष्ठा गङ्गा कही गयी है' (भागवतार्थप्र० का० ९।६५) इत्यादि वाक्य से मर्यादाभक्तिरूप सिद्ध होने वाली गङ्गा के सेवन से सायुज्य होने की बात भागवतार्थप्रकरण के ही नवमस्कन्धार्थ के 'देहभाव के दृढ़ होने पर गङ्गातट पर रह कर उसकी सेवा करने वालों को कृष्ण का दासत्व प्राप्त होता है अन्यथा भगवान् कृष्ण से सायुज्य प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है[1]' (भागवतार्थप्र० का० ९।७०) इस वाक्य में कही गयी है। यह सायुज्य एकत्वरूप है और 'भगवत्प्रवेश' शब्द का वाच्य है तथा इसकी सिद्धि भगवद्गीताके 'फिर मुझे तत्त्वतः जानकर, तदनन्तर मुझ में प्रवेश करता है' (गीता १८।५५) इत्यादि वाक्यों से होती है।

आगे चल कर उसी सर्वनिर्णय प्रकरण में 'अथवा उपर्युक्त प्रकार के गुरु के अभाव में स्वयं ही किसी स्थान पर भगवान् हरि की मूर्ति स्थापित कर' (सर्वनिर्णयप्र० का० २२८) इत्यादि वाक्यों से प्रारम्भ कर 'गृहस्थ का मुख्य धर्म निरूपित किया गया' (सर्वनिर्णयप्र० का०

---

१. "देहाभावे दृढे तु स्याद् भक्तानां कृष्णदासता।
सायुज्यं वान्यथा तस्मिन् गङ्गातीरे न संशयः ॥" (भागवतार्थप्र० का० ९।७०)।

इत्यन्तेन पुष्टिभक्तिमार्गीयप्रकार उक्तः । विवरणे तु, 'एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यमश्नुते' (सर्वनिर्णप्रप्र० प्र० २४६) इत्यत्र सायुज्यशब्देन अलौकिकसामर्थ्यम् एव । अत एव, 'आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया' (शास्त्रार्थप्र० का० १३) इत्यस्य व्याख्याने, "'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैत्ति० उप० २।१।१) इत्यत्र यत्सायुज्यं मुख्यतया निरूपितं तत्कामनायां कृष्ण एव सेव्यः" (शास्त्रार्थप्र० प्र० १३) इत्यनेन मर्यादामार्गीयसायुज्याद्भेदं निरूप्य अलौकिकसामर्थ्यरूपतैव प्रदर्शिता । एतच्चानन्दमयाधिकरणभाष्ये स्पष्टतमसुपलभ्यते इति ततोऽवधेयम् ।

---

२४६) इत्यादि वाक्य तक पुष्टिभक्तिमार्गीय प्रकार का निरूपण किया गया है । (२४६ वीं कारिका के) उपर्युक्त वाक्य की (प्रकाश) व्याख्या में 'इस प्रकार आचरण करता हुआ भक्त कुटुम्बसहित भगवत्सायुज्य प्राप्त करता है' (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २४६) इस वाक्य में आये सायुज्य शब्द से (उपर्युक्त नित्यलीलान्तःपातरूप) अलौकिकसामर्थ्य ही अभिप्रेत है । इसीलिये शास्त्रार्थप्रकरण के 'सायुज्य की कामना होने पर तो आदिमूर्ति श्रीकृष्ण की ही सेवा करनी चाहिए' (शास्त्रार्थप्र० का० १३) इस वाक्य की व्याख्या करते हुए श्रीवल्लभाचार्य ने "'ब्रह्म को जाननेवाला पर तत्त्व को प्राप्त करता है' (तैत्ति० उप० २।१।१) इस श्रुतिवाक्य में जिस सायुज्य का मुख्य फल के रूप में निरूपण हुआ है उस सायुज्य की कामना होने पर श्रीकृष्ण की ही सेवा करनी चाहिए" (शास्त्रार्थप्र० प्र० १३) इत्यादि वाक्य से प्रस्तुत सायुज्य का उपर्युक्त मर्यादामार्गीय सायुज्य से भेद बताकर इस सायुज्य के अलौकिक सामर्थ्यरूप होने का ही प्रतिपादन किया है । इस विषय का विशद विवेचन आनन्दमयाधिकरण के अणुभाष्य में उपलब्ध होता है अतः जिज्ञासुओं को इसे वहीं से जानना चाहिए ।

सेवाफलग्रन्थव्याख्याने, '*अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु*'[1] (सेवाफलविवरणम्, पृष्ठ १५७) इत्यनेन यत् फलत्रयमुक्तं तत्र अलौकिकसामर्थ्यं पुष्टिमार्गीयाणां फलम्, शिष्टं फलद्वयं तु मर्यादाभक्तानामिति ज्ञेयम्। मूलेऽपि, '*यादृशी सेवना प्रोक्ता*' (सेवाफलम्, १) इत्यत्र सेवनाशब्देन मर्यादासेवा पुष्टिसेवा चोक्ता इति बोद्धव्यम्। विवृतौ फलत्रयं सेवाद्वयस्य उक्तम्। तत्र प्रथमं पुष्टिसेवायाः, शिष्टं फलद्वयं मर्यादासेवायाः इति विवेकः। अत एव सायुज्यं सेवोपयोगिदेहप्राप्तिश्च अन्यत्रापि मर्यादाभक्तस्य उक्ता;

'*देहभावे दृढे तु स्याद् भक्तानां कृष्णदासता।*

श्रीवल्लभाचार्यने सेवाफलम् नामक अपनी कृति की व्याख्यारूप सेवाफलविवरणम् में 'अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य तथा वैकुण्ठ आदि में भगवत्सेवोपयोगी देह' (सेवाफलविवरणम्) इस वाक्य में जिन तीन फलोंका प्रतिपादन किया है उनमें से अलौकिकसामर्थ्य पुष्टिमार्गियों को प्राप्त होने वाला फल है तथा शेष दोनों फल मर्यादामार्गीय भक्तों को प्राप्त होनेवाले फल हैं, ऐसा समझना चाहिए। सेवाफलप्रकरण की प्रथम कारिका में 'जिस प्रकार की सेवा बतायी गयी है' (सेवाफलम् १), इत्यादि वाक्य में सेवना या सेवा शब्द से मर्यादा और पुष्टि इन दोनों प्रकार की सेवाओं या भक्तियों का ग्रहण अभिप्रेत है, ऐसा समझना चाहिए। सेवाफलविवरण में इन दोनों प्रकार की सेवाओं के तीन फल बताये गये हैं, जिनमें से प्रथम फल पुष्टिसेवा का है और शेष दोनों फल मर्यादा सेवा के हैं। इसीलिये अन्य स्थलों पर भी मर्यादा भक्त को सायुज्य एवं सेवोपयोगी देह की प्राप्ति होने की बात कही गयी है, उदाहरणार्थ तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के भागवतार्थप्रकरण के नवमस्कन्धार्थ में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि, 'गङ्गा तट पर रह कर उसकी सेवा करने

१. पाठान्तर के लिये देखें, ऊपर पृष्ठ १३० टिप्पणी २।

सायुज्यं वान्यथा तस्मिन् गङ्गातीरे न संशयः ॥' (भागवतार्थ-प्र० का० ९।७०.) इति नवमस्कन्धनिबन्धे । तदविरोधाद् अत्रापि तत्फलद्वयं मर्यादाभक्तस्यैव इति निश्चयः । विद्यायाः पञ्चपर्वमध्ये या भक्तिरुक्ता सा मार्यादिकी एव इति, *'यया विद्वान् हरिं विशेद्'*[1] (शास्त्रार्थप्र० का० ४६) इति निबन्धात् ।

क्वचित् मार्यादिक्यां भक्तौ प्रेम-शब्दव्यवहारो दृश्यते, तत्र भगवति मोचकत्वबुद्ध्या प्रेम अस्ति इति तत् सोपाधि प्रेम, न तु पुष्टिमार्गीयाणामिव निरुपाधिकम्, तदुक्तं तृतीयाध्याये, *'गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः'* (ब्रह्मसूत्र ३।३।२९)

वालों को देहभाव के दृढ़ होने पर कृष्ण का दासत्व प्राप्त होता है, अन्यथा भगवान् कृष्ण से सायुज्य प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है' (भागवतार्थप्र० का० ९।७०) । इन कथनों से अविरोध होने के कारण सेवाफल के उपर्युक्त वाक्य में भी सायुज्य एवं सेवोपयोगी देह की प्राप्तिरूप दोनों फलों के मर्यादाभक्त को ही प्राप्त होने की वात कही गयी है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है । इसी प्रकार तत्त्वार्थदीप-निवन्ध के 'जिससे विद्वान् हरि में प्रविष्ट होते हैं'[1] (शास्त्रार्थप्र० का० ४६) इस वाक्य से ज्ञात होता है कि विद्या के पाँच पर्वों में जिस भक्ति की गणना की गयी है वह मर्यादा भक्ति ही है ।

कहीं कहीं मर्यादा भक्तिके लिये भी प्रेम शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है । ऐसे स्थलों पर प्रेम शब्द का प्रयोग सोपाधिक प्रेम के लिये हुआ है । मर्यादा भक्ति में भगवान् को मुक्ति प्रदान करने वाला मान कर इसी भाव से उनसे प्रेम किया जाता है अतः मर्यादाभक्ति में किया जाने वाला प्रेम सोपाधिक प्रेम है, पुष्टिमार्गीय भक्तों के प्रेम के समान निरुपाधिक नहीं । यह वात 'मर्यादा और पुष्टि के भेद से ज्ञान का फलजनकत्व उपपन्न है अन्यथा अर्थात् मर्यादा

---

१. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ ३३ एवं स्नेहप्रपूरणी पृष्ठ १४४--१४७ ।

इति तत्त्वसूत्रीयभाष्ये[1]। मर्यादापुष्टिभेदेनाङ्गीकारे वैलक्षण्याद् आद्यायाम् अङ्गीकृतानां मुमुक्षयैव श्रवणादौ प्रवृत्तिः तद्दातृत्वेन एव भगवति प्रेम अपि, न तु निरुपाधिः इति।

'आसन्यस्य हरेर्वापि सेवया' (शास्त्रार्थप्र० का० ३५) इत्यस्य व्याख्याने *'सायुज्यब्रह्मभावौ हरिसेवयैव भवतो नान्यसेवया'* (शास्त्रार्थप्र० प्र० ३६) इत्यत्रापि सेवा मार्यादिकी इति ज्ञेयम्। अत एव मर्यादास्थानामेव सायुज्यं फलम्, पुष्टिस्थास्तु 'दीय

और पुष्टि का भेद मान कर व्यवस्था न करने पर विरोध होगा" (ब्रह्मसूत्र ३।३।२९) इस सूत्र के अणुभाष्य में स्पष्ट की गयी है[2]। भगवान् जीवों को मर्यादा और पुष्टि के भेद से अङ्गीकार करते हैं। अतः उन दोनों प्रकारों में भेद है। भगवान् जिन जीवों को मर्यादाभक्ति में अङ्गीकार करते हैं उनकी श्रवणादि में प्रवृत्ति मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से ही होती है, और वे भगवान् को मोक्ष देने वाले के रूप में ही प्रेम करते हैं अतः उनका प्रेम निरुपाधिक नहीं होता प्रत्युत सोपाधिक ही होता है।

'आसन्य अर्थात् प्राण की उपासना से अथवा भगवान् हरि की सेवा से[3]' (शास्त्रार्थप्र०का० ३५) इत्यादि पंक्तियों की प्रकाश व्याख्या में, 'सायुज्य और ब्रह्मभाव की प्राप्ति भगवान् हरि की सेवा से ही होती है किसी अन्य की सेवा से नहीं[3]' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ३६) इत्यादि वाक्यों में भी सेवा शब्द से मर्यादाभक्ति ही अभिप्रेत है, ऐसा समझना चाहिए। इसीलिये सायुज्यरूपफल मर्यादाभक्तिमार्ग में स्थित

---

१. "गतेः ज्ञानस्य, अर्थवत्त्वं फलजनकत्वम्, उभयथा मर्यादा-पुष्टिभेदेनेत्यर्थः....। अन्यथा मर्यादापुष्टिभेदेन व्यवस्थाया अकथने विरोधाद् हेतोः तथेत्यर्थः।" (अणुभाष्यम् ३।३।२९)।

२. द्रष्टव्य, अणुभाष्य ३।३।२९।

३. द्रष्टव्य, स्नेहप्रपूरणी पृष्ठ १०९-११३।

मानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' (भाग० ३।२९।१३) इत्यादि-वाक्येभ्यो नाद्रियन्ते सायुज्यान्तमुक्तिम् । एतच्च, 'वीक्ष्यालका-वृतमुखम्' (भाग० १०।२९।३९) इत्यस्य सुबोधिन्यां[1] स्पष्टम् । तत्र हि 'प्रथमं सारूप्यं सालोक्यं सामीप्यं सायुज्यम् इति मोक्षभेदाः' (सुबो० १०।२९।३९) इत्युक्त्वा, अग्रे अलकादिस्वरूपं तत्फलं च व्याख्याय, 'हसितावलोकम्' (भाग० १०।२९।३९) इत्यस्य व्याख्याने, 'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां न भक्तिविलास' (सुबो० १०।२९।३९) इत्यारभ्य, 'अनुभवरसो हि भिन्नतया स्थितौ भवति' (सुबो० १०।२९।३९) इत्यन्तेन, सायुज्यं नाकाङ्क्षितम् इत्युप-पादितम् । अतः सायुज्यं प्राप्तानां, 'सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनानु-

---

जीवों को ही मिलता है; पुष्टिमार्गीय जीव तो, जैसा कि 'मेरे (पुष्टिमार्गीय) भक्त मेरी सेवा छोड़ कर, दी जाने पर भी, सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व रूप मुक्ति तक लेने को तैयार नहीं होते' (भाग० ३।२९।१३) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, सायुज्यमुक्तिपर्यन्त मुक्तियों को भी आदर नहीं देते। यह बात भागवत के 'आपके अलकों से समावृत मुख को देख कर' (भाग० १०।२९।३९) इस श्लोक की सुबोधिनी टीका में स्पष्ट है। वहाँ 'प्रथमतः सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य ये मोक्ष के भेद हैं' (सुबो० १०।२९।३९) यह कह कर, अलकों आदि के स्वरूप और फल की व्याख्या करके, मूलश्लोक के 'हसितावलोकम्' (भाग० १०।२९।३९) इस पद की व्याख्या में 'ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट जीवों को भक्ति के विलास का अनुभव नहीं होता' (सुबो० १०।२९।३९) इस वाक्य से प्रारम्भ कर, 'अनुभवरस की अनुभूति तो पृथक् अवस्थित होने पर ही होती है' (सुबो० १०।२९।३९) इस वाक्य तक यह प्रतिपादित किया गया है कि गोपियों को सायुज्य की आकाङ्क्षा नहीं है। अतः जैसा कि 'सायुज्य में अत्यधिक

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी १०।२९।३९ ।

भवात् सदा' इति वाक्याद् भवन्नपि परमानन्दानुभवः स्वस्वरूपेणैव, न त्वलौकिकसामर्थ्यं प्राप्तानामिव सर्वेन्द्रियैरात्मना च, *'ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा'*[1] (शास्त्रार्थप्र० का० ५०) इति निबन्धात्। अतः सायुज्यं स्वरूपान्तःपातः, स नापेक्षितः पुष्टिभक्तानां, किन्तु नित्यलीलान्तःपात एव इति सुधीभिर्विभावनीयम्।

एतद्भक्त्यधिकारो विशेषानुग्रहसाध्यः,

'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्[2] ॥' (भाग०

रस की अनभूति होती है क्योंकि उसमें जीव को भगवान् की अनुभूति अपने से भिन्न रूप में अर्थात् पृथक् होती है' इस वाक्य से ज्ञात होता है, जिन्हें सायुज्य प्राप्त हो गया है वे परम आनन्द का अनुभव अपने स्वरूप से ही करते हैं, अलौकिक सामर्थ्य को प्राप्त कर लेने वाले तथा सभी इन्द्रियों और आत्मा से भी आनन्द का अनुभव करने वाले जीवों की भाँति नहीं, इस बात का ज्ञान शास्त्रार्थप्रकरण के 'ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट जीवों को (केवल) आत्मा द्वारा ही सुख की अनुभूति होती है' (शास्त्रार्थप्र० का० ५०) इस वाक्य से होता है। अतः सायुज्य का अर्थ है स्वरूपान्तःपात अर्थात् भगवान् के स्वरूप में प्रवेश। पुष्टिभक्त इस सायुज्य की नहीं प्रत्युत नित्यलीलामें प्रवेश की ही अपेक्षा अर्थात् आकाङ्क्षा रखते हैं यह सुधीजनों को समझ लेना चाहिए।

इस पुष्टिभक्ति का अधिकार भगवान् के विशेष अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकता है, जैसा कि भागवत के, 'हृदय में वार-वार चिन्तन किये जाने पर भगवान् जिस समय जिस जीव पर कृपा करते हैं (तभी और

१. द्रष्टव्य, स्नेहप्रपूरणी, पृष्ठ १५३—१५६।

२. 'ननु, यदि वेदवादिनोऽपि ब्रह्मादयो न जानन्ति तदा को वान्यो वेद इत्यपेक्षायामाह, यदा इति। यदा यं पुरुषं भगवान् अनुगृह्णाति तदा

४।२९।४६) इति वाक्यात्। एतद्भक्तिप्रवर्तका व्रजभक्ता एव,

'भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥' (भाग० १०।४७।२५) इति वाक्यात्। व्याख्यातं च श्रीमदाचार्यैः *'एतेन शास्त्रप्रसिद्धायां भक्तौ दानादिसाधनानि श्रूयन्ते अस्यां तु प्रसिद्ध्यभावात् साधनमपि न पश्याम इति भावः सूचितः'* (सुबोधिनी

वही जीव भगवत्तत्त्व को जान पाता है तथा इस ज्ञान के बाद, निरन्तर भगवदेकनिष्ठ होने के कारण) उसकी लौकिक मर्यादा (अर्थात् लौकिक व्यवहार) एवं वैदिक मर्यादा (अर्थात् वैदिक कर्ममार्ग) में बद्धमूल आस्था निवृत्त हो जाती है' (भाग० ४।२९।४६), इस वाक्य से ज्ञात होता है। इस भक्ति के प्रवर्तक व्रजभक्त ही हैं जैसाकि गोपियों के प्रति उद्धव के 'यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आप लोगों ने उत्तम-श्लोक भगवान् कृष्ण की उस अनुत्तम[1] अर्थात् सर्वोत्तम भक्ति का प्रवर्तन किया (अर्थात् आदर्श उपस्थित किया) है जो मुनियों को भी दुर्लभ है' (भाग० १०।४७।२५) इस कथन से सिद्ध होता है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीवल्लभाचार्य ने भी कहा है कि, 'उपर्युक्त कथन से यह भाव सूचित किया गया है कि शास्त्रों में शास्त्रप्रसिद्ध (अर्थात् मर्यादा) भक्ति के तो दान आदि साधन बताये गये हैं किन्तु इस भक्ति

स भगवत्तत्त्वं वेद इति शेषः। एवं भगवदनुग्रहे को हेतुः, तत्राह, आत्मभावित इति अन्तःकरणे चिन्तित इत्यर्थः। तद्ध्यानमेवानुग्रहे हेतुः इति भावः। भगवदनुगृहीतस्य तत्त्वज्ञस्य तद्भक्तस्य किं लक्षणमित्यपेक्षायामाह, स इति। निरन्तरं भगवदेकनिष्ठत्वेन लोके लोकमर्यादायां, वेदे वेदमर्यादायां च नितरां स्थितां मतिं स जहाति, द्विविधामपि मर्यादां नानुसन्धत्त इत्यर्थः।' (भाग० ४।२९।४६ की बालप्रबोधिनी)।

१. 'न उत्तमा यस्याः भवदीयायाः अन्या भक्तिरस्ति, अतो ब्रह्मकल्पमारभ्याद्यप्रभृति भक्तिर्वृद्धाद्य पर्यवसिता।' (सुबोधिनी १०।४७।२५)।

१०।४७।२५) इति । 'अतः सर्वोत्तमा इयं पुष्टिभक्तिः इति भाग्यवद्भिर्ज्ञेयम् ॥

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे पुष्टिभक्त्यधिकारविवेकः समाप्तिमगात् ॥ ५ ॥

की (शास्त्रों में) प्रसिद्धि न होने के कारण इसकी प्राप्ति का कोई साधन भी नहीं दिखाई देता।' (सुबोधिनी १०।४७।२५)। अतः भाग्यवान् (पुष्टिभक्त) लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि यह भक्ति सर्वोत्तम है।

श्रीगोवर्द्धनधर, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ के चरणों के अनुगामी (अथवा अनुचरों के) सेवक, लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध बालकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित प्रमेयरत्नार्णव का पुष्टिभक्त्यधिकार-विवेक नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

सर्वात्मभावविवेकः

(षष्ठोऽध्यायः)

पुरुषोत्तमलाभे यो मुख्यहेतुस्तवोदितः ।
तस्य सर्वात्मभावस्य स्वरूपमिह वर्ण्यते ॥

भगवद्विषयको निरुपधिस्नेहो भक्तिविशेषः सर्वात्मभावः । तथाहि, भावो नाम रतिः, *'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते'* इति वाक्यात् । आत्मनो भाव आत्मभावः । यथा आत्मन्यात्मनो भावो निरुपधिरेव । *'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति'* (बृह० उप० २।४।५; ४।५।६) इत्यादिश्रुतेः, *'नृप स्वात्मैव वल्लभः'* (भाग० १०।१४।५०) इत्यादिवाक्याच्च । अतो यथात्मनि

सर्वात्मभाव-विवेक

(षष्ठ अध्याय)

अब हम सर्वात्मभाव—जिसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्राप्ति का मुख्य साधन कहा गया है—के स्वरूप का निरूपण करेंगे । सर्वात्मभाव भगवद्विषयक निरुपाधिक स्नेह अर्थात् एक विशिष्ट प्रकार की भक्ति को कहते हैं । 'देवादिविषयक रति को भाव कहा जाता है' इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि भाव रतिविशेष का ही नामान्तर है । आत्मा का भाव आत्मभाव कहा जाता है । व्यक्ति को अपनी आत्मा से सहज, निरुपाधिक प्रेम होता है । 'मैत्रेयि ! पुत्र पुत्रों के लिये प्रिय नहीं होते' (बृह० उप० २।४।५; ४।५।६) इत्यादि श्रुतिवाक्यों तथा भागवत के, 'हे राजन् ! सभी प्राणियों को अपनी आत्मा से ही निरुपाधिक, सहज प्रेम होता है' (भाग० १०।१४।५०) इत्यादि वाक्यों से (भी)

शुद्धः स्नेहः तथा भगवति कर्तव्यः इति श्रुतितात्पर्यार्थः। अत एव, '*स ते आत्मान्तर्याम्यमृतः*[1]' (बृह० उप० ३।७।३-२३) इत्यादिना आत्मत्वं बोधयति। '*तत्त्वमसि*' (छान्दो० उप० ६।८।७) इत्यत्रापि तथैव आशयः। एतच्च तत्त्वदीपे शास्त्रार्थ-प्रकरणे उपपादितम्।

भगवता ब्रह्माणं प्रति इदमेव अभाणि,

'*अहमात्मात्मनां धातः! प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।*
अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः॥' (भा० ३।९।४२)

इति। अनेन भगवद्वाक्येन श्रुतावपि आत्मत्वकथनं स्नेहार्थमेव

उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती है। अतः उपर्युक्त श्रुतिवाक्य आदि का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार व्यक्ति को अपनी आत्मा से शुद्ध स्नेह होता है उसी प्रकार उसे उसी प्रकार का शुद्ध स्नेह भगवान् से करना चाहिए। इसीलिये, 'वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है' (बृह० उप० ३।७।३–२३) इत्यादि वाक्यों से श्रुति यह सूचित करती है कि भगवान् ही (जीवों की) आत्मा हैं। 'तुम तदात्मक हो' (छान्दो० उप० ६।८।७) इत्यादि श्रुतिवाक्यों का आशय भी यही है, यह श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थप्रकरण में प्रतिपादित किया है। भगवान् ने ब्रह्मा से यही बात कही थी, 'हे ब्रह्मन्! मैं सभी आत्माओं की आत्मा हूँ। मैं स्त्रीपुत्रादि प्रियों का भी प्रिय हूँ। देहादि भी मेरे लिये ही प्रिय हैं अर्थात् मेरे सम्बन्ध से ही प्रिय लगते हैं। अतः मुझसे ही प्रेम करना चाहिए।' (भाग० ३।९।४२)। भगवान् के इस वाक्य में 'अतः मुझसे प्रेम करना चाहिए' (भाग० ३।९।४२) इस प्रकार कारणनिर्देशपूर्वक (भगवान् से) प्रेम करने का उपदेश उपलब्ध होने से हम इस निर्णय या निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रुति में भी ब्रह्म या भगवान् को आत्मा इसीलिये कहा गया है कि उनसे

---

[1] शाङ्करभाष्यसम्मत पाठ 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' है।

इति निर्णीयते, *'अतो मयि रतिं कुर्याद्'* (भा० ३।९।४२) इति हेतुकथनपूर्वकोपदेशात्। निर्णीतं च विधिना, तदुक्तं द्वितीयस्कन्धे,

'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।

तदध्यवस्यत् कूटस्थो, रतिरात्मन्यतो भवेद्॥' (भाग० २।२।३४)

इति। अत आत्मनो भावो भगवद्विषयोऽत्यादरेण सम्पादनीयः। तस्य सिद्धौ तिरोधाननाशे सर्वत्र पदार्थमात्रे वस्तुतोऽपि भगवद्रूपे परमानन्दरूपस्य पुरुषोत्तमस्य स्फूर्तौ सर्वत्र आत्म-

---

'प्रेम किया जा सके अर्थात् उन्हें आत्मा कहने में श्रुति का प्रयोजन उनसे प्रेम करने का उपदेश देना है। स्वयं ब्रह्मा भी इसी निर्णय पर पहुँचे थे। उनके इस निर्णय या निष्कर्ष का उल्लेख भागवत के अधोलिखित वाक्य में मिलता है, 'भगवान् ब्रह्मा ने एकाग्रचित्त से सारे वेदों का तीन बार अनुशीलन कर अपनी विचारक बुद्धि से यही निश्चय किया कि जिससे सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण में अनन्य भक्ति हो वही समीचीन साधन या सर्वश्रेष्ठ धर्म है[1] अर्थात् उन्होंने यही निश्चय किया कि आत्मा फल है उसकी प्राप्ति का मुख्य साधन भक्ति है और शेष सब कुछ उस भगवद्विषयक प्रेम रूप भक्ति का साधन है[2]' (भाग० २।२।३४)। अतः भगवद्विषयक आत्मभाव का आदरपूर्वक सम्पादन करना चाहिए। इसके सम्पादित या सिद्ध हो जाने पर, तिरोधान का नाश हो जाने पर सर्वत्र सभी पदार्थों—जो वस्तुतः भगवद्रूप हैं—में

---

१. द्रष्टव्य, भाग० बालप्रबोधिनी २।२।३४।

२. "राशीभूतवेदं मनीषया विचारकबुद्ध्या आलोड्य फलत्वेनात्मानं विनिश्चित्य साधनविचारे क्रियमाणे 'यमेवैष वृणुते' (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादिवाक्यैः प्रीतिमेवावान्तरव्यापारं ज्ञात्वा 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' इति विचार्य मुख्यं साधनं भक्तिं ज्ञात्वा तत्साधकत्वेनान्यद् इति अध्यवस्यत्।" (सुबोधिनी २।२।३४)।

भावो भवति । तथा च सर्वस्मिन् आत्मभावः[1] सर्वात्मभावः इति फलितम् ।

'तव परि ये चरन्ति' (भा० १०।८७।२७) इत्यस्य सुबोधिन्यां, "*'तव' इति षष्ठ्या त्वत्सम्बन्धिनं पदार्थं यं कञ्चन परिचरन्ति, परं सर्वात्मभावोऽपेक्ष्यते, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'* (बृह० उप० ४।४।१९) *इति भेददर्शन एव मृत्युपराक्रमश्रवणाद्*" (सुबो० १०।८७।२७) इत्युक्तम् । एतेन सर्वात्मभावपदे सप्तमी-तत्पुरुषः । भगवत्स्फूर्तिरभेदेनैवादृता इत्यध्यवसीयते । आत्म-पदेन भगवत्प्रीतिरभेदावगाहिनी, न त्वधिष्ठानभेदसंसृष्टा तन्त्रा-

---

परमानन्दरूप पुरुषोत्तम की स्फूर्ति होने पर सर्वत्र आत्मभाव हो जाता है । इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि सर्वत्र सभी में आत्मभाव होना ही सर्वात्मभाव है ।

'जो आप की परिचर्या अर्थात् सेवा करते हैं' (भाग० १०।८७।२७) इस श्लोक की सुबोधिनी टीका में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि "मूल श्लोक में आये 'तव' इस षष्ठ्यन्त पद से यह सूचित किया गया है कि जो आपसे सम्बद्ध किसी भी पदार्थ की परिचर्या करते हैं वे मृत्यु के सिर को पदाक्रान्त करते हैं । पर सर्वात्मभाव अपेक्षित है क्योंकि 'जिस व्यक्ति की इस जगत् में नानात्वबुद्धि होती है वह पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् पुनर्जन्म से छुटकारा नहीं पाता' (बृह० उप० ४।४।१९) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में भेदबुद्धियुक्त 'व्यक्ति के ही पुनः पुनः मृत्यु द्वारा ग्रस्त होने की बात कही गयी है ।" (सुबोधिनी १०।८७।२७) । इससे स्पष्ट है कि 'सर्वात्मभाव' पद में सप्तमीतत्पुरुष है और इसका अर्थ है सर्वत्र या सभी पदार्थों में आत्मभाव । इस प्रकार यह निश्चय होता है कि भगवान् की स्फूर्ति का अभेद से होना ही प्रशस्य समझा गया है । 'सर्वात्मभाव' शब्द में आये 'आत्म' इस पद का उद्देश्य यह

---

१. 'सर्वभूतेषु मन्मतिः' (भाग० ११।१९।२१) ।

न्तरवत् । यत आत्मनि जायमानो भावो ज्ञानमप्यभेदेनैव वस्तु-महिम्नोत्पद्यते । भावपदेन च, '*चिन्तयानो हृषीकेशम् अपश्यत् तन्मयं जगद्*'[1] (भाग० १०।२।२४) इति वाक्योक्ते तादृग्भग-वत्स्फुरणे नातिप्रसक्तिः । द्वेषप्रयुक्ततया भावत्वाभावात् । तदेवोक्तं श्रीधरस्वामिभिः, '*सर्वात्मभाव एकान्तभक्तिः*' इति, '*एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्*' इति तल्लक्षणाद्,

---

सूचित करना है कि सर्वात्मभाव में होने वाला भगवत्प्रेम अभेदावगाहक होता है न कि अधिष्ठानभेदसंसृष्ट जैसा कि अन्य तन्त्रों में प्रतिपादित किया गया है क्योंकि आत्मा में होने वाला प्रेम और ज्ञान भी वस्तु अर्थात् भगवान् की महिमा (या प्रमेयबल) से ही उत्पन्न होता है । इसी प्रकार सर्वात्मभाव पद में आये 'भाव' शब्द से यह सूचित होता है कि भागवत के 'उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और चलते-फिरते हर समय, हर अवस्था में कृष्ण का ही चिन्तन करते हुए कंस को सम्पूर्ण जगत् कृष्णमय दिखाई देने लगा' (भाग० १०।२।२४) इत्यादि वाक्यों में प्रतिपादित भगवान् के सर्वत्र दिखाई देने या स्फुरित होने के अनुभव को सर्वात्मभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि कंस में भगवान् के प्रति भाव या प्रेम का अभाव था और उसने भगवान् को द्वेषबुद्धि के कारण (भयवश ही) सर्वत्र अनुभव किया था, प्रेम के कारण नहीं, अतः सर्वात्मभाव की कंसादि के उपर्युक्त अनुभवों में अतिव्याप्ति नहीं है । इसी बात को श्रीधरस्वामी ने इस प्रकार कहा है, 'सर्वात्मभाव एकान्तभक्ति को कहते हैं ।' एकान्तभक्ति का लक्षण

---

१. 'आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम् ।
चिन्तयानो हृषीकेशम् अपश्यत्तन्मयं जगत् ॥' (भाग० १०।२।२४)
'एवं सर्वावस्थासु सर्वक्रियासु हृषीकेशं चिन्तयानः । स्वदर्शनार्थमेव सर्वेन्द्रियस्वामी तथा प्रेरितवान्, अतः कृष्णमयमेव जगदपश्यत् ।' (सुबो० १०।२।२४) ।

अस्मदुक्त्या सह ऐक्यं ज्ञेयम्। तथा सति सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभाव इति निष्कर्षः।

स च मर्यादा-पुष्टिभेदेन द्विविधः। तत्राद्यो नवमस्कन्धे-म्बरीषस्य उक्तः, '*सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह*[1]' (भाग० ९।४।२१) इति। द्वितीयस्तु शुद्धपुष्टि-भक्तिमार्गीयाणां व्रजसुन्दरीणां दशमे निरूपितः। विप्रयोग-

---

'भगवान् गोविन्द में एकान्तभक्ति होने का अर्थ है उन्हें सर्वत्र विद्यमान देखना' इत्यादि किये जाने से श्रीधरस्वामी के कथन का हमारी उक्ति के साथ ऐक्य है, यह स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि सभी में या सर्वत्र आत्मभाव ही सर्वात्मभाव है।

उपर्युक्त सर्वात्मभाव मर्यादा और पुष्टि के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें से प्रथम प्रकार का सर्वात्मभाव वह है जो अम्बरीष को हुआ था और जिसका उल्लेख भागवत के नवमस्कन्ध में, 'इस प्रकार अम्बरीष ने सर्वात्मभावयुक्त होकर भगवन्निष्ठ ब्राह्मणों के निर्देशों के अनुसार इस पृथिवी का शासन या पालन किया' (भाग० ९।४।२१) इत्यादि वाक्यों में हुआ है, तथा द्वितीय प्रकार का सर्वात्मभाव वह है जो शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीय व्रजाङ्गनाओं को प्राप्त हुआ था और जिसका निरूपण भागवत के दशम स्कन्ध में उपलब्ध होता है। भगवद्वियोग

---

१. एवं सदा कर्मकलापमात्मनः परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह॥
(भाग० ९।४।२१)।

"सदा प्रतिदिनम् आत्मनः स्वस्य अधिकारप्राप्तं कर्मकलापं कर्मसमूहम्, तथा एवम् उक्तप्रकारेण भगवति सर्वात्मभावम्,

'तन्मनस्काः तदालापाः तद्विचेष्टाः तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥' (भाग० १०।३०।४४)

इत्युक्तलक्षणं च विदधन् कुर्वन् तन्निष्ठैः भगवद्भक्तैः विप्रैः वसिष्ठादिभिः

दशायां विगाढभावेन सर्वत्र भगवत्स्फूर्तौ सर्वात्मभावः सिद्ध्यति। एतावान् विशेषः पूर्वस्मात्, एतासां श्रीकृष्णे शृङ्गाररससम्बन्धिभावानां बहूनां सम्भवात् तत्तद्भावसमानाधिकरणः सर्वात्मभावो भजनानन्दानुभावनेऽत्यन्तं निपुणः इति शुद्धपुष्टिमार्गीयैः तोष्टूय्यते। तदाह भगवान् भाष्यकारः *'लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि'* (ब्रह्मसूत्र ३।३।४४) इति सूत्रे। *"एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेव विवृतं भवति। तत्र विरहभावे अतिविगाढभावेन सर्वत्र तदेव स्फुरति इति, 'स एवाधस्तात्'* (छान्दो०

की दशा में भगवद्विषयक भाव या प्रेम के प्रगाढ़ होने से सर्वत्र भगवान् की स्फूर्ति होने पर सर्वात्मभाव की सिद्धि होती है। पूर्वोक्त मर्यादामार्गीय सर्वात्मभाव की अपेक्षा इस पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभाव में एक वैशिष्ट्य यह है कि गोपियों के हृदय में श्रीकृष्णविषयक शृंगाररससम्बन्धी अनेक भावों के होने की सम्भावना होने से उन सभी भावों के अनुरूप सर्वात्मभाव होता है जो भजनानन्द का अनुभव कराने में अत्यन्त उपकारक होता है, इसीलिये शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीय भक्तों को इसमें अत्यधिक तुष्टि का अनुभव होता है। इसी बात को श्रीविट्ठलनाथ ने 'लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयः तदपि' (ब्रह्मसूत्र ३।३।४४) इस ब्रह्मसूत्र के अणुभाष्य में इस प्रकार कहा है। "इस (भूमा के कार्यलक्षणनिरूपक वाक्य) से सर्वात्मभाव का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है। विरह होने पर भाव अर्थात् प्रेम के अत्यधिक प्रगाढ होने के कारण

अभिहितः 'एवं कुरु एवं मा कार्षीः' इति शिक्षितः इमां सप्तद्वीपवतीं महीं शशास पालयामास। राज्येऽधिकृतस्य तस्य एवं सर्वात्मभाव आश्चर्यमेव इत्याशयेनाह ह इति। एवं भगवति सर्वात्मभावस्य परमफलहेतुत्वाद् दुर्लभत्वं सूचयन् भगवन्तं विशिनष्टि, परे परमेश्वरे, अधियज्ञे यज्ञादिकर्मफलप्रदे, अधोऽक्षजे स्वेच्छां विना इन्द्रियजन्यज्ञानाविषये।" (भाग० बालप्रबोधिनी ९।४।२१)।

उप० ७।२५।१) इत्यादिना[1] उक्त्वा, कदाचित् स्वस्मिन्नेव भगवत्त्व-स्फूर्तिरपि भवति इति, 'अथातोऽहङ्कारादेशः' (छान्दो० उप० ७।२५।१) इत्यादिना तामुक्त्वा, एतेषां व्यभिचारिभावत्वेन अनियतत्वं ज्ञापयितुं पुनः सर्वत्र भगवत्स्फूर्तिमाह, 'अथात आत्मादेश' (छान्दो० उप० ७।२५।२) इत्यादिना" (अणुभाष्यम् ३।३।४४) इत्यादि। अयं पुष्टिमार्गीयः सर्वात्मभावः शृङ्गाररसमध्यपाती। एतत्प्राप्तौ शुद्धपुष्टिभक्तानामेवाधिकारः। भाष्ये त्वयमेव विशिष्य विवृतः। मर्यादामार्गीयस्तु श्रुतिस्तुतिसुबोधिन्युक्त-दिशा अम्बरीषादिभक्तगम्यः। उभयविधोऽपि उभयत्र परम-

---

सर्वत्र वही स्फुरित होता है यह बात, 'वही नीचे है' (छान्दो० उप० ७।२५।१) इत्यादि वाक्य से कह कर; कभी-कभी अपने में भी भगवत्त्व की स्फूर्ति होती है अतः उसका 'अब उसी में अहङ्कारादेश किया जाता है' (छान्दो० उप० ७।२५।१) इत्यादि वाक्य से उल्लेख कर, इन स्फूर्तियों का व्यभिचारी होने के कारण अनियतत्व ज्ञापित करने के लिये, 'अब आत्मरूप से भूमा का उपदेश किया जाता है' (छान्दो० उप० ७।२५।२) इत्यादि वाक्यों से सर्वत्र भगवत्स्फूर्ति होने का निरूपण करते हैं[2]" (अणुभाष्य ३।३।४४) इत्यादि। यह पुष्टिमार्गीय सर्वात्म-भाव शृङ्गाररसमध्यपाती है अर्थात् शृङ्गाररस के अन्तर्गत आता है और इसकी प्राप्ति शुद्धपुष्टिभक्तों को ही होती है। अणुभाष्य में विशेष रूप से इस पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभाव का ही निरूपण किया गया है। मर्यादामार्गीय सर्वात्मभाव वेदस्तुति की सुबोधिनी में प्रतिपादित रूप में होता है और उसे प्राप्त करने वाले अम्बरीष आदि भक्त हैं। मर्यादा-

---

१. 'स एवाधस्तात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम् इत्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्ता-दहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम् इति।' (छान्दो० उप० ७।२५।१)।

२. द्रष्टव्य, अणुभाष्यप्रकाश ३।३।४४।

काष्ठापन्नभक्तिरूप इति कोविदा विदाङ्कुर्वन्तु ।

न च "भ्रमरगीतीयस्य, *'सर्वात्मभावोऽधिगतो भवतीनामधोऽक्षजे'*[1] (भाग० १०।४७।२७) इति श्लोकस्य विवृतौ, 'सर्वोऽप्यात्मनो भावः' (सुबोधिनी १०।४७।२७) इति विवृतत्वान्न

मार्गीय और पुष्टिमार्गीय दोनों प्रकार का सर्वात्मभाव उपर्युक्त दोनों मार्गों में परमकाष्ठापन्न भक्तिरूप है ऐसा सुधीजनों को समझना चाहिए।

यह कहना भी ठीक न होगा कि "भ्रमरगीत में आये 'आप लोगों ने अधोऽक्षज भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वात्मभाव प्राप्त किया है' (भाग० १०।४७।२७) इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में श्रीवल्लभाचार्य ने

---

१. इस श्लोक का सुबोधिनीसम्मत पाठ 'सर्वात्मभावोऽधिकृतो' होना चाहिए और गीताप्रेस से प्रकाशित भागवत में यही पाठ स्वीकार किया गया है। यहाँ बालकृष्णभट्ट ने जो पाठ स्वीकार किया है वही तेलीवालासम्पादित सुबोधिनीसहकृत भागवत में भी मिलता है। देखिये नीचे उद्धृत सुबोधिनी।

"एवं भक्तिप्रपत्ती निरूप्य सर्वात्मभावं निरूपयति,
सर्वात्मभावोऽधिगतो भवतीनामधोऽक्षजे।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥ (भाग० १०।४७।२७)

'सर्वात्मभाव' इति। तदुपपादितं दशधा (भगवता सह संलापादिदशप्रकारैः सदा तद्भावनमिन्द्रियवतां फलमिति पूर्वम् (द्रष्टव्यं पूर्वम् १०३ पृष्ठे) उपपादितमित्यर्थः) । तत्रापि विशेषमाह, विरहेण इति। संयोगे भवेदपि तादृशी मतिः । सर्वोऽपि (दशप्रकारकोऽपीत्यर्थः) आत्मनः (अन्तःकरणस्येत्यर्थः) भावः भगवत्येवाधिकृतः उत्तरोत्तरवृद्धिम् (प्रापयितुमिति शेषः) आरब्ध इव (वृद्धिं प्रापयितुमेताभिरारब्ध इत्यर्थः) । विषयस्याप्यलौकिकत्वमाह, 'अधोऽक्षज' इति अधः अक्षजं यस्मादिति। कोऽपि भावः तत्र कर्तुमशक्यः, तादृशे सर्वात्मभावो दुर्लभः ।" (श्रीवल्लभकृतलेखसमेता सुबोधिनी १०।४७।२७) ।

पूर्वोक्तं लक्षणम् इति" वाच्यम्, उद्धवोक्तौ पूर्वोक्तसर्वात्मभावस्य अभावात्। किन्तु *सर्वोऽपि आत्मनः* 'अन्तःकरणस्य *भावो*[1] भवतीनां मम ज्ञानविषयोऽभूद् इत्यर्थात्। यद्यप्येताः पूर्वोक्तपुष्टिमार्गीयसर्वात्मभाववत्यः तथाप्युद्धवैः स न ज्ञातः, किन्तु तदुक्तश्रृङ्गाररससम्बन्धिभावमात्रं बुद्धम् इति ज्ञेयम्। *'मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः*[2]' (भाग० १०।४७।१२) इत्यादिवाग्विलासैः घोषभूषणसीमन्तिनोभिः तदतिरिक्तस्यैव

सर्वात्मभाव का अर्थ 'सम्पूर्ण आत्मभाव' किया है अतः सर्वात्मभाव का उपर्युक्त (पृष्ठ १४७ पर दिया गया) लक्षण ठीक नहीं है," क्योंकि उद्धव का इस वाक्य में सर्वात्मभाव से अभिप्राय उक्तलक्षणलक्षित पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभाव से नहीं था प्रत्युत उनके कथन का अर्थ केवल यही था कि 'आप लोगों के अन्तःकरण का सारा भाव मैं समझ गया हूँ'। यहाँ यह अवधेय है कि यद्यपि व्रजाङ्गनाएँ पूर्वोक्त पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभाव का अनुभव करने वाली हैं पर उद्धव इसे समझ नहीं सके। वे तो उन गोपियों द्वारा प्रकट किये गये श्रृंगाररससम्बन्धी भाव को ही जान पाये, क्योंकि व्रजाङ्गनाओं ने 'रे मधुप! तू कपटी का सखा है, इसलिये तू भी कपटी है, तू हमारे पैरों को मत छू' (भाग० १०।४७।१२) इत्यादि वाग्विलासों से अपने पुष्टिमार्गीय सर्वात्मभाव से भिन्न भावों

---

१. यहाँ प्रयुक्त 'सर्वात्मभाव' पद के श्रीवल्लभाचार्याभिमत एवं उनके पौत्र श्रीवल्लभकृत अर्थ के लिये देखें, ऊपर पृष्ठ १५२ टिप्पणी १।

२. मधुप कितवबन्धो ! मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनोनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्॥
(भाग० १०।४७।१२)।

स्फुटीकरणात् । न च,

"मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम् ।

याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम् ॥ (भाग० ११।१२।१५),

इत्यत्र सर्वात्मभावेन मां शरणं याहि इत्युक्तत्वात् शरणसाधनीभूतस्य सर्वात्मभावस्य न पूर्वोक्तरूपता", इति वाच्यम्; 'सर्वदेहिनाम् आत्मानं शरणं शरणभूतं मां सर्वात्मभावेन याहि' इत्यभिप्रायात्, सूत्रभाष्ये, 'अथवा' इति पक्षान्तरेण अस्यैवार्थस्य आदृतत्वात् । एवं सर्वात्मभावस्य पूर्वोक्त एव महिमा, लक्षणं च पूर्वोक्तमेव इत्यलं विस्तरेण ।

को ही प्रकाशित किया था ।

यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि "भागवत के 'अतः हे उद्धव ! समस्त देहधारियों के आत्मस्वरूप मुझ एक की ही सर्वात्मभाव से शरण में आओ, ऐसा करने से तुम सर्वथा निर्भय हो जाओगे' (भाग० ११।१२।१५) इत्यादि श्लोक में 'सर्वात्मभाव से मेरी शरण में आओ' ऐसा कहे जाने से सर्वात्मभाव के शरण के साधनभूत होने का ज्ञान होता है और इसलिये सर्वात्मभाव का स्वरूप वह नहीं माना जा सकता जो ऊपर (पृष्ठ १४७, १४९ पर) प्रतिपादित किया गया है," क्योंकि भागवत के उपर्युक्त श्लोक में भगवान् के कथन का अभिप्राय यही है कि 'हे उद्धव ! सभी देहधारियों के शरण्य मुझ कृष्ण को सर्वात्मभाव से प्राप्त हो' । इस बात की पुष्टि ब्रह्मसूत्र के अणुभाष्य में 'अथवा' इत्यादि से एक अन्य पक्ष का उपस्थापन कर इसी अर्थ के समादृत किये जाने से होती है । इस प्रकार सर्वात्मभाव का महत्त्व पूर्वोक्त ही है और उसका लक्षण भी वही है जिसका प्रतिपादन हमने ऊपर (पृष्ठ १४७, १४९ पर) किया है, अतः इस विषय का और अधिक विस्तार न कर इसे यहीं समाप्त करते हैं ।

इति श्रीगोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे सर्वात्मभावविवेकः समाप्तः ॥ ६ ॥

श्रीगोवर्द्धनधर, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ के चरणों के अनुगामी (अथवा अनुचरों के) सेवक, लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध बालकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित प्रमेयरत्नार्णव का सर्वात्मभावविवेक नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

पुष्टिमार्गीयफलविवेकः

(सप्तमोऽध्यायः)

अथ पुष्टिमार्गीयाणां फलं विचार्यंते। तत्र प्रथमम्,

'भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥' (भाग० १०।४७।२५)

इत्युद्धववाक्यान्मार्गप्रवर्तकत्वेन मुख्यत्वात्तेषां व्रजभक्तानां फल-प्रकारो लिख्यते।

तत्र *'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः'* (भाग० २।१०।६) इति द्वितीयस्कन्धीयशुकवाक्यात् शक्तिभिः सहि-

---

पुष्टिमार्गीयफल–विवेक

(सप्तम अध्याय)

अब पुष्टिमार्गीय भक्तों को प्राप्त होने वाले फल का विचार किया जाता है। उद्धव के 'यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आप लोगों ने उत्तम-श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की उस अनुत्तम अर्थात् सर्वोत्तम भक्ति का प्रवर्तन किया है जो मुनियों को भी दुर्लभ है' (भाग० १०।४७।२५) इत्यादि वाक्यों से गोपियों के पुष्टिभक्तिमार्गप्रवर्तक होने का ज्ञान होता है। मार्गप्रवर्तक होने के कारण व्रज के भक्त मुख्य भक्त हैं, अतः सर्व-प्रथम उन व्रजभक्तों को प्राप्त होने वाले फल का निरूपण करते हैं।

श्रीमद्भागवत के द्वितीयस्कन्ध में आये श्रीशुक के, 'अपनी शक्तियों से युक्त परमात्मा की जगत् में की जाने वाली विभिन्न लीलाएँ निरोध कही जाती हैं' (भाग० २।१०।६) इस वाक्य से ज्ञात होता है कि

तस्य भगवतः प्रपञ्चे क्रीडा निरोधः[1], आत्मशब्दस्य भगवद्वाचित्वात्[2]।

*अनुशय*शब्देन तत्तल्लीलानुरूपा स्थितिरुच्यते, न तु निद्रा। पुरुषशब्दे पुरि शयनं पुरुषस्योच्यते, पुरि शेत इति व्युत्पत्त्या; तत्र स्थितिरेव शीङ्धातोरर्थः, न तु निद्रा, एवमिहापि। अत एव सुबोधिन्यां निबन्धे च,

---

शक्तियों से युक्त भगवान् की प्रपञ्च में की जाने वाली क्रीडा को निरोध कहते हैं, क्योंकि उपर्युक्त शुकवाक्य में प्रयुक्त 'आत्मन्' शब्द भगवद्वाचक है।

पूर्वोक्त शुकवाक्य में आये 'अनुशय' शब्द का अर्थ निद्रा नहीं प्रत्युत 'चिकीर्षित लीलाओं के अनुरूप भगवान् की अवस्थिति' है। 'पुरुष' शब्द 'पुरि शेते' (अर्थात् जो पुर या शरीर में शयन करता है) इस व्युत्पत्ति से पुर या शरीर में शयन करने का सूचक है। इस प्रकार पुरुष शब्द में शीङ् धातु का अर्थ स्थिति ही है निद्रा नहीं। इसी प्रकार पूर्वोक्त शुकवाक्य में भी शीङ् धातु (से निष्पन्न शयन शब्द) का अर्थ अवस्थिति ही है, निद्रा नहीं। इसीलिये श्रीवल्लभाचार्य ने सुबोधिनी

---

१. द्रष्टव्य, "निरोधं लक्षयति, 'अस्यानुशयनम्' इति। अस्य भगवतः, अनु पश्चात्, शयनं शक्तीः शाययित्वा तद्भोगार्थं स्वस्य शयनम्। अस्य इति पुरोवर्ती आत्मत्वेन प्रकाशमानोऽङ्गुल्या निर्दिश्यते। आत्मनः देहस्य। सह इत्युभयत्र।" (सुबोधिनी २।१०।६); देखिये, सुबोधिनी-प्रकाशः २।१०।६।

'अस्य आत्मनः जीवात्मनः, शक्तिभिः इन्द्रियान्तःकरणादिभिः सह अनुशयनं भगवति लयः, तदेकपरतया संसारविस्मृतिश्च निरोधः, निरोधनिरूपके दशमस्कन्धे तथैव प्रतीतेः।' (बालप्रबोधिनी २।१०।६)।

२. उदाहरण के लिये देखें, 'येनैव हेतुना आत्मा भगवान् सुप्रसीदति' ('येनात्मा सुप्रसीदति' भाग० १।१।११ की सुबोधिनी टीका)।

'निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम् ॥' (भागवतार्थ-प्र० का० १०।१४-१५) इत्युक्तम्।

सा भगवतो निरोधरूपा लीला त्रिविधा। निरोध्यभक्तानां तामसराजससात्त्विकभेदेन त्रिविधत्वात् तत्तन्मनोरोधकतायै क्रियमाणा लोकानुसारिणी त्रिविधा भवति।

'स्वभावस्यान्यथाभावो न वै शक्यः कथञ्चन।
अतस्त्रिविधजीवेषु त्रिविधा भगवत्कृतिः ॥' (सुबोधिनीका० १०।५।१।६) इति सुबोधिन्याम्। तया त्रिविधलीलया क्रियमाणा भक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिः, सापि निरोधशब्दवाच्या, नितरां रोधो निरोध इति व्युत्पत्तेः।

और तत्त्वार्थदीपनिबन्ध में कहा है कि "भगवान् हरि का अनुशयन निरोध कहा जाता है। 'अपनी दुर्विभाव्य शक्तियों से युक्त कृष्ण का प्रपञ्च में क्रीडा करना' ही इस निरोध का लक्षण है।" (भागवतार्थप्र० का० १०।१४–१५)।

भगवान् की निरोधरूप उपर्युक्त लीला तीन प्रकार की है। निरोध्य भक्तों के तामस, राजस और सात्त्विक भेद से त्रिविध होने के कारण उन भक्तों के मनों के निरोध के लिये की जाने वाली भगवान् की लोकानुसारिणी लीला तीन प्रकार की होती है, जैसाकि सुबोधिनी के 'स्वभाव का अन्यथाभाव किसी भी प्रकार नहीं हो सकता, अतः तीन प्रकार के जीवों के लिये भगवान् तीन प्रकार की लीला करते हैं' (सुबोधिनीका० १०।५।१।६) इत्यादि वाक्यों में कहा गया है। उस त्रिविध लीला से होने वाली, भक्तों की प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवान् में आसक्ति भी निरोध ही कही जाती है। इस अर्थ में प्रयुक्त निरोध शब्द की व्युत्पत्ति 'नितरां रोधः' (अर्थात् अत्यधिक रोध) है।

रोधः कस्येत्यपेक्षायां भक्तानामिति पूर्वस्कन्धसङ्गत्या लभ्यते। अपादानापेक्षायां प्रपञ्चो ग्राह्यः[1]। तथा सति प्रपञ्चाद्रोधः इति सिद्धम्, '*भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टास्ते रोद्धव्या विमुक्तये*[2]।' (भागवतार्थप्र० का० १०।१६) इति निबन्धात्,

'*हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।*
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्॥' (निरोधल० ११)
इति निरोधलक्षणग्रन्थाच्च।

निरोध शब्द में प्रयुक्त 'रोध' शब्द से किसका रोध अभिप्रेत है इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर पूर्वस्कन्ध की सङ्गति का विचार करने से 'भक्तों का निरोध अभिप्रेत है' यह उत्तर मिलता है। इसी प्रकार 'किससे निरोध अभिप्रेत है' इस प्रकार अपादान की जिज्ञासा होने पर 'प्रपञ्च से निरोध अभिप्रेत है' ऐसा समझना चाहिए। अतः सिद्ध हुआ कि निरोध 'प्रपञ्च से रोध' है। तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के 'पहले भक्तों का निर्देश किया जा चुका है, उन्हीं भक्तों का उनकी मुक्ति के लिये निरोध करना अपेक्षित है' (भागवतार्थप्र० का० १०।१६) इत्यादि वाक्य तथा श्रीवल्लभाचार्य की निरोधलक्षण नामक कृति के 'भगवान् ने जिनका परित्याग कर दिया वे भवसागर में डूब गये और जिनका निरोध कर दिया वे ही दिन-रात सुखी रहते हैं' (निरोधल० ११) इत्यादि वाक्य से भी यही सिद्ध होता है कि 'निरोध' शब्द से 'भक्तों का निरोध' ही अभिप्रेत है।

---

१. 'भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः।' (सुबोधिनी २।१०।१)।

२. 'अग्रिमे मुक्तिः मध्येऽत्र निरोधः तथा च भक्ता एव मोचनीया इति सन्दंशेन मुक्त्यर्थमत्र भक्ता एव निरोद्धव्या इत्यायाति।....तस्मान्न भूभारस्य तत्कर्तुर्वा निरोधो वात्र विवक्षित इत्यर्थः।' (भागवतार्थप्र० योजना १०।१६–१७)।

प्रपञ्चाद्रोधेऽपि,

'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥' (गीता ३।६)

इतिन्यायेन प्रपञ्चस्मरणं चेत् न भगवल्लीलानुभवे मुख्योऽधिकारः स्याद् अतः प्रपञ्चविस्मरणमपेक्षितम् । तदुपसर्गेण लभ्यते । नितरां रोधो निरोध इति, प्रपञ्चास्फूर्तिरिति यावत् । कस्मिन् निरोध इत्यपेक्षायां भगवति निरोध इति । *'कृष्णे निरुद्धकरणा भक्ता मुक्ता भवन्ति हि'* (भागवतार्थप्र० का० १०।१६) इति निबन्धात् ।

स हि परमरुच्युत्पादकलीलाजन्यत्वेन परमसुखरूपत्वाद्

प्रपञ्च से रोध हो जाने पर भी यदि व्यक्ति गीता के 'जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों को संयमित करके भी मन से उन इन्द्रियों के भोग्य विषयों का स्मरणचिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी कहा जाता है' (गीता ३।६) इत्यादि वाक्य में प्रतिपादित न्याय से प्रपञ्च का स्मरण करता रहे तो वह भगवल्लीला का अनुभव करने का मुख्य अधिकारी न हो सकेगा अतः प्रपञ्च का विस्मरण अपेक्षित है और उसकी उपलब्धि 'निरोध' शब्द में प्रयुक्त 'नि' इस उपसर्ग से होती है । तात्पर्य यह है कि 'निरोध' शब्द के प्रारम्भ में आये 'नि' उपसर्ग से यह सूचित होता है कि निरोध के लिये प्रपञ्च का विस्मरण अपेक्षित है । इस प्रकार निरोध का अर्थ हुआ अत्यधिक रोध अर्थात् प्रपञ्च का स्फुरित न होना । 'निरोध किसमें होता है ?' इस जिज्ञासा का उत्तर है कि निरोध भगवान् में होता है । तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के 'जिन भक्तों की इन्द्रियाँ आदि कृष्ण में निरुद्ध हो गयी हैं वे मुक्त हो जाते हैं' (भागवतार्थप्र० का० १०।१६) इत्यादि वाक्यों से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है ।

उपर्युक्त निरोध परमरुचि की उत्पादक लीलाओं से उत्पन्न होने

आसक्तिरूपः, अन्यथा निग्रहमात्रं स्यात्, तत्तु न सुखकरम्, *'मनोनिग्रहकर्शिताः'* (भाग० ११।२९।२) इति वाक्यात्। प्रपञ्चविस्मृतावेव भगवत्सुखानुभवादासक्तिरूपत्वं सिद्ध्यति निरोधस्य। अतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरोधपदवाच्येति।

'इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्[1] ॥' (भाग० १०।११।५८)
'शय्याशनाटनालापक्रीडास्नानासनादिषु[2]।

के कारण परमसुखरूप होने से आसक्तिरूप होता है, यदि ऐसा न हो तो वह निग्रहमात्र हो जाये और जैसा कि 'मनोनिग्रहकर्शिताः' (भाग० ११।२९।२) इत्यादि वाक्यों से सूचित होता है केवल निग्रह सुखकर नहीं होता। प्रपञ्चविस्मृति होने पर ही भगवत्सुख का अनुभव होने से निरोध का आसक्तिरूप होना सिद्ध हो जाता है। अतः निरोध पद का अर्थ है 'प्रपञ्चविस्मरणपूर्वक भगवान् में आसक्ति होना'। श्रीमद्भागवत के, 'इस प्रकार श्रीकृष्ण और बलराम की लीलाओं का वर्णन करते हुए और उनमें रमण करते हुए नन्द आदि गोपों को जागतिक कष्टों का अनुभव नहीं हुआ' (भाग० १०।११।५८), तथा 'यदुवंशियों—जिनका चित्त सदैव भगवान् कृष्ण में ही लगा रहता था—को सोने,

१. 'एवं नन्दादीनां त्रिविधं ज्ञानं निरूप्य (भाग० १०।११।५५-५७) फलितं वदन् भगवत्कृतं नन्दनिरोधमनूद्योपसंहरति। नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां स्वतन्त्रतया फलत्वेन कुर्वन्तः तयैव कथया जातया परमनिर्वृत्या रममाणाः चकाराद् विस्मृतदेहा जातब्रह्मात्मानुभवा वा भववेदनां संसारतापं नाविन्दन् न ज्ञातवन्तः। प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च निरोध इति भगवत्कृतं कार्यं नन्दादिषु फलितम्।' (सुबोधिनी १०।११।५८)।

२. यह सुबोधिनीसम्मतपाठ है (देखिये नीचे पृष्ठ १६२ टिप्पणी १), प्रमेयरत्नार्णव का उपलब्धपाठ 'शयनासनाटनालापस्नानक्रीडाशनादिषु' है।

न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः[१] ॥' (भाग० १०।९०।४६) इत्यादौ तथैव निरूपितत्वात्। तथा च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक-भगवदासक्तिसम्पादिका प्रपञ्चाधिकरणिका भगवल्लीला निरोधपदवाच्या, सेयं भगवद्धर्मः; तादृशलीलाजन्या प्रपञ्च-विस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिर्निरोधपदवाच्या, सा जीवधर्मः। तदुभयं दशमस्कन्धे प्रतिपाद्यते,

---

खाने, घूमने-फिरने, बोलने-खेलने, नहाने-धोने और उठने-बैठने आदि में भी (अर्थात् किसी भी काम को करते समय) अपनी (देह की भी) सुधबुध नहीं रहती थी। तात्पर्य यह है कि उनकी समस्त शारीरिक क्रियाएँ यन्त्रवत् होती रहती थीं और उन्हें इस बात का पता या होश नहीं रहता था कि वे क्या कर रहे हैं।' (भाग० १०।९०।४६) इत्यादि वाक्यों में निरोध का निरूपण उपर्युक्त प्रकार का ही होने से भी निरोध पद का पूर्वोक्त अर्थ मानने के मत की ही पुष्टि होती है। इस प्रकार निरोध शब्द से भगवान् की, 'प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवान् में आसक्ति' का सम्पादन कराने वाली उस लीला का ग्रहण या बोध होता है जो भगवान् का धर्म है और जिसका अधिकरण (अर्थात् लीलास्थली) यह प्रपञ्च है। इस प्रकार की लीला से उत्पन्न होने वाली 'प्रपञ्चविस्मृति पूर्वक भगवान् में आसक्ति' (भी) निरोध कही जाती है और यह आसक्ति जीव का धर्म है। श्रीवल्लभाचार्य के तत्त्वार्थदीप निबन्ध के

---

१. 'शय्या च अशनम् भोजनम्। अटनम् परिभ्रमः। आलापः वार्ता। क्रीडा द्यूतादि। स्नानम् आसनम् च : एते सप्तपदार्थाः प्रकारपराः। तत्र ऐश्वर्यादिधर्मा योजनीयाः। तथा सति प्रकारतामापद्यन्ते। किं बहुना सर्वावस्थासु आत्मानं यथास्थानस्थितं न विदुः। अनेन प्रपञ्चविस्मृतिरुक्ता। तदासक्तिमाह, 'कृष्णचेतसः' इति, कृष्ण एव चेतो येषाम्। गोकुलस्थानां तु पूर्वमेव निरूपितम्। स्त्रीणाञ्च राजसानां सात्त्विकानां चायं निरोध इति सम्पूर्णा निरोधलीला।' (सुबोधिनी १०।९०।४६)।

'समुदायो जन्मवाची' क्रीडायुक्तस्य वै हरेः ।
प्रपञ्चविस्मृतिः सक्तिर्भक्तानां चापि योगतः[1] ॥' (भागवतार्थप्र० का० १०।२०) इति निबन्धात् । तत्र प्रथमं तामसप्रकरणम् ।

'सर्वक्रीडायुक्त श्रीहरि का सभी लोगों के दर्शनार्थ वाह्यजगत् में एकीभाव अवतार के समय जन्म कहा जाता है । उन कृष्ण में चित्त लगाने पर भक्तों को प्रपञ्च का विस्मरण हो जाता है और भगवान् में आसक्ति की उपलब्धि होती है' (भागवतार्थ प्र० का० १०।२०) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त दोनों का प्रतिपादन भागवत के दशम स्कन्ध में किया गया है । निरोधनिरूपणपरक दशमस्कन्ध में (जन्मप्रकरण के

---

१. "पूर्वकारिकायां नटवद् रूपान्तरं जन्मापरपर्यायं स्वीकृत्य त्रिविधानां भक्तानां प्रपञ्चं निवार्य निरोधात्मकमुद्धारं करोति इति निश्चितो दशमस्कन्धार्थ उक्तः । तथा सति अवतारसामयिकानामेव निरोधो भविष्यति नानवतारसामयिकानां, तदानीं रूपान्तरस्वीकरणात्मकजन्माभावाद् इत्याशङ्कायामाहुः, 'समुदायो जन्मवाची' इत्येकेन । भगवान् हि सर्वभक्तसम्बन्धिनीः सर्वाः लीलाः कुर्वन् सदा विराजते, न तु तस्य स्वाभाविकं जन्मास्ति, नापि लीलानां कादाचित्कत्वम् इति सिद्धान्तात् सर्वक्रीडायुक्तस्य हरेः सर्वलोकदर्शनार्थं समुदाय एकीभावो वहिर्यः सोऽवतारसमये जन्म उच्यते, तादृशे आसक्त्या तदानीन्तनानां यथा प्रपञ्चविस्मृत्योद्धारः, एवमनवतारसमये यस्य भक्तस्य निरोधः चिकीर्षितः, तद्धृदये तस्यैव दर्शनार्थं सर्वक्रीडायुक्तस्य हरेः समुदायो जन्म वक्ति इत्यर्थः । ततो हृदि प्रादुर्भूतरूपस्यैव सर्वलीलायुतस्य यदा निरन्तरचिन्तनध्यानादिना योगारूढत्वं तदा तस्य रूपस्य समुदायो भक्तेन सह एकीभवनं, स एव प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपो निरोध उच्यते । तथा च निरुक्तसामनेकैकविषयत्वकृतो दर्शने च वाह्याभ्यन्तरकृतश्चैव विशेषोऽवतारानवतारदशायां नान्योऽपि कश्चिदिति न कोऽपि शङ्कालेशः । एवं सति भगवतोऽन्यलीलावज्जन्माप्येका लीला, सापि नित्यैवेति जन्माष्टम्यां तदभिनयः

व्रजस्थानां तामसत्वं त्रिविधम्, अविहितभक्तिरसानुभवसाधन-रूपं पारिभाषिकमेकम्, धर्मविशेषरूपं द्वितीयम्, भगवन्माया-कृतं तृतीयञ्च। तत्राद्यं तु स्वमनोरथानुकूललोकसदृशभगव-ल्लीलारुचिमत्त्व–बाह्यदर्शनैकाभिलाषवत्त्व–स्ववियोगासहिष्णु-त्वादिरूपम्। तामसा हि हठप्रधानास्तेषां यत्राग्रहः पतति स न गच्छति, ज्ञानरहिता मुग्धाश्च भवन्ति, ज्ञानराहित्यादेव लोकवेदोल्लङ्घनं कुर्वन्ति। व्रजस्था अपि भगवति परमाग्रहवन्तो लीलानुपयुक्तज्ञानशून्याः, 'एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम्'[1]

अनन्तर) पहले तामस प्रकरण आता है। व्रजवासियों का तामसत्व त्रिविध है; प्रथम, अविहित भक्ति (अर्थात् मर्यादा भक्ति से भिन्न, पुष्टिभक्ति) के रस के अनुभव का साधनरूप या पारिभाषिक तामसत्व, द्वितीय धर्मविशेषरूप और तृतीय भगवान् की माया से उत्पन्न होने वाला। इनमें से प्रथम प्रकार के तामसत्व का रूप भक्त की अपनी आकाङ्क्षाओं के अनुकूल लोकसदृश भगवल्लीलाओं में रुचि होना, भगवान् को बहिर्देश में (न कि अन्तस्तल में) देखने की ही अभिलाषा करना और उनके वियोग को न सह सकना आदि है। तामस व्यक्ति हठी, जिस बात का आग्रह कर लें उससे विरत न होने वाले, ज्ञानरहित और मुग्ध होते हैं तथा ज्ञानरहित होने के कारण ही वे लौकिक और वैदिक मर्यादाओं का उल्लङ्घन या अतिक्रमण (भी) कर जाते हैं। व्रजवासी भी भगवान् में परम आग्रह रखने वाले तथा लीलानुपयुक्त ज्ञानसे शून्य हैं। भगवान् के 'इस प्रकार मेरे लिये लोक, वैदिक आर्यमार्ग और पतिपुत्रादि आत्मीयों को छोड़ देने वाली' (भाग० १०।३२।२१)

सूपपन्न एवेति ज्ञेयम्।" (निबन्धकठिनांशविवेचनम्, भागवतार्थप्र० का० १०।२०)। दशमस्कन्धार्थनिर्णय के लिये देखें भागवतार्थप्र० का० १०।१७–१९ तथा उनकी योजना।

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी १०।३२।२१।

(भाग० १०।३२।२१) इति वाक्याद्भगवदर्थं लोकवेदोल्लङ्घन-शीलाश्चेत्येतावद्धर्मसाम्येन तामसत्वमुच्यते परोक्षवादाय, 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' (ऐतरेयोप० १।३।४) इति श्रुतेः, 'परोक्षं मम च प्रियम्' (भाग० ११।२१।३५) इति भगवद्-वाक्याच्च[1]। इदं तामसत्वं तामसप्रकरणे सर्वेषु भक्तेष्वनुगतम्। द्वितीयं तु यत्र यत्रोद्गच्छति तत्र तत्र तादृशकार्यं करोति, यथा,

'शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ ते शुल्कदासिका[2] वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥'

(भाग० १०।३१।२) इत्यादिवाक्यानि। इदं तामसत्वं भाव-

इत्यादि वाक्यों से यह भी ज्ञात होता है कि व्रजवासी भगवान् के लिये लोक और वेद का उल्लङ्घन करने वाले भी हैं। इस प्रकार तामस व्यक्तियों से उपर्युक्त धर्मों में साम्य होने के कारण व्रजभक्त तामस कहे गये हैं, किन्तु यह अवधेय है कि यह तामसत्व परोक्षवाद के लिये ही कहा गया है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'देवता परोक्षप्रिय होते हैं' (ऐतरेयोप० १।३।४) और स्वयं भगवान् ने भी कहा है कि 'मुझे परोक्ष प्रिय है' (भाग० ११।२१।३५)। यह तामसत्व तामसप्रकरण (भाग० १०।५–११, १५–३५) में सभी भक्तों में अनुगत है। उपर्युक्त द्वितीय प्रकार के तामसत्व का जहाँ जहाँ उद्रेक होता है वहाँ वहाँ तदनुरूप कार्य होते हैं, उदाहरणार्थ भागवत के अधोलिखित वाक्यों में। 'हे सुरतनाथ! हे वरद! शरत्कालीन पुष्करिणी में सम्यक् प्रकार से उत्पन्न कमल की अन्तर्वर्तिनी श्री (या शोभा) को चुराने वाली दृष्टि से हम गोपियों को—जो तुम्हारी शुल्कदासियाँ हैं—मारने वाले तुम्हें

---

१. 'परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च हरिप्रियम्।'
(सुबोधिनीका १०।९।१५)

२. गीताप्रेससंस्करणसम्मतपाठ 'तेऽशुल्कदासिकाः' है।

विशेषरूपम्। एवं राजसत्वसात्त्विकत्वे अपि भावविशेषरूपे एव। अत एव तामसप्रकरणस्थाया एव कस्याश्चिद्राजसीत्वम्, अन्यस्याः सात्त्विकीत्वम्, कस्याश्चिन्निर्गुणात्वमुच्यते। अतो ज्ञायते इदं तामसत्वादिकं भावविशेष एव। अत एव '*मधुप कितवबन्धो*' (भाग० १०।४७।१२) इत्यादौ एतस्य तामसत्व-स्यानुवृत्ती राजसप्रकरणेऽपि दृश्यते।

तृतीयं तु भगवन्मायाकार्यम्। मायात्र लीलासृष्टिस्थ-जीवसम्बन्धिनी ज्ञेया, '*न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया*[1] ॥' (भाग० १०।३।३९) इत्यत्र '*इयं विशेषमाया*' (सुबोधिनी

क्या वध का दोष नहीं लगेगा ?[2]' (भाग० १०।३१।२)। यह तामसत्व भावविशेषरूप है। इसी प्रकार राजसत्व और सात्त्विकत्व भी भावविशेषरूप ही होते हैं, इसीलिये (सुबोधिनी में) तामसप्रकरण में निरूपित गोपियों में से किसी को राजस, किसी को सात्त्विक और किसी को निर्गुण कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह तामसत्वादि भावविशेष ही है। इसीलिये राजसप्रकरण (भाग० १०।३६–६३) में भी 'मधुप ! कितवबन्धो ! (भाग० १०।४७।१२) इत्यादि वाक्यों में इस तामसत्व की अनुवृत्ति उपलब्ध होती है।

तृतीय प्रकार का तामसत्व भगवान् की माया का कार्य है। प्रकृत प्रसङ्ग में माया पद से अभिप्राय लीला के लिये की गयी सृष्टि में अवस्थित जीव से सम्बद्ध माया से है जैसाकि भागवत के 'मेरी माया से मोहित होकर तुम दोनों ने मुझसे मोक्ष नहीं माँगा' (भाग० १०।३।३९) इस श्लोक की सुबोधिनी टीका में

---

१. द्रष्टव्य, भाग० १०।३।३९ की सुबोधिनी एवं श्रीविट्ठलनाथकृत टिप्पणी।

२. यह सुबोधिन्यनुसारी अर्थ है, विशदता के लिये देखें, सुबोधिनी १०।३१।२।

१०।३।३९) इत्यादिना सुबोधिन्यामतिरिक्तायाः प्रदर्शितत्वाद्, '*वैष्णवीं व्यतनोन्मायाम्*' (भाग० १०।८।४३) इत्यत्र मूले वैष्णवी पदाच्च । अतः सा पशुपुत्रगृहाद्यासक्तिं जनयति । तत्कार्यं व्रजस्थेषु प्रतीयते, '*अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण*' (भाग० २।७।३१) इति वाक्यात् । क्वचिद् भगवद्विस्मृतिं जनयति, '*नैवाशृणोद्वै रुदितं सुतस्य सा*' (भाग० १०।७।६) इति वाक्याद्, '*अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययौ*' (भाग० १०।९।५) इति वाक्याच्च । क्वचिन्मायिकधर्माणां भगवति प्रतीतिः,

---

'यह विशेषमाया भगवल्लीलासाधिका है[1]' (सुबोधिनी १०।३।३९) इत्यादि वाक्यों में अतिरिक्त माया के निरूपित होने तथा भागवत के 'वैष्णवी माया का विस्तार किया' (भाग० १०।८।४३) इत्यादि वाक्यों में माया के विशेषण के रूप में वैष्णवी पद के प्रयोग से ज्ञात होता है । अतः उपर्युक्त माया पशु, पुत्र और गृह आदि में आसक्ति उत्पन्न करती है । भागवत के, 'दिन भर लौकिक कार्यों में व्यापृत रहने के कारण अत्यधिक परिश्रम से थक कर रात में गहरी नींद में सो जाने वाले गोकुलवासियों को' (भाग० २।७।३१) इत्यादि वाक्यों से व्रजवासियों पर उपर्युक्त माया के कार्य या प्रभाव का ज्ञान होता है । 'नन्दपत्नी ने पुत्र के रोने की आवाज़ नहीं सुनी' (भाग० १०।७।६) इत्यादि वाक्यों तथा 'स्तन्यपान कर रहे पुत्र को अतृप्त छोड़ कर ही वह तेज़ी से भागी' (भाग० १०।९।५) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त माया कहीं-कहीं कभी-कभी भगवद्विषयक विस्मृति को भी उत्पन्न कर देती है अर्थात् भगवान् का विस्मरण करा देती है । इस मायाजन्य तामसत्व के कारण कभी-कभी भगवान् में मायिक धर्मों की प्रतीति भी होती है,

---

१. 'इयं विशेषमाया भगवल्लीलासाधिका, साधारणी तु शास्त्रान्निवर्तत एव' इत्यादि । (सुबो० १०।३।३९) ।

'मेहनादीनि वास्तौ' (भाग० १०।८।३१) इत्यत्र निरूपिता। 'यत् सम्परेतः पुनरेव बालकः' (भाग० १०।७।३२) इत्यादिवाक्यान्यपि अज्ञानमूलानि विशेषमायाकार्यभूतेन तामसत्वेन। अत एतस्य दोषरूपत्वम्।

इदं मायाकार्यरूपं तामसत्वं भगवान् क्रमेण लीलाभिर्नाशयति। अग्रे निवर्तनीयस्यापि पूर्वं स्थापनं त्वत्यन्तविरुद्धसाधनवत्स्वपि ब्रह्मादिदुरापफलदानेन पुष्टिमार्गीयभगवन्महिमख्यापनार्थमिति ज्ञेयम्। तामसप्रकरणीयलीलासमाप्तौ इदं

इस बात का निरूपण 'यह वास्तुदेवताके पूजास्थान में' (अर्थात् सुन्दर मटकों आदि में[1] या हमारे लिपे-पुते स्वच्छ घरों में[2]) मूत्रविसर्जन आदि भी कर देता है' (भाग० १०।८।३१) इस श्लोक की सुबोधिनीटीका में किया गया है। 'जिससे यह बालक मर कर (अर्थात् मृत्यु के मुख में जाकर) भी पुनः आ उपस्थित हुआ है' (भाग० १०।७।३२) इत्यादि वाक्य भी अज्ञानमूलक हैं और उपर्युक्त विशेष माया के कार्यभूत तामसत्व के कारण ही व्रजवासियों के मुख से निकले हैं। अतः माया का कार्यरूप यह तृतीय प्रकार का तामसत्व दोषरूप है।

माया के कार्यरूप इस तृतीय प्रकार के तामसत्व को भगवान् क्रमशः अपनी लीलाओं द्वारा नष्ट कर देते हैं। जिस (तामसत्व) की बाद में चल कर निवृत्ति करनी है उसकी भी पहले प्रतिष्ठा करने का प्रयोजन अत्यन्तविरुद्ध साधन वालों को भी ब्रह्मा आदि के द्वारा भी दुष्प्राप्य फल देकर भगवान् की पुष्टिमार्गीय महिमा का प्रख्यापन करना

---

१. द्रष्टव्य, 'एवं धाष्टर्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ' (भाग० १०।८।३१) इत्यादि की सुबोधिनीटीका के 'उशति कमनीये भाण्डादौ च मेहनादीनि कुरुते, वास्तौ यत्र वास्तुदेवता पूजिता भवति' (सुबोधिनी १०।८।३१) इत्यादि वाक्य।

२. श्रीभागवतसुधासागर १०।८।३१।

मायाकार्यं तामसत्वं निवृत्तम्। एवं तामसानां निरोधे जाते अग्रिमकार्यार्थंचिकीर्षितलीलाप्रतिबन्धकीभूतस्याद्यतामसत्वस्य वियोगासहिष्णुत्व-लोकवेदोल्लङ्घनशीलत्वादिरूपस्य निवारणम्। अत एव *'निवारयामः समुपेत्य माधवं किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्ध-वान्धवाः[1]।'* (भाग० १०।३९।२८) इत्युक्त्वापि न कृतवत्यः, तामसभावस्य परिहृतत्वात्।

ततो राजसभावः। स च,

'विकुर्वन् क्रियया चाधिरनिवृत्तिश्च चेतसः।

है ऐसा समझना चाहिए। तामसप्रकरणीय लीला की समाप्ति पर तामस भक्तों के, माया के कार्यरूप इस तामसत्व की निवृत्ति हो गयी। इस प्रकार तामस भक्तों के इस तामसत्व का निरोध सम्पन्न हो जाने पर आगे का कार्य करने के लिये की जाने वाली लीला के प्रतिवन्धकभूत अर्थात् बाधक उपर्युक्त प्रथम प्रकार के तामसत्व—जिसका स्वरूप वियोग को सहन न कर सकना तथा लोक और वेद की मर्यादाओं का उलङ्घन करना आदि है—का निराकरण निरूपित किया गया है। इसीलिये, 'चलो हम सब स्वयं ही चल कर माधव को रोक लें, कुल के बड़े-बूढ़े और बन्धु-बान्धव हमारा क्या कर लेंगे?' (भाग० १०।३९। २८) इत्यादि कह कर भी गोपियों ने वैसा किया नहीं अर्थात् कृष्ण को रोका नहीं क्योंकि उनका तामसभाव दूर हो गया था।

तदनन्तर राजसभाव का निरूपण हुआ है। राजसभाव मनोविक्षेप-

---

१. 'स्वप्रवृत्तिवन्धकत्वेन वान्धवानुपालभन्त्यः तानवगणयन्ति 'निवारयामः' इति। सर्वाभिः सम्भूय भगवान् निवारणीयः। तथा सति वान्धवाः कोपं करिष्यन्ति इति चेत् तत्राहुः, 'किं नोऽकरिष्यन्' इति। नः अस्माकं किम् अकरिष्यन् इति। किं पूर्वं कृतवन्तः करिष्यन्ति वा? ···· तथापि न सर्वासां सम्मतिरिति लौकिकालौकिकपरमार्थदृष्टियुक्ताभिर-प्रवृत्तमिति।' (सुबोधिनी १०।३९।२८)।

गात्रास्वास्थ्यं मनोभ्रान्तं रज एतैर्निशामय[१] ।।' (भाग० ११।२५।१७)
इति वाक्यान्मनोविक्षेपकर्ता। अत एव,
'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्[२] ।'
(भाग० १०।४७।२९)
'आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावतः[३] ।।'

कर्ता है अर्थात् उसमें मन चञ्चल रहता है, जैसाकि भागवत के अधोलिखित वाक्य में कहा गया है, 'काम करने में मानसिक उद्विग्नता, चित्त की निवृत्ति (अथवा निर्वृति) का अभाव, शरीर की अस्वस्थता तथा मन की चञ्चलता आदि से रजोगुण के उद्रेक का ज्ञान होता है।' (भाग० ११।२५।१७)। इसीलिये उद्धव द्वारा भगवान् के गोपियों को भेजे गये, 'आप लोगों का मुझसे (अर्थात् सर्वात्मा श्रीकृष्णसे)

---

१. पूर्वार्द्ध का गीताप्रेस संस्करण सम्मतपाठ अधोलिखित है।
'विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम् ।' (भाग० ११।२५।१७)।

२. "तत्र द्वेधापि प्रतिजानीते भवतीनां वियोगो मम नास्ति, मम च वियोगो भवतीनां नास्ति, एकत्र कृतघ्नता अपरत्र दुःखं च फलति। वस्तुस्वरूपेण वियोगाभावेऽपि एकदेशेन वृक्षकपिवियोगवत् कालभेदेन च स्त्रीपुरुषवच्च वियोगः सम्भवति, तदुभयं निषेधति, 'न हि सर्वात्मना' इति। क्वचिद् इति काले, सर्वात्मना केनाप्यंशेन इति देशे। एवं चतुर्धा भवति। अत्र प्रायेण साधनचतुष्टयप्रतिपादकं अर्धमन्तरितमिति प्रतिभाति, 'आत्मत्वाद्भक्तवश्यत्वात्सत्यवाक्त्वात्स्वभावतः' इत्येवं रूपम्। गोपिकावियोगो भगवतो नास्ति भगवानात्मेति, भगवद्वियोगश्च न गोपिकानाम्, भक्तवश्यत्वात्। कालभेदेनापि न वियोगः, 'न पारयेऽहम्' (भाग० १०।३२।२२) इति। न हि एतावदुक्त्वा एतावत्यर्थे तासामिच्छां किं न पूरयेत्, भगवतश्चायं स्वभावः यत् स्त्रीषु कृपावान्, अतः केनाप्यंशेन ता न परित्यजतीति। विशेषहेतव एते चेद्भवन्ति।" (सुबो० १०।४७।२९)

३. यह श्लोकार्ध श्रीमद्भागवत में नहीं मिलता है। वल्लभाचार्य के

(भाग० १०।४७।२९) इत्यादिसन्देशोपदिष्टात्मज्ञानमेतासां जातम् । तेन 'नास्माकं भगवद्वियोगः' इति बुद्धम्,

'ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम्[1] ॥' (भाग० १०।४७।५३)

इति वाक्यात् । एवमात्मत्वेन ज्ञानानन्तरमपि 'दृष्ट्वैवमादि

वियोग कभी भी किसी भी प्रकार (कहीं भी) नहीं हो सकता, क्योंकि मैं सब की आत्मा, भक्तों के वश में रहने वाला, सत्यवादी और स्वभाव से ही स्त्रियों पर कृपा करने वाला हूँ', (भाग० १०।४७।२९) इत्यादि सन्देश का उपदेश दिये जाने पर गोपियों को आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और जैसाकि, 'तदनन्तर उद्धव द्वारा सुनाये गये कृष्ण के सन्देशों से दूर हो गये विरहज्वर वाली गोपियों ने कृष्ण को आत्मा समझ कर उद्धव की पूजा की' (भाग० १०।४७।५३) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है उस आत्मज्ञान से उन्हें यह समझ में आ गया कि 'हमारा भगवान् से वियोग नहीं हुआ है' । इस प्रकार कृष्ण को आत्मा के रूप में जान लेने के बाद भी उद्धव के उपदेशों से उत्पन्न गोपियों का यह

अनुसार इसे उपर्युक्त श्लोकार्ध के ठीक बाद होना चाहिए । देखिये, ऊपर टिप्पणी २ में उद्धृत सुबोधिनी १०।४७।२९। इसकी व्याख्या करते हुए श्रीवल्लभाचार्य ने बताया है कि यदि भगवान् आत्मत्व, भक्तवश्यत्वादि धर्मों को प्रकट करें तो गोपिकानुयोगिक भगवत्प्रतियोगिक, भगवदनुयोगिक गोपिकाप्रतियोगिक, कालिक और दैशिक चतुर्विध वियोग होता है जिसका निषेध यहाँ अभिप्रेत है ।

१. "ततः कृष्णसन्देशैः कृत्वा विशेषेण अपेतविरहज्वराः । ज्वराभावे दृष्टमेव द्वारं जातमित्याह अधोक्षजमात्मानं ज्ञात्वा इति ।.... ततो गुरूपदेशः प्राप्त इति साक्षाद्गुरुत्वाभावेऽपि श्रूयताम् इत्याद्युपदेशान्निगरणार्थस्य विद्यमानत्वात् ('गृणातीति गुरुरिति योगादित्यर्थः' प्रकाशः) पूजयाञ्चक्रुः, आत्मविदां वा संमाननं कृतवत्यः । अथवा पूर्वं भगवन्तं

गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्' (भाग० १०।४७।५७) इति वाक्यादुपदिष्टज्ञानं तिरोभवति, रजोगुणेन विक्षेपकरणात्। तथा सति भगवद्विरहोऽस्तीति ज्ञानात् पुनः खेद एव। यावद्-राजसभावस्तावदुपदिष्टस्फूर्तौ विरहाभावज्ञानात् सुखम्, उपदिष्टविस्मृतौ विरहज्ञानाद् दुःखमित्युभयं वर्तत इति ज्ञेयम्।

ततो राजसभावस्याऽपि निवृत्तौ सत्त्वमुर्वरितम्, तदा सात्त्विका उच्यन्ते। तत्र हि *'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'* (गीता

ज्ञान रजोगुणकृत विक्षेप से तिरोहित हो गया, जैसाकि 'इस प्रकार गोपियों के प्रेमभाव तथा कृष्णावेश (अर्थात् कृष्ण के प्रेम में तन्मय हो जाने) से होने वाले आत्मवैक्लव्य (अर्थात् शरीर आदि की विकलता[1]) को देखकर' (भाग० १०।४७।५७) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। ऐसी दशा में उन्हें फिर यह जान पड़ने लगा कि उनका भगवान् से विरह है और इस नवीन ज्ञान से उन्हें पुनः खेद होने लगा। जब तक राजसभाव विद्यमान रहा तब तक गोपियों को उद्धव द्वारा उपदिष्ट ज्ञान का स्फुरण होने पर भगवान् के विरह के अभाव का ज्ञान होने के कारण सुख का अनुभव होता था, किन्तु उद्धव द्वारा उपदिष्ट सन्देश के विस्मृत होते ही भगवान् के वियोग का अनुभव होने लगता था और वे दुःखी होने लगती थीं। इस प्रकार उन्हें राजसभाव विद्यमान रहने तक सुख और दुःख दोनों का अनुभव होता रहा ऐसा समझना चाहिए।

तदनन्तर राजसभाव के भी निवृत्त हो जाने और केवल सत्त्व के ही शेष रह जाने पर व्रज के उपर्युक्त (गोपिकादि) भक्त सात्त्विक कहे

भिन्नतया ज्ञातवत्यः, इदानीमात्मत्वेन, अग्रे तु तथैव भविष्यन्तीति ब्रह्म-भावयोग्यता निरूपिता तच्च नाभिलषितं स्यात् तदा न भवेद् इत्युत्कटेच्छां ज्ञापयितुमुद्धवपूजा निरूपिता।" (सुबोधिनी १०।४७।५३)।

१. देखिये, ऊपर पृष्ठ १०८ टिप्पणी १।

१४।१७) इति वाक्याद् उद्धवोपदिष्टं ज्ञानं स्थिरमभूत्। अत एव कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे 'गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः'[1] (भाग० १०।८२।४९) इत्येव प्रार्थितम्, अन्यथा पुरःस्थिते भगवति व्रजे भगवदागमनं प्रार्थयेयुः। अतो भगवच्छास्त्रप्रकारेण भगवन्मेलनं समीचीनं सार्वदिकं चेति ताभिर्बुद्धमित्यध्यवसीयते।

गये हैं। इस स्थिति में उनमें, जैसाकि गीता के 'सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है' (गीता १४।१७) इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है, उद्धव के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान स्थिर हो गया। इसीलिये कुरुक्षेत्र में कृष्ण का पुनः साक्षात्कार होने पर गोपियों ने उनसे केवल यही प्रार्थना की कि 'आपका यह चरणकमल घर-गृहस्थी के काम करते रहते पर भी हम सभी गोपियों के मन में सदा स्फुरित होता रहे' (भाग० १०।८२।४९), अन्यथा (अर्थात् यदि उद्धवोपदिष्ट ज्ञान उनके हृदय में स्थिर न हो गया होता तो) सम्मुख उपस्थित कृष्ण से वे व्रज में पुनः आने की ही याचना करतीं। अतः (गोपियों के कृष्ण से व्रज में आने का आग्रह न कर उपर्युक्त प्रार्थना करने से) ज्ञात होता है कि उनकी समझ में यह बात आ गयी कि भगवान् के द्वारा उपदिष्ट (भगवच्छास्त्र में प्रतिपादित) प्रकार से भगवान् से संयोग प्राप्त करना ही ठीक है और यह संयोग सार्वदिक अर्थात् नित्य है।

---

१. "अतः आधिदैविके मनसि तवावतीर्णस्य पुरुषोत्तमस्य पदयुगलं मनसि सर्वदा स्फुरतु, तावतेयमवस्था स्थिरा भविष्यति।....स्वस्य बाधान्तरसम्भावनामाहुः 'गेहञ्जुषामपि' इति। देहो वर्तत इति देहभागिनः गृहे योजयिष्यन्ति। ततो गृहासक्त्या पूर्ववदेव प्राकृतत्वं भविष्यति; अयमेव च कूपे पातः। 'अपि' इति, कदाचित् त्वत्कृपया देहसम्बन्धो न भवेत्, तदा न काचिच्चिन्ता इत्यपि सूचितम्। मनसि स्वयमेव उदियात्। नः अस्माकं सर्वासाम्। एवं निष्कामतया गोप्यो मुख्या भक्ता जाताः। कामनिवारणार्थञ्च ज्ञानोपदेश इति निरूपितम्।" (सुबोधिनी १०।८२।४९)।

ततः सत्त्वनिवृत्तौ निर्गुणावस्था । ततो भगवद्रूपतायां नित्यलीलाप्रवेशो मुक्तिः । '*मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः*'[1] (भाग० २।१०।६; सुबोधिनीकारिका ११।१।१।४) इति । ततो रमणादिकमपि सर्वं पुरुषोत्तमात्मकमित्याश्रयप्राप्तिरिति भगवदीयैर्विभावनीयम् ।

अथ आधुनिकानां पुष्टिमार्गीयाणां फलं लिख्यते । तत्र

तदनन्तर सत्त्व की भी निवृत्ति हो जाने पर निर्गुणावस्था की प्राप्ति होती है । निर्गुणावस्था की प्राप्ति हो जाने पर भगवद्रूपता सम्पादित हो जाने पर भक्त को भगवान् की नित्यलीला में प्रवेश मिलता है जिसे मुक्ति कहा जाता है, जैसाकि 'अन्यरूपों का परित्याग कर स्वरूप से अवस्थित होना मुक्ति है' (भाग० २।१०।६) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है । तब जीव का रमणादि सब कुछ पुरुषोत्तमात्मक ही होता है और उसे आश्रय की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा भगवदीयों को समझना चाहिए ।

अब आधुनिक पुष्टिमार्गियों के प्राप्य फल का निरूपण करते हैं ।

---

१. "मुक्तिं लक्षयति, 'हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' इति । अन्यथारूपं तत्त्वरूपं तस्य परित्यागः स्वरूपमेकम् । अवस्था द्विविधा सामान्यविशेषभेदेन ('सामान्यावस्था दैवीसम्पद्रूपा, विशेषावस्था मर्यादारूपा पुष्टिरूपा च, तेन इत्यर्थः ।'—प्रकाशः) । उभयत्र लक्षणं मिलितम् ('अवस्थाद्वये मुक्तिलक्षणमविशिष्टमित्यर्थः ।'—प्रकाशः) । ('ननु विशेषावस्थायामहन्तादिसद्भावस्यैव दर्शनात्कथं लक्षणसमन्वय इत्यत आहुः, तत्रापि इत्यादि ।'—प्रकाशः) । तत्रापि ('तत्रापीति पुष्ट्यवस्थायाम्'—प्रकाशः) पूर्वं तत्त्वपरित्यागः । ('पञ्चविंशतितत्त्वपक्षेऽध्यायसंख्या न युज्यत इत्यतः सङ्ख्यान्तरमाहुः'—प्रकाशः) तत्त्वान्यष्टाविंशतिः । एवमेकत्रिंशद्भेदा भवन्ति ।" (सुबोधिनी २।१०।६) ।

'निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः ।' (सुबोधिनी २।१०।१) ।

श्रीमद्भागवते द्विधा बोधोऽस्तीति ज्ञेयम्। तत्रैको वाचनिको द्वितीय आर्थिक आध्यात्मिकशब्दवाच्यः। तत्र वाचनिको हि शाब्दबोधः मर्यादया जायते। द्वितीयस्तु लीलातात्पर्यादिज्ञानानन्तरं ज्ञानविशेषाज्जन्यते। तत्राद्यो यथा, '*अहं भक्तपराधीनः*' (भाग० ९।४।६३) इति नवमस्कन्धे भगवद्वाक्यश्रवणाद् भगवान् भक्ताधीन इत्यवगत्यात्मकः, द्वितीयस्तु '*गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान्*'[1] (भाग० १०।११।७) इति वाक्यात् तादृशलीलायास्तात्पर्यज्ञानानन्तरं पुष्टिभक्तिपरवशत्वं भगवतो निर्धार्यते, तत्र ज्ञेयः। यथा वा '*योषित्सङ्गाद्यथा पुंसः*'

श्रीमद्भागवत में वाचनिक अर्थात् शाब्दिक और आर्थिक—जिसे आध्यात्मिक शब्द से अभिहित किया गया है—भेद से, दो प्रकार से ज्ञान का निरूपण किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। इनमें से प्रथम शाब्दबोध अर्थात् वाचनिक बोध (शब्दों की) मर्यादा से उत्पन्न होता है तथा दूसरा अर्थात् आर्थिक भगवान् की लीला के तात्पर्य आदि के ज्ञान के बाद उस ज्ञानविशेष से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ नवमस्कन्ध में भगवान् के 'मैं भक्तों के वश में हूँ' (भाग० ९।४।६३) इत्यादि वाक्यों को सुनने से भगवान् के भक्तों के अधीन होने का जो ज्ञान होता है वह वाचनिक बोध है तथा 'भगवान् कभी-कभी गोपियों के फुसलाने से नाचने लगते थे' (भाग० १०।११।७) इत्यादि वाक्यों से भगवान् की नृत्यलीला के तात्पर्य का ज्ञान हो जाने पर भगवान् के पुष्टिभक्तों के अधीन होने का जो निश्चय या ज्ञान होता है वह आर्थिक या आध्यात्मिक बोध है। इसी प्रकार 'स्त्रियों के सङ्गसे और स्त्रीसङ्गियों के सङ्ग से पुरुष को जैसा

---

१. "'नृत्यं कुरु भगवन् लड्डुकानि दास्यामि' इत्युक्तो नृत्यति। तत्रापि स्तोभितः, 'कृष्ण एव सम्यङ् नृत्यं जानाति कर्तुं न रामः' इत्युक्तः, स्तोभा शून्यप्रशंसा यथा स्तोभाक्षराणि भभभेति, तथा गोपीभिः यथाकथञ्चित् स्तुतोऽनृत्यन् नृत्यं करोति, लडर्थे लङ्।" (सुबो० १०।११।७)।

(भाग० ११।१४।३०) इति वाचनिकः, *'वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः'* (भाग० ३।१२।२८) इत्यत्रार्थिकः। एवं सर्वत्रोह्यम्। सोऽयं सुबोधिनीनिबन्धादावाध्यात्मिकः पक्षः तत्तल्लीलाप्रसङ्गे साधितोऽस्ति।

एवं सति आधुनिकपुष्टिस्थानां कथं प्राप्तिरिति जिज्ञासायाम्, *'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्'* (भाग० ११।१९।२४) इत्यादिभिः प्रकारलाभेऽपि,

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥' (गीता १४।२६)

इत्यादिवाक्यैर्नैर्गुण्यावस्थानन्तरं फलप्राप्तिरित्याद्याकारक-

---

क्लेश और बन्धन होता है वैसा किसी अन्य के सङ्ग से नहीं' (भाग० ११।१४।३०) इत्यादि वाक्यों से होने वाला ज्ञान वाचनिक है और 'ब्रह्मा अपनी मनोहारिणी कोमलाङ्गी दुहिता सरस्वती को देखकर कामाभिभूत हो गये' (भाग० ३।१२।२८) इत्यादि वाक्यों (में निरूपित कथानक के ज्ञान) से होने वाला बोध आर्थिक है। इसी तरह अन्य सभी स्थलों पर भी वाचनिक और आर्थिक भेद से द्विविध बोध की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस आर्थिक या आध्यात्मिक पक्ष की सिद्धि विभिन्न लीलाओं के निरूपण के प्रसङ्ग में श्रीवल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी टीका और तत्त्वार्थदीपनिबन्ध आदि कृतियों में की है।

ऐसी स्थिति में, आधुनिक पुष्टिमार्गियों को फल की प्राप्ति कैसे होगी, इस प्रकार की जिज्ञासा के उत्तर में यही कहना है कि, 'हे उद्धव! इन उपर्युक्त धर्मों का पालन करते हुए मेरे प्रति आत्मसमर्पण कर देने वालों की मुझमें भक्ति हो जाती है' (भाग० ११।१९।२४) इत्यादि वाक्यों से उनकी फलप्राप्ति के प्रकार का ज्ञान हो जाता है, तथा 'जो भक्त एकान्तनिष्ठ होकर भक्तियोग से मेरी उपासना करते हैं वे सत्त्वादि गुणों को पार कर ब्रह्मभाव की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं' (गीता १४।२६) इत्यादि वाक्यों से 'नैर्गुण्य की अवस्था का सम्पादन

सिद्धान्तसिद्धावपि नैर्गुण्यानन्तरं फलमित्यार्थिकोऽपि सिद्धान्तः सम्पद्यते। सोऽयं भागवतमूलकयोः सुबोधिनीनिबन्धयोर्वर्तत इति, ततो बोधसौकर्यायोद्धृत्य लिख्यते।

तत्र येषु जीवेषु भगवता पारमार्थिकफलविशेषसाधनार्थमलौकिकानुग्रहविशेषेण पुष्टिभक्तिर्बीजरूपा स्थापितास्ति ते पुष्टिमार्गीयाः। तेषां साधनैः फलं भविष्यतीति प्रकारो निर्धार्यते। तत्र, *'त्रैगुण्यः सर्व एव हि'* (भाग० ११।२५।३०) इति भगवद्वाक्यात् ते मायाकार्यतामसादिगुणैर्व्याप्ताः सन्ति। यद्यपि सर्वेषु त्रयो गुणाः सन्ति तथापि 'प्राधान्येन व्यपदेशा

हो जाने के बाद ही फल की प्राप्ति होती है' इस सिद्धान्त की सिद्धि हो जाती है, तथापि इस वाचनिक बोध के साथ ही, 'फलप्राप्ति नैर्गुण्य सम्पादन के बाद होती है' इस सिद्धान्त का आर्थिक या आध्यात्मिक बोध भी होता है। यह आर्थिक या आध्यात्मिक बोध श्रीवल्लभाचार्य के भागवतमूलक दो विशिष्ट ग्रन्थों सुबोधिनीटीका और तत्त्वार्थदीप निबन्ध में निरूपित मिलता है अतः जिज्ञासुओं के बोधसौकर्य के लिये हम उसे वहाँ से उद्धृत कर यहाँ प्रतिपादित कर रहे हैं।

भगवान् ने एक विशेष पारमार्थिक फल की प्राप्ति कराने के उद्देश्य से, विशेष प्रकार का अलौकिक अनुग्रह कर जिन जीवों में प्रारम्भ में ही बीजरूप पुष्टिभक्ति की स्थापना कर दी थी वे ही पुष्टिमार्गीय होते हैं[२]। उनको साधनों के द्वारा फल की प्राप्ति होगी, वह किस प्रकार होगी यह बताते हैं। जैसाकि भगवान् के 'सभी त्रिगुणात्मक हैं' (भाग० ११।२५।३०) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है उपर्युक्त पुष्टिमार्गीय जीव भी माया के कार्यरूप तामसत्व आदि से व्याप्त हैं। यद्यपि सभी जीवों में

---

१. द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि॥ (भाग० ११।२५।३०)।

२. देखिये, ऊपर पृष्ठ ३७, १२२–१२३।

भवन्ति' इति न्यायेन यस्मिन् यस्य गुणस्याधिक्यं स तेन गुणेन व्यपदिश्यते। तत्र सात्त्विकानां सेवाश्रवणादिसाधनैः शीघ्रं प्रेमोत्पत्तिः। अत एवोक्तं निबन्धे, '*सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः।*' (शास्त्रार्थप्र० का० २) इति, निबन्धीय-सेवाप्रकरणे '*सात्त्विकानुपदिशति*' (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २२४ आभासे) इति च। अतस्ते प्रथमाधिकारिणः, शिष्टौ मध्यम-हीनौ। अत एव भक्तिस्कन्धीयभक्तेषु हीनमध्यमोत्तमाः सर्वेऽपि कथिताः। '*पुंसामीशकथाः प्रोक्ता हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्*[1]।' (भाग०

सत्त्वादि सभी अर्थात् तीनों गुण पाये जाते हैं तथापि 'व्यपदेश या अभि-धान प्रधानता के आधार पर किया जाता है' इस न्याय से जिस जीव में सत्त्वादि जिस गुण का आधिक्य होता है उसका सात्त्विक आदि अभिधान उसी गुण के नाम से सम्बद्ध कर के किया जाता है। इस प्रकार सात्त्विक कहे जाने वाले अर्थात् सत्त्वप्रधान जीवों में भगवत्सेवा और भगवत्कथा-श्रवण आदि साधनों से शीघ्र ही भगवत्प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इसी-लिये श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थप्रकरण में 'सात्त्विक भगवद्भक्त जो मुक्ति के अधिकारी हैं[2]' (शास्त्रार्थप्र० का० २) इत्यादि तथा सर्वनिर्णयप्रकरण में 'सात्त्विक भक्तों को उनके कर्तव्य का निर्देश करते हैं' (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २२४) इत्यादि कहा है। अतः सात्त्विक भगवद्भक्त प्रथम कोटि के अर्थात् उत्तम अधिकारी हैं और शेष मध्यम एवं हीन अधिकारी। इसीलिये भक्तिस्कन्ध के भक्तों में हीन, मध्यम

---

१. भागवत का पाठ अधोलिखित है,

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः॥ (भाग० २।१०।५)।

देखिये, सुबोधिनी २।१०।५।

२. द्रष्टव्य, तत्त्वार्थदीपनिबन्धः पृष्ठ ९।

२।१०।५) इत्यनेन सामान्यतः सर्वेषां भक्तत्वं सूचितम्। अधुना तु कलिकालदोषान्मोहलोभादियुतास्तामसा राजसा बहवः सन्ति। ते हि पूर्वस्थापितस्य पुष्टिभक्तिबीजस्य अनश्वरत्वेन सत्त्वाद् भगवत्परिचर्यादि कुर्वाणा अपि दोषप्राबल्याद् न प्रेमलक्षणां भक्तिं लभन्ते, प्रतिबन्धकाभावस्य सर्वत्र कारणत्वात्। तेषाम्, *'आदरः परिचर्यायाम्'* (भाग० ११।१९।२१) इत्यादि भगवदुक्तसेवाश्रवणादिसाधनैर्बीजदार्ढ्ये सति सेवयैव क्रमेण तमोरजःसत्त्वानि निवर्तन्ते, *'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'* (गीता १४।२६) इत्यादि वाक्यात्। तदेतद्

और उत्तम सभी कोटि के भक्तों का उल्लेख किया गया है। 'भगवान् के विभिन्न अवतारों तथा भगवान् के अनुवर्ती भक्तों के चरित्र 'ईशकथा' कहे जाते हैं' (भाग० २।१०।५) इत्यादि वाक्यों से सामान्यतः सभी का भक्त होना सूचित होता है। आजकल कलियुग के दोषों के कारण मोह, लोभ आदि से युक्त तामस और राजस जीवों की संख्या बहुत अधिक हो गयी है। भगवान् द्वारा जीवों में पहले से ही स्थापित पुष्टिभक्ति का बीज अविनश्वर होने के कारण उनमें भी विद्यमान है अतः वे भगवान् की परिचर्या आदि करते हैं किन्तु दोषों के प्रबल होने के कारण उन्हें प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति नहीं हो पाती क्योंकि प्रतिबन्धक के अभाव की कारणता सर्वत्र स्वीकार की गयी है। भगवान् के 'मेरी परिचर्या में आदर अर्थात् मेरी सेवा-पूजा में प्रेम रखे' (भाग० ११।१९।२१) इत्यादि वाक्यों में कहे गये भगवत्सेवा, भगवत्कथाश्रवण आदि साधनों के द्वारा उपर्युक्त बीज के दृढ़ हो जाने पर सेवा के द्वारा ही उन जीवों के भी तमस्, रजस् और सत्त्व गुणों की क्रमशः निवृत्ति हो जाती है। इस कथन की पुष्टि भगवान् के 'जो एकान्तनिष्ठ होकर भक्तियोगसे मेरी सेवा करता है' (गीता १४।२६) इत्यादि वाक्यों से होती है। इस सिद्धान्त की सूचना गोकुलवासियों के

गोकुलस्थानां प्रसङ्गे सूचितं च, यतस्तेषां पूर्वं तमो निवृत्तम्, पश्चाद्रजःसत्त्वे ।

'इतोऽपि चेद्धरिर्गच्छेन्नीत्वा सर्वस्य तामसम् ।
राजसास्ते भविष्यन्ति गोकुलस्थौ न संशयः ॥
उभये च ततस्त्वग्रे सात्त्विकास्त्वगुणास्ततः ।
त्रयोऽपि सम्भविष्यन्ति मुक्तौ तेषां निरूपणम् ॥'

(भागवतार्थप्र० का० १०।१२६-१२७) ।

'इतोऽपि चेद्' इत्यादि । ननु तामसप्रकरणीयलीलासमाप्तिपर्यन्तं गोकुलस्थानां तामसत्वं स्थितमेव पश्चाद्भगवन्मथुरा-

---

प्रसङ्ग में भागवत और उसकी सुबोधिनीटीका में भी मिलती है क्योंकि वहाँ पहले गोकुल के (गोपिकादि) भक्तों के तामसत्व के निवृत्त होने का निरूपण हुआ है तदनन्तर राजसत्व और सात्त्विकत्व की निवृत्ति का। तत्त्वार्थदीपनिबन्ध में श्रीवल्लभाचार्य लिखते हैं कि 'यदि भगवान् व्रज से सभी गोकुलवासियों के तामसत्व को लेकर (अर्थात् अपहृत कर, मथुरा चले) जायें तो सभी गोकुलवासी राजस हो जायेंगे इसमें सन्देह नहीं है। उसके बाद दोनों (अर्थात् तामस और राजस, गोकुलवासी और मथुरावासी भक्त) सात्त्विक हो जायेंगे और तदनन्तर तीनों (अर्थात् तामस, राजस और सात्त्विक भक्त) निर्गुण हो जायेंगे। इन सब का निरूपण मुक्ति के लिये किया गया है।[1]' (भागवतार्थप्र० का० १०।१२६-१२७) ।

'इतोऽपि चेद्' इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली तत्त्वार्थदीपनिबन्ध की ऊपर उद्धृत की गयी कारिकाओं का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं। 'तामस प्रकरण की लीला की समाप्ति होने तक गोकुलवासियों का तामसत्व तो बना ही रहता है और उसके बाद भगवान् के मथुरा चले जाने के बाद

---

१. द्रष्टव्य, भागवतार्थप्र० योजना १०।१२५–१२७ ।

गमनानन्तरं लीलानां बाह्यतस्तिरोभावाच्छास्त्रीयसाधनानां च गोकुलस्थेऽभावात् कथं तामसभावनिवृत्तिः इत्याशङ्क्य तन्निवृत्तिप्रकारमाहुः, 'इतोऽपि चेद्' इत्यादिना। अयमर्थः, यद्यपीह भक्तिशास्त्रीयमर्यादाविचारे तामसत्वनिवृत्तौ न किञ्चित् कारणम्, कारणाभावेऽपि यदि कार्योत्पत्तिस्तदा सर्वमर्यादोच्छेदः स्यात्, तथापि हरिश्चेत्तामसत्वं स्वयं गृहीत्वा गच्छेत् तदा शास्त्रीयमर्यादाया दुर्बलत्वात् तामसत्वं गच्छत्येव। अतः प्रमेयबलस्यैव मुख्यत्वम्, न प्रमाणबलस्येति प्रमेयबलेन राजसास्ते भविष्यन्ति। अस्मिन्नर्थे संशयो नास्ति। अतो न

गोकुल में होने वाली लीलाओं का बहिर्दृष्टि से तिरोभाव हो जाता है फिर फलप्राप्ति के, शास्त्रीय साधनों से विरहित गोकुलवासी भक्तों के तामसभाव की निवृत्ति किस प्रकार होती है ?' इस आशङ्का का समाधान करते हुए 'इतोऽपि चेद्' इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाली कारिकाओं से गोकुलवासियों के तामसत्व की निवृत्ति का प्रकार बताते हैं। उपर्युक्त कारिकाओं का अभिप्राय यह है। यद्यपि भक्तिशास्त्र की मर्यादा की दृष्टि से विचार करने पर प्रकृत स्थल पर तामसत्व की निवृत्ति का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता और कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करने से (विचार के नियमों की) सारी मर्यादाओं के उच्छेद का अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा, तथापि स्वयं भगवान् के गोकुलवासियों के तामसत्व को लेकर (अर्थात् अपहृत कर, मथुरा) चले जाने की बात स्वीकार कर लेने पर, शास्त्रीय मर्यादा के (प्रमेयबल की अपेक्षा) दुर्बल होने के कारण, गोकुलवासियों के तामसत्व की निवृत्ति की व्याख्या हो जाती है। अतः तामसत्वकी निवृत्ति में भी प्राधान्य प्रमेयबल का ही है, प्रमाणबल का नहीं। प्रमेयबल के प्रमुख होने के कारण गोकुलवासी गोपिकादि भक्त उस प्रमेयबल से (तामसत्व से छुटकारा पाकर) राजस हो जायेंगे यह मानने में सन्देह के लिये किञ्चिन्मात्र भी

कश्चिद् विरोधः, न वा मर्यादाभङ्गः, प्रमाणबलविचारे तथात्वेऽपि प्रमेयबलविचारेण समाधानादिति कारिकार्थः फलितः। यद्यपि लीलासृष्टिस्थभक्तास्तु, *'यो नन्दः परमानन्दो यशोदामुक्तिरूपिणी'* (कृष्णोप० ३), *'गोप्यो गाव ऋचस्तस्य'* (कृष्णोप० ८) इत्यादिभिः कृष्णोपनिषत्स्वतिश्लाघितस्वरूपाः प्रापञ्चिकविलक्षणाः तथाप्यंशविशेषे दृष्टान्तीकरणान्न दोषः।

न च 'पुष्टिभक्तेर्निर्गुणत्वात्तद्वतो राजसत्वं तामसत्वं च न सम्भवतीति' वाच्यम्, वृत्रे तामसत्वदर्शनात्, *'रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः'*[1] (भाग० ६।१४।१) इतिवाक्यात्,

---

अवकाश नहीं है। अतः उपर्युक्त कारिका का अभिप्राय यह हुआ कि गोकुलवासियों के तामसत्त्व की निवृत्ति मानने में न तो कोई विरोध ही ही है और न मर्यादाभङ्गकी ही आशङ्का है क्योंकि यद्यपि प्रमाणबल से तामसत्व की निवृत्ति मानने पर विरोध और मर्यादाभङ्ग का प्रसङ्ग उपस्थित होता है तथापि प्रमेयबल से तामसत्व की निवृत्ति मानने पर विरोध और मर्यादाभङ्ग की आशङ्का दूर हो जाती है। यद्यपि लीला के लिये की गयी सृष्टि में अवस्थित भक्तों को प्रापञ्चिक जीवों से विलक्षण बताते हुए कृष्णोपनिषद् में 'नन्द परमानन्दरूप हैं और यशोदा मुक्तिरूपिणी हैं' (कृष्णोप० ३), तथा 'गोपियाँ और गायें श्रुतिस्वरूप हैं' (कृष्णोप० ८) इत्यादि वाक्यों में उनके स्वरूप की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है फिर भी तामसत्व के निरूपण के लिये उनको दृष्टान्तरूप में स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है क्योंकि अंशविशेष की दृष्टि से ही दृष्टान्त देना अभिप्रेत है।

यह कहना भी ठीक न होगा कि पुष्टिभक्तिके निर्गुण होनेके कारण पुष्टिभक्तियुक्त जीवोंका राजसत्व और तामसत्व सम्भव या उपपन्न नहीं है क्योंकि 'हे ब्रह्मन्! पापाचार के योग्य आसुर देह धारण करने वाले

---

१. "भक्त्यसम्भवे हेतुमाह, 'पाप्मनः' इति पापाचारयोग्यगृहीतासुर-

'*अजातपक्षा इव मातरं खगाः*' (भाग० ६।११।२६) इत्यादिवाक्यैः वृत्रस्य पुष्टिभक्तत्वनिर्धारात्। अतो भक्तेर्निर्गुणत्वेऽपि भक्तानां सगुणत्वमस्त्येव। '*अभिसन्धाय यो हिंसाम्*'[1] (भाग० ३।२९।८) इत्यादिवाक्यैस्तादृक्कामजन्याया एव भक्तेः सगुणत्वम्, न त्वस्याः। अत इयं भक्तिर्निर्गुणैव। भक्तानां तु त्रैविध्यं वर्तत एव।

और इसीलिये रजोगुणी एवं तमोगुणी स्वभाव वाले वृत्र की भगवान् नारायणमें दृढ़ भक्ति किस प्रकार हो गयी ?' (भाग० ६।१४।१) इत्यादि वाक्योंसे वृत्र में तामसत्व के होने का बोध होता है और साथ ही 'जिस प्रकार पक्षिशावक—जिनके अभी पङ्ख भी नहीं निकले होते हैं—अपनी माताओं को देखने के लिये समुत्सुक होकर उनकी वाट जोहते रहते हैं' (भाग० ६।११।२६) इत्यादि वाक्यों से उसके पुष्टिभक्त होने का भी निश्चय होता है। अतः भक्ति के निर्गुण होते हुए भी भक्तों के सगुण होने की वात उपपन्न है। 'जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष शत्रुओं की हिंसा के उद्देश्य से ··· ··· मेरी भक्ति करता है वह मेरा तामस भक्त है'[1] (भाग० ३।२९।८) इत्यादि वाक्योंसे उस प्रकार की अर्थात् शत्रु की हिंसा आदि की कामनाओं से की जाने वाली भक्तिके ही सगुण होने की सिद्धि होती है, पुष्टिभक्ति के सगुण होने की नहीं। अतः पुष्टिभक्ति तो निर्गुण ही है। पुष्टिभक्तों के तामस, राजस और सात्त्विक के भेद से

देहस्य अत एव रजस्तमःस्वभावस्य इति।" (भाग० ६।१४।१ की वालप्रवोधिनी)।

१. 'अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग् भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥' (भाग० ३।२९।८)
'शत्रूणां हिंसाम् उद्दिश्य यः तु मयि भावं भक्तिं कुर्यात् स तामस-तामसो भवति।' (सुबोधिनी ३।२९।८)। देखिये, भाग० ३।२९।८ की वालप्रवोधिनी।

अत एव आधुनिकानां पुष्टिभक्तानां साधनसापेक्षत्वादित आरभ्य सेवाश्रवणादिप्रकारः तामसादिगुणनिवृत्तिप्रकार आध्यात्मिकरीत्या निरूप्यते। तथाहि, यथा लीलासृष्टौ तामस-प्रकरणारम्भे प्रथमाध्याये भगवदाविर्भावोत्सवस्तथेहापि साधकस्य श्रीमूर्त्तेराविर्भावोत्सवः। अत एव निवन्धे सेवाप्रकरणे, '*एनमुद्धरिष्यामीति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः*' (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २२८) इत्युक्तम्। मूर्तिरूपेण प्रभोराविर्भाव एव अङ्गीकृतस्तथा अत्र।

यथा, '*नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले*' (भाग०

त्रिविध होने का सिद्धान्त तो स्वीकार किया ही जा चुका है।

अतः आधुनिक पुष्टिभक्तों को साधन की अपेक्षा होने के कारण अब हम यहाँ से प्रारम्भ कर इस अध्याय के अन्त तक आध्यात्मिक रीति अथवा उपर्युक्त आर्थिक बोध की रीति से भगवत्सेवा, भगवत्कथा-श्रवण और तामसत्वादि की निवृत्ति के प्रकार का निरूपण करेंगे।

जिस प्रकार भागवत के तामस प्रकरण के प्रारम्भ में प्रथम अध्याय (भाग० १०।५) में लीला के लिये की गयी सृष्टि में भगवान् के जन्मोत्सव के मनाये जाने का वर्णन है उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गीय साधक को भी भगवान् के स्वरूप या श्रीविग्रह के आविर्भाव का उत्सव मनाना चाहिये। इसीलिये श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के सर्व-निर्णयप्रकरण के सेवाप्रकरण में कहा है कि "जब भगवान् 'इस जीव का उद्धार करूँगा' इस प्रकार का सङ्कल्प करते हैं तो मृदादि से प्रादुर्भूत होते हैं" (सर्वनिर्णयप्र० प्र० २२८)। जिस प्रकार वहाँ कृष्णमूर्ति के रूप में प्रभु का आविर्भाव ही स्वीकार किया गया है उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गियों को भी भगवन्मूर्ति में प्रभु का आविर्भाव ही स्वीकार करना चाहिए।

जिस प्रकार वहाँ नन्द को वसुदेव के 'अब आप को यहाँ (मथुरा में) अधिक दिन नहीं रुकना चाहिये क्योंकि गोकुल में अनेक उत्पात हो

१०।५।३१) इत्यनेन प्रादुर्भूतभगवत्सुखानुभवप्रतिबन्धकज्ञाने वसुदेवस्य कारणता एवमत्रापि गुरोः सकाशाद् भक्तिमार्ग-प्रतिबन्धकज्ञानम् ।

ततः पूतनामरणम्, सा चाविद्यारूपा, *'अविद्या पूतना नष्टा'* (सुबोधिनीका० १०।६।१४।१) इति वाक्यात् । न च 'पूतना-बकादीनामविद्यादम्भादिरूपत्वे मानाभाव इति' वाच्यम्, *'लोभक्रोधादयो दैत्याः'* (कृष्णोप० ९) इति कृष्णोपनिषत्सु सर्वेषां दैत्यानां परिदृश्यमानस्वरूपातिरिक्तलोभादिरूपत्वेन प्रतिपादनात् । *'लोभक्रोधादयो दैत्या'* (कृष्णोप० ९) इत्यत्र *'आदि'* शब्देन सर्वेषां सङ्ग्रहात् । एतदुपनिषन्मूलिकैव धेनु-

---

रहे हैं' (भाग० १०।५।३१) इत्यादि वाक्यों से, प्रादुर्भूत हुए भगवान् के सुख के अनुभव के प्रतिबन्धक विघ्न का ज्ञान होने का उल्लेख है उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गियों को गुरु से भक्तिमार्ग के प्रतिबन्धक विघ्नों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।

तदनन्तर (भाग० १०।६ में) पूतना की मृत्यु का निरूपण मिलता है। जैसा कि श्रीवल्लभाचार्य के 'अविद्यारूपी पूतना नष्ट हो गयी' (सुबोधिनीका० १०।६।१४।१) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है पूतना अविद्यारूप है[1] (अर्थात् पूतना अविद्या की प्रतीक या अविद्या का नामान्तर है) । यह कहना ठीक न होगा कि 'पूतना, बकासुर आदि को अविद्या, दम्भ आदि का प्रतीक या मूर्तरूप मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है' क्योंकि कृष्णोपनिषद् के 'लोभ, क्रोध आदि दैत्य' (कृष्णोप० ९) इत्यादि वाक्यों में सभी दैत्यों के परिदृश्यमान स्वरूपों के अतिरिक्त लोभादिरूप होने का भी प्रतिपादन उपलब्ध होता है । 'लोभ, क्रोध आदि दैत्य' (कृष्णोप० ९) इस वाक्य में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से सभी

---

१. 'अविद्या हि पञ्चपर्वा सा नाशिता, शकटः संसारात्मको भञ्जितः, अविद्याकार्यरूपो मोहात्मकश्च तृणावर्तो मारितः।' (सुबोधिनी १०।८।१६)।

कादौ देहाध्यासत्वाद्युक्तिः सुबोधिन्याम्[1] इति ज्ञेयम् । एवं सति तत्र अविद्यारूपा पूतना नाशिता तथेहापि भगवद्बहिर्मुखत्वसम्पादिका अविद्या सेव्यमानेन प्रभुणा नाश्यते[2], 'सकृदिष्ट्वादिपुरुषम्' (भाग० ६।१८।६६) इति वाक्यात् ।

तत्र यथा वसुदेवमुखादुत्पातश्रवणे, तन्निवृत्त्यर्थं श्रीनन्देन 'हरिं जगाम शरणम्' (भाग० १०।६।१) इति वाक्यात् शरणा-

---

दैत्यों का ग्रहण हो जाता है । सुबोधिनी में श्रीवल्लभाचार्य ने धेनुकासुर आदि को देहाध्यास आदि का प्रतीक या मूर्तरूप कहा है[1] । उनके इस कथन का मूल आधार उपर्युक्त कृष्णोपनिषद् के वाक्य ही हैं, ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार पूतना के अविद्यारूप होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है और जिस प्रकार लीलासृष्टि में भगवान् ने अविद्यारूपी पूतना का नाश किया था उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिभक्तों द्वारा सेवित होने पर वे उन भक्तोंके बहिर्मुखत्व का सम्पादन करने वाली अविद्या का भी नाश अवश्य ही कर देंगे, इस बात की पुष्टि भागवत के 'एक बार भी भगवान् नारायण की उपासना या पूजा करके' (भाग० ६।१८।६६) इत्यादि वाक्यों से होती है ।

जिस प्रकार वसुदेव के मुख से गोकुल में उत्पात हो रहे होने की बात सुनकर, उन उत्पातों की निवृत्ति के लिये नन्द ने भगवान् की शरण ग्रहण की थी, जिसका ज्ञान 'भगवान् हरि की शरण में गये' (भाग० १०।६।१) इत्यादि वाक्यों से होता है, उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गीय

---

१. 'प्रथमं द्वादशेऽध्याये देहाध्यासो हि धेनुकः ॥
तद्वधो ज्ञानपूर्वो हि फलावधि निरूप्यते ।
कालीय इन्द्रियाण्याहुः विषयाः तद्विषं मतम् ॥'
(सुबोधिनीका० १०।१५।१।४-५) ।

२. 'पञ्चपर्वामविद्यां हि लोकानामपि नाशयेत् ।'
(सुबोधिनी १०।९।१ आभासे का० ६) ।

गमनं कृतं तथेह साधकेन गुरुद्वारा भक्तिमार्गप्रतिबन्धकानि श्रुत्वा तन्निवृत्तये हरिशरणागमनं कार्यम्। तदुक्तं निबन्धे,

'आद्ये तु भगवन्मार्गे बाधकानि बहूनि हि।
द्वितीये तदभावो हि हरिणैव भवेदिति ॥'

(भागवतार्थप्र० का० १०।५२-५३)।

तत्र यथा पूर्वं सञ्चितस्वासक्तिविषयीभूतभगवदनुपयुक्तगृहरूपशकटस्य भक्तिरूपचरणेन उत्क्षेपणमेवं साधकस्यापि भगवदनुपयुक्तवस्तुसम्बन्धो निवर्तते। तृणावर्तो भगवत्साक्षात्कारप्रतिबन्धरूपो रजोगुणात्मा हतः। एवमस्यापि भजनप्रतिबन्धरूपो रजोगुणो नश्यति। ततो यथा श्रीयशोदाया

साधकों को गुरु से भक्तिमार्ग के प्रतिबन्धकों का ज्ञान प्राप्त कर उन भक्ति-प्रतिबन्धक विघ्नों की निवृत्ति के लिये भगवान् हरि की शरण में जाना चाहिए। इसीलिये श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के भागवतार्थप्रकरण में कहा है कि 'तामस प्रकरण के प्रथम अध्याय (भाग० १०।५) में यह बताया गया है कि भगवन्मार्ग में अनेक बाधायें आती हैं और द्वितीय अध्याय (भाग १०।६) में यह बताया गया है कि उन विघ्न-बाधाओं की निवृत्ति भगवान् कृष्ण (की कृपा) से ही हो सकती है' (भागवतार्थप्र० का० १०।५२-५३)।

जिस प्रकार तामस प्रकरण के तृतीय अध्याय (भाग० १०।७) में अपनी चिरसञ्चित आसक्ति के विषयभूत और भगवान् के लिए अनुपयुक्तगृहरूप शकट के भक्तिरूप (भगवान् के) चरणों से उलट दिये जाने का निरूपण हुआ है उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गीय साधक का भी (भक्ति से) भगवान् के लिए अनुपयुक्त पदार्थोंसे सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। लीलासृष्टि में भगवान् ने भगवत्साक्षात्कार में प्रतिबन्धकरूप अर्थात् विघ्नभूत रजोगुणी तृणावर्त को मार डाला था (भाग० १०।७) उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गीय साधकों के भजन का प्रतिबन्धकरूप

विश्वरूपदर्शनेन महिमज्ञापनम्, तथेहापि साधकस्य सेव्य-स्वरूपे स्वप्नादिद्वारा कश्चिदनुभावो ज्ञाप्यते ।

ततो गर्गेण एकान्ते भगवन्नामान्युक्तानि । तत्र रूपगुण-लीलावैशिष्ट्यं निरूपितम् ।

'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥' (भाग० १०।८।१५)

इत्यनेन *'सन्ति'* इति प्रयोगेण तेषां नामरूपगुणकर्मणां नित्यत्वं बोधितम् । तथा च सिद्धमेतत्, साधकेन भगवदीय-मुखाद् गुणलीलाविशिष्टानां नाम्नां दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं स्वरूपं

रजोगुण भी (भगवान् की कृपा से) नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार वहाँ भगवान् ने यशोदा को विश्वरूप दर्शन करा कर अपनी महिमा ज्ञापित की थी उसी प्रकार वे आधुनिक पुष्टिमार्गीय साधक को भी स्वप्नादि द्वारा उसके सेव्यस्वरूप के माहात्म्य का बोध कराते है ।

तदनन्तर तामस प्रकरण के चतुर्थ अध्याय (भाग० १०।८) में गर्ग के द्वारा एकान्त में भगवान् के नाम बताने (नामकरण) का वर्णन हुआ है । वहाँ भगवान् के रूप, गुण और उनकी लीलाओं के वैशिष्ट्य का निरूपण किया गया है तथा 'तुम्हारे पुत्र के (अन्य भी) बहुत से नाम हैं एवं रूप भी अनेक हैं । इनके (औदार्यादि) गुणों तथा (कालियदमनादि अलौकिक) कर्मों के अनुरूप ही इनके अनेक नाम हैं (जो अलौकिक हैं) । उन नामों को मैं तो जानता हूँ पर साधारण लोग नहीं जानते[1]' (भाग० १०।८।१५) इस श्लोक में 'सन्ति' इस पद के प्रयोग द्वारा यह सूचित किया गया है कि भगवान् के वे नाम, रूप, गुण और कर्म नित्य हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि आधुनिक पुष्टिमार्गीय साधक को, दुर्जनों की सङ्गति छोड़ कर, किसी भगवदीय के मुख से गुणों और लीलाओं से विशिष्ट भगवन्नामों के

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी १०।८।१५ ।

श्रुत्वा तत्तल्लीलासंयुतस्वरूपगुणस्मरणपूर्वकं तन्नाम ग्राह्यम्, यथा 'गोवर्धनोद्धरणधीर' इति नामग्रहणे गोवर्धनोद्धरणात्मकलीलाविशिष्टं वामकरकमलधृतगोवर्धनं श्रीकृष्णस्वरूपं हृद्यानेयमिति। एतच्च नामकरणप्रसङ्गसुबोधिन्यां विवृतं श्रीमदाचार्यचरणैः।

ततो जानुरिङ्गणलीलायाम्, 'द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेः'[1] (भाग० २।१।२७) इति वाक्याज्जानुनोः सुतलाधिदैविकत्वात्,

---

स्वरूप को सुन कर (अर्थात् जान कर या समझ कर), उन-उन (अर्थात् किन्हीं विशेष) लीलाओं से सम्बद्ध स्वरूप और गुणों का स्मरण करते हुए, उन (के स्मारक) नामों का जप, भजन या कीर्तन करना चाहिए, उदाहरणार्थ 'गोवर्द्धनोद्धरणधीर' यह नाम लेने के समय साधक को हृदय में, गोवर्द्धन धारण करने की लीला से विशिष्ट, कमलकोमल बायें हाथ पर गोवर्द्धन धारण किये हुए श्रीकृष्ण की भावना करनी चाहिए। इस बात को श्रीवल्लभाचार्य ने नामकरण प्रसङ्ग की सुबोधिनी (सुबोधिनी १०।८।१५) व्याख्या में विशद रूप से प्रतिपादित किया है।

तदनन्तर घुटनों के बल चलने की लीला में, जैसा कि 'विश्वमूर्ति भगवान् के दोनों घुटने सुतल हैं' (भाग० २।१।२७) इत्यादि वाक्यों

---

१. "सुतलं द्वे जानुनी। जानुनीपदेनैव जानुद्वये प्राप्ते पुनः 'द्वि'-पदं तस्य लोकस्य द्विरूपताज्ञापनार्थम्, अत एवाग्रे 'सुतलं शुद्धम्' इति वक्ष्यति। साधारणस्थानं स्वस्थितिस्थानञ्च। यत्र बलिस्तिष्ठति तच्छुद्धम्। अत एव तस्य प्रदर्शितं विश्वरूपमनुस्मारयति, 'विश्वमूर्तेः' इति।" (सुबोधिनी २।१।२७)।

'विश्वं मूर्तौ यस्य तस्य भगवतो द्वे जानुनी सुतलं गृणन्ति वदन्ति।' (बालप्रबोधिनी २।१।२७)।

तत्र च दैत्यानां निवासाज्जानुभ्यां गमनेन गुप्ततयैवालौकिक-प्रकारेण दैत्यमर्दनमाचरितम्। तथेहापि सेव्यमानो भगवान् अनेकधा स्थितान् अज्ञातानपि बहूनासुरभावान् दूरीकरोति।

चौर्यादिप्रसङ्गे व्रजसुन्दरीभिर्भगवतो दोषेषु निवेदितेषु महिमज्ञानाभावेऽपि केवलस्नेहान्मातृचरणैः न दोषा गृहीताः[1], 'न ह्युपालब्धुमैच्छत्' (भाग० १०।८।३१) इति वाक्यात्। एवमेव भगवदीयो ज्ञानरहितोऽपि भजनस्वभावान्न भगवति दोषं गृह्णाति।

से ज्ञात होता है, घुटनों के सुतलाधिदैविक होने और दैत्यों के वहीं (सुतल में) निवास करने के कारण, भगवान् ने घुटनों के बल चल कर गुप्त रूप से ही अलौकिक प्रकार से दैत्यों का संहार किया। इसी प्रकार आधुनिक साधकों के द्वारा सेवित होने पर भगवान् विविध रूपों में स्थित उनके अनेक ऐसे आसुर भावों को भी दूर कर देते हैं जिनका उन साधकों को स्वयं ज्ञान नहीं होता है।

कृष्ण द्वारा (माखन इत्यादि की) चोरी करने आदि के प्रसङ्ग में व्रजाङ्गनाओं द्वारा यशोदा के पास जाकर उनकी शिकायत करने पर, जैसाकि 'यशोदा ने कृष्ण को उलाहना देने की इच्छा भी नहीं की अर्थात् वे उन्हें डाँटने-फटकारने की बात भी नहीं सोच सकीं' (भाग० १०।८।३१) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, माता यशोदा ने कृष्ण की महिमा का ज्ञान न होने पर भी केवल स्नेहवश ही उनके दोषों की उपेक्षा कर दी। इसी प्रकार भगवदीय जन ज्ञानविरहित होते हुए भी, भक्ति के कारण भगवान् (अथवा उनके चरित्रों) में दोष-दर्शन नहीं करते, भक्तिस्वभाव होने के कारण उन्हें भगवान् में दोष दिखाई ही नहीं देते।

---

१. 'इयं तु लौकिकन्यायेन प्राप्तमनोरथा लौकिकभावदार्ढ्यादेव दोषान् न गृहीतवती न तु माहात्म्यज्ञानात्।' (सुबोधिनी १०।८।३१)।

ततो मृद्भक्षणप्रसङ्गे, '*नाहं भक्षितवानम्ब*' (भाग० १०।८।३५) इत्यादिना सर्वसाधारणरीत्या प्रतीतोऽशनरूपो धर्मो मयि नास्ति, '*क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्यः*' इति श्रुतेर्भक्षणकारणीभूतक्षुधो मनुष्यासाधारणधर्मत्वेन मय्यभावादित्युक्तं हरिणा। तथा च क्षुधितः सन्नाश्नाति, भक्तिपूर्वकं भक्तेन दत्तमश्नात्येव,

'*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।*
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥' (गीता ९।२६)

इति वाक्यात्[1]। अशनं चात्र भोगः, न तु भक्षणमात्रम्, पुष्पादीनां सङ्ग्रहात्। तथा च सर्वमेव वासोभूषणस्रगादि

तदनन्तर मृत्तिकाभक्षण के प्रसङ्ग (भाग० १०।८) में कृष्ण ने 'माँ! मैंने (मिट्टी) नहीं खायी है' (भाग० १०।८।३५) इत्यादि वाक्यों से यह सूचित किया है कि अशनादिरूप धर्म उनमें नहीं हैं, यद्यपि साधारण लोगों को ये धर्म उनमें प्रतीत होते हैं। 'क्षुधा का मनुष्य का भतीजा कहा गया है' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से क्षुधा—जो भक्षण या खाने की हेतुभूत है—के मनुष्य का असाधारण धर्म होने का ज्ञान होता है। अतः कृष्ण में उसका अभाव होना स्वाभाविक ही है, इसीलिये उनका 'मैंने नहीं खायी है' इत्यादि उपर्युक्त कथन उपपन्न है। इस प्रकार यह सोचना ठीक नहीं है कि भगवान् भूख लगने पर (भूख मिटाने के लिये) खाते हैं, यद्यपि जैसाकि गीता के 'मैं भक्तिपूर्वक समर्पित किये गये, संयमी पुरुष के पत्र, पुष्प, फल और जल प्रत्येक (अर्थात् किसी भी) पदार्थ को स्वीकार कर उसका उपभोग करता हूँ' (गीता ९।२६) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, यह सत्य है कि भगवान् भक्तों के द्वारा भक्तिपूर्वक समर्पित पदार्थों को ग्रहण कर उनका उपभोग करते हैं[1]। गीता के इस श्लोक में 'पुष्प' आदि के भी 'अशन' की बात कही गयी है अतः स्पष्ट है कि यहाँ 'अशन' का

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी १०।८।३५।

भक्त्या दत्तं स्वीकरोति। अत इमं प्रकारं बुद्ध्वा नैवेद्यादि भक्त्यैव समर्पणीयमिति लभ्यते स्म। एतत्तु मृद्भक्षणप्रसङ्ग-टिप्पण्यां स्फुटम्।

श्रीमातृचरणानां साधारणरीत्याशनधर्मे प्रतीते मुखं व्यादाय विश्वरूपं प्रदर्श्य सर्वसाधारणनिखिलधर्माभावो बोधितः। अग्रे तु *'अन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः'*[१] (भाग० १०।८।४२) इति वाक्यात्, स्नेहस्य सर्वथा तिरोधाने, *'वैष्णवीं व्यतनो-*

अर्थ केवल 'भक्षण' करना नहीं प्रत्युत 'भोग' करना है। इस प्रकार (उपर्युक्त गीतावाक्य का आशय यही है कि) भगवान् भक्त द्वारा भक्तिपूर्वक समर्पित किये गये वस्त्र, आभूषण, माला आदि सभी पदार्थों को स्वीकार करते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त रहस्य को समझ कर भगवान् को नैवेद्य आदि सदैव भक्तिपूर्वक ही समर्पित करना चाहिए। यह बात मृत्तिकाभक्षणप्रसङ्ग की सुबोधिनी की टिप्पणी में स्पष्ट की गयी है।

जब माता यशोदा को कृष्ण के, साधारण रीति से, अन्य लौकिक जनों की ही भाँति, अशनादिधर्मयुक्त होने की प्रतीति हुई तो भगवान् ने अपना मुँह फैलाकर उन्हें विश्वरूप का दर्शन करा कर, अपने में सभी साधारण धर्मों—जो जनसाधारण में पाये जाते हैं—के अभाव होने का बोध कराया। तदनन्तर जैसा कि, ""यह मैं (यशोदा) हूँ और ये मेरे पति हैं तथा यह मेरा पुत्र है, साथ ही मैं व्रजराज की समस्त सम्पत्ति की स्वामिनी धर्मपत्नी हूँ; ये गोपियाँ, गोप और गोधन मेरे (अधीन) हैं', जिनकी मायासे मुझे इस प्रकार की कुमति घेरे हुए है, वे भगवान् ही मेरे एकमात्र आश्रय हैं, मैं उन्हीं की शरण में हूँ[१]" (भाग० १०।८।४२) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, तत्त्वज्ञान हो जाने पर यशोदा का कृष्ण में पुत्रभाव जाता रहा और उनके कृष्ण-

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी १०।८।४२।

न्मायाम्' (भाग० १०।८।४३) इति वाक्याल्लीलास्थजीवनियामिकया वैष्णव्या मायया मोहयित्वा स्नेहं वर्धितवान्[१] । एवमस्यापि सेव्यस्वरूपे लौकिकभावस्फूर्तौ तन्निराकृतये भागवताद्यर्थविशेषस्फुरणेन महिमानं बोधयति । तत्राप्यत्यन्तमहिमस्फूर्तौ स्नेहोपचारशैथिल्ये स्नेहिभक्तसङ्गादिना स्नेहो-

विषयक पुत्रस्नेह का सर्वथा तिरोधान हो गया, तब जैसा कि, 'भगवान् ने वैष्णवी माया का विस्तार (अर्थात् यशोदा के हृदय में सञ्चार) किया' (भाग० १०।८।४३) इस वाक्य से ज्ञात होता है, भगवान् ने यशोदा को लीलास्थित जीवोंका नियमन करने वाली अपनी वैष्णवी माया से मोहित कर उनके कृष्णविषयक पुत्रस्नेह का संवर्द्धन किया[१] । इस प्रकार साधक को सेव्य के स्वरूप में लौकिक भावों की प्रतीति होने लगती है तो उसके निराकरण के लिये भगवान् भागवत आदि के विशेष अर्थ के स्फुरण द्वारा उसे अपनी महिमा का बोध कराते हैं और जब इससे साधक के हृदय में भगवान् की इतनी अधिक महिमा स्फुरित होने लगती है कि वह स्नेहपूर्वक उनकी पूजा-अर्चा करने में शिथिल हो जाता है तो भगवान् कृपा कर उसे भगवत्प्रेमी भक्तों की सङ्गति आदि प्रदान कर स्नेहपूर्वक भगवदुपासना करने में उसकी श्रद्धा

१. "एवं ज्ञाने जाते भक्तिसुखं न प्राप्स्यति इति भक्त्यानन्दस्य ब्रह्मानन्दापेक्षया महत्त्वाद् भक्तार्थं दैव्या मायया मोहितवान्....वैष्णवीम् आधिदैविकीं स्नेहसम्बन्धिनीं निरोधोपयोगिनीं विशेषेण अतनोद्,...... यावदात्मीयतया परमस्नेहे रस उत्पद्यते न तावदीश्वरभावेन, भयज्ञानस्य स्नेहप्रतिबन्धकत्वाद् । अत्र च लौकिकत्वेऽपि प्रजारूपेण स्नेह उचितो नान्यथा इत्यनंन्तविधासु मायासु प्रजास्नेहमयीम् एव व्यतनोत् । ननु विरोधिज्ञानस्य जातत्वात् कथं प्रजाबुद्धिः भगवति भविष्यति इत्याशङ्क्याह विभुः इति, स हि सर्वसमर्थः एकस्मिन्नेव वस्तुनि कोटिधाबुद्ध्युत्पादनसमर्थः अन्यथा पूर्वविरुद्धधर्मा उत्तरत्र न भवेयुः ।" (सुबोधिनी १०।८।४३)।

पचारश्रद्धां द्रढयति भगवान् ।

ततः, *'द्रोणो वसूनां प्रवरः'* (भाग० १०।८।४८) इत्यादि प्रश्नोत्तराभ्यां श्रीनन्दयशोदयोर्भक्तौ महापुरुषकृपैव कारणमिति[1] सिद्धान्तितम् । एवमिहापि श्रीमदाचार्यचरणश्रीविट्ठलेश्वरकृपातो भक्तिर्भवतीति ज्ञेयम् ।

ततो मातृचरणानां दधिमन्थनावसरे भगवद्गुणगानम्, *'दधिनिर्मथने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥'* (भाग० १०।९।२) इतिवाक्यात् । एवं साधकेनापि गुणगानादि कुर्वतैव व्यापृतिः

को दृढ़ करते हैं ।

तदनन्तर परीक्षित् के प्रश्न (भाग० १०।८।४६-४७) और उसके श्रीशुक के 'वसुप्रवर द्रोण' (भाग० १०।८।४८) इत्यादि वाक्यों (भाग० १०।८।४८–५२) द्वारा दिये गये उत्तर से यह प्रतिपादित किया गया है कि नन्द और यशोदा को भगवान् की भक्ति की उपलब्धि महापुरुष की कृपा के कारण ही हुई थी । इसी प्रकार श्रीवल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ की कृपा से भगवान् में भक्ति होती है ऐसा समझना चाहिए ।

तदनन्तर माता यशोदा द्वारा दधिमन्थन करते समय भगवान् के गुणों का गान करने का निरूपण 'माता यशोदा दधिमन्थन के समय भगवान् की लीलाओं का स्मरण करती हुई उन्हें गाती जाती थीं और दही मथती जाती थीं' (भाग० १०।९।२) इत्यादि वाक्यों में हुआ है । इसी प्रकार आधुनिक साधकों को भी भगवान् का गुणगान करते हुए

---

१. "एतस्या एतावत्त्वं कथं न तु अन्यासाम् इति शङ्कां परिहरन् महापुरुषकृपामाह सप्तभिः । 'नन्दः किमरोद्' (भाग० १०।८।४६) इति प्रश्नः ।" (सुबोधिनी १०।८।४६) । "अत्र महापुरुषकृपैव कारणम् इति वक्तुम् उपाख्यानमारभते 'द्रोणः' (भाग० १०।८।४८) इति पञ्चभिः ।" (सुबोधिनी १०।८।४८) ।

कार्या[1]।

ततो दधिमण्डभाजनभेदः[2], शिक्यस्थनवनीतस्य मर्कटेभ्यो दानम्। तदुभाभ्यामिदं सिद्ध्यति, 'भगवदावेशाभावदशायां भगवदितरभोगोपयोगबुद्ध्या सम्पादितान् पदार्थान्नाङ्गीकरोति

ही सांसारिक कार्यों में व्यापृत होना चाहिए अर्थात् लौकिक कार्यों में लगे होने के समय भी भगवान् का गुणगान करते रहना चाहिए।

तदनन्तर भगवान् द्वारा दधिमण्ड (अर्थात् तक्र, छाछ या मट्ठा[3]) का मटका फोड़ दिये जाने तथा शिक्य (अर्थात् छीके) पर रखे नवनीत के वन्दरों को बाँट दिये जाने का निरूपण है। इन दोनों घटनाओं से यह सूचित होता है कि भगवान् उन पदार्थों को स्वीकार नहीं करते

---

१. "एवं संसारव्यापृतिरपि भगवदीयानां भगवद्गुणगानार्थमेव जाता इत्याह—'यानि यानि' इति।...... दध्नो नितरां मथनं यस्मिन् काले भगवतो गुणगानस्य स एव कालः, यस्मिन् काले क्रियाशक्तेः आधिदैविकस्यापोन्द्रियं मथितं भवति, तदाह, दध्नो नितरां मथनं यस्मिन् काल इति। ननु कथं तस्यैव कालस्य गाने हेतुत्वमिति चेत्, तत्राह, 'स्मरन्त्यो' इति। तानि गीतानि स्मरन्ती तस्मिन्नेव काले गीतानां स्मरणं भवतीति।" (सुबोधिनी १०।९।२)। 'एवं प्रपञ्चासक्ता निर्मन्थ।' (सुबोधिनी १०।९।३)।

२. 'स जातकोपः स्फुरितारुणाधरं,
सन्दश्य दद्भिः दधिमण्डभाजनम्।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो,
जघास हैयङ्गवमन्तरङ्गतः॥' (भाग० १०।९।६)।

३. 'दधिमण्डभाजनं भित्त्वा इति।....दधिमण्डः तक्रम्, तदाधारभूतं भाण्डम्, नवनीतं तु भिन्नं जातमस्ति।' (सुबोधिनी १०।९।६)।

गीताप्रेससंस्करण का पाठ 'दधिमन्थभाजनम्' है।

भगवान् ।' एवं सति समर्पणीयस्य वस्तुनः सम्पादनदशामारभ्य भगवदुपयोगसमयावधि चित्तस्य कृष्णैकपरतैव रक्षणीयेति बोद्धव्यं साधकेन ।

ततः श्रीयशोदा दाम्ना वद्धुं प्रवृत्ता, तथा न बद्धः; यदा खेदं दृष्टवान् भगवाँस्तदा कृपया भक्तवश्यतां सूचयन् वद्धोऽभूत् । तथा साधकोऽप्यनेकसंभृतसपर्यया न पुरुषोत्तमं वशी-

---

जिन्हें लोग भगवदावेश के अभाव की दशा में ('भगवान् इन पदार्थों का भोगरूपी उपयोग या भोग और उपयोग करेंगे' इस बुद्धि या भावना से सम्पादित न कर के) 'भगवान् से भिन्न अर्थात् अन्य लोग इनका भोगरूपी उपयोग या भोग और उपयोग करेंगे' इस बुद्धि से (अर्थात् इस भावना या उद्देश्य से) सम्पादित करते हैं । अतः साधक को यह यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि भगवन् को समर्पित की जाने वाली वस्तु के सम्पादन के समय से लेकर भगवदुपयोग (अर्थात् भगवान् द्वारा या भगवान् के लिये उस वस्तु के उपयोग किये जाने) के समय तक चित्त की कृष्णैकपरता की रक्षा करनी चाहिए अर्थात् चित्त को श्रीकृष्ण में ही लगाये रखना चाहिए ।

उसके बाद भगवान् कृष्ण की उलूखल-बन्धन लीला का निरूपण (भाग० १०।९।१२–२१) है । माता यशोदा कृष्ण को बाँधने चलीं पर कृष्ण नहीं बँधे[1], किन्तु जब उन्होंने यशोदा को खिन्न होते देखा तो कृपा करके अपनी भक्तवश्यता, सूचित करते हुए स्वेच्छया बँध गये[2] । इसी प्रकार साधक भी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को—अनेक प्रकार के पदार्थों

---

१. भाग० १०।९।१२–१७ ।

२. 'स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत्स्वबन्धने ॥
एवं प्रदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥' (भाग० १०।९।१८-१९)।

कर्तुं शक्नोत्यपि तु भक्त्यैव।

ततो यमलार्जुनप्रसङ्गे भगवदीयनारदसमागमेन श्रीमद्रूपमहादोषजन्यस्त्रीसङ्गादिनिवृत्तौ व्रजे वृक्षदेहं प्राप्य स्थितौ नलकूबरमणिग्रीवौ हरिर्मोचितवान्। तत्रापि '*तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना*' (भाग० १०।१०।२५) इति भक्तानुगृहीतौ मोचयिष्यामि इत्युक्तवान् प्रभुः। अतो भक्तानां सङ्गमः सकलपुमर्थसाधक इति सिद्धम्। ततः '*गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्*' (भाग० १०।११।७) इत्यत्र भक्तिवश्यत्वं स्फुटमेव।

को सम्पादित कर उन्हें भगवान् को समर्पित कर पूजा-अर्चा से नहीं, अपितु—भक्ति से ही अपने वश में कर सकता है[1]।

तदनन्तर यमलार्जुन के मोक्ष की कथा का निरूपण (भाग० १०।९।२२–१०।११।६) है। भगवान् कृष्ण ने, अपने भक्त नारद के समागम से (उनके द्वारा अनुग्रह करके दिये गये शाप के परिणाम-स्वरूप) श्रीमदरूप महादोष से उत्पन्न होने वाले स्त्रीसङ्ग आदि दोषों की निवृत्ति के लिये व्रज में अर्जुन नामक वृक्षों का शरीर प्राप्त कर अवस्थित, कुवेर के नलकूबर और मणिग्रीव नामक पुत्रों को मुक्ति प्रदान की। वहाँ भी भगवान् ने, 'उन महात्मा नारद ने (नलकूबर और मणिग्रीव को शाप देते समय) जो कुछ कहा था उसे मैं उसी प्रकार कार्यान्वित करूँगा' (भाग० १०।१०।२५) इत्यादि वाक्यों से यही बात कही थी कि मैं अपने भक्त नारद द्वारा अनुगृहीत इन दोनों यक्षों को मुक्त करूँगा। इससे सिद्ध होता है कि भक्तों की सङ्गति और सन्निधि सारे पुरुषार्थों की प्राप्ति या सिद्धि का साधन है। उसके बाद

---

१. 'न ह्यत्र बन्धनं निरूप्यते, किन्तु वश्यता।' (सुबोधिनी १०।९।२१)। देखिये, ऊपर पृष्ठ ८९, टिप्पणी १,२।

ततो वृन्दावनक्रीडा । तत्र 'चारयामासतुर्वत्सान्नानाक्रीडापरिच्छदौ' (भाग० १०।११।३८) इति वाक्याद् 'भ्रमरचक्रसूक्ष्मदण्डकाष्ठखण्डकृत्रिमरथवादित्राकर्षणादीनि क्रीडापरिच्छदानि' (सुबो० १०।११।३८) गृहीत्वा क्रीडति हरिः । एवं सति सेवायामपि तानि स्थापनीयानि । 'एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने ।' (भाग० १०।१८।१६) इति पञ्चदशाध्याये वक्ष्यमाणत्वाच्च,

---

के, 'गोपियों द्वारा फुसलाये जाने पर भगवान् नृत्य करने लगते" (भाग० १०।११।७) इत्यादि वाक्य में तो स्पष्ट ही है कि भगवान् भक्ति के द्वारा ही वश में किये जा सकते हैं ।

तदनन्तर वृन्दावनक्रीडा का निरूपण है । 'खेलने की विविध सामग्री साथ लिये हुए वे दोनों (बलराम और कृष्ण) व्रज के पास ही, ग्वालबालों के साथ अपने बछड़ों को चराते थे' (भाग० १०।११।३८) इस वाक्य से भगवान् के 'भ्रमर' (भँवरा या लट्टू), चक्र (खेलने की लकड़ी या मिट्टी की पहिया आदि), छोटी सी छड़ी, लकड़ी का टुकड़ा, कृत्रिम (अर्थात् लकड़ी या मिट्टी का बना हुआ छोटा सा खेलने का) रथ और वादित्राकर्षण आदि नाना प्रकार की खेल की सामग्री' (सुबोधिनी १०।११।३८) लेकर क्रीडा करने का ज्ञान होता है अतः भगवान् की सेवा करते समय भी इन्हें भगवान् को समर्पित करना चाहिए तथा भगवान् के स्वरूप के समीप रखना चाहिए । आगे चलकर पन्द्रहवें अध्याय (गीताप्रेससंस्करण के अनुसार अठारहवें अध्याय) में, 'इस प्रकार बलराम और कृष्ण वृन्दावन की नदी, पर्वत, घाटी, कुञ्जों आदि में वे सभी खेल खेला करते थे जिन्हें लोक में

---

१. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १७५ टिप्पणी १ ।

२. श्रीवल्लभाचार्य और उनके अनुयायी भागवत के दशमस्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय के बाद के तीन अध्यायों (गीताप्रेससंस्करण के भाग० १०।१२–१४) को प्रक्षिप्त मानते हैं ।

'यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥' (भाग० ११।११।४१)
इति भगवद्वाक्याच्च । विवृतं चैतत्सेवाकौमुद्याम् ।

ततो वत्सासुरवधः[1] । स हि वत्सचारणसामग्रीरूपाणां वत्सानां दोषरूपः[1] । तस्य निवारणेन वत्साः निर्दोषाः कृताः । एवमिहापि सेवोपयोगिसामग्री प्रभुणा शोध्यते । तत्र यथा वयस्यानां भक्तानां दोषरूपो लोभानृतसहितदम्भात्मको[2]

साधारण बच्चे खेला करते हैं' (भाग० १०।१८।१६) इत्यादि वाक्यों के विवक्षित होने, तथा स्वयं भगवान् के, 'जिन वस्तुओं को लोक में अभीष्ट माना जाता है और जो अपने को अत्यधिक प्रिय हों उन्हें मुझे समर्पित करे । ऐसा करने से भक्त मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता का सम्पादन कर लेता है' (भाग० ११।११।४१) इत्यादि वाक्यों से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है । इस विषय का विशद विवेचन हमने अपनी सेवाकौमुदी नामक स्वतन्त्र कृति में किया है ।

तदनन्तर वत्सासुर के वध का निरूपण (भाग० १०।११।४१-४५) है । वत्सासुर भगवान् की वत्सचारणलीला की सामग्रीभूत बछड़ों के दोष का प्रतीक या मूर्तरूप है और उसे मार कर भगवान् ने बछड़ों के दोषों का निवारण कर उन्हें निर्दोष बना दिया । इसी प्रकार प्रभु पुष्टिमार्गीय भक्तों की भगवत्सेवा के लिये सम्पादित की गयी सामग्री का भी शोधन करते हैं । उसके बाद बकासुर के वध का निरूपण (भाग० १०।११।४६–५४) है । बकासुर भगवान् के साथ वन में बछड़ों को

---

१. 'पाल्यानां वत्सानां दोषरूपं वत्सासुरं मारितवान् इत्युपाख्यानमारभते ।....प्राकृता एव हि सदोषांश्चारयन्ति निरोधार्थं प्रवृत्तस्तु निर्दोषानेव पालयति इति ज्ञापनार्थं तेषां वत्सानां मिलितानां योऽयमासुरो भावः स एकीभूतो वत्सासुर इति तद्वधो निरूप्यते ।' (सुबोधिनी १०।११।४१)।

२. 'एवं वत्सानां दोषं परिहृत्य पालानामपि दोषं परिहर्तुं दम्भात्मकं

वको नाशितस्तथेहापि लोभानृतसहितो दम्भादिदोषः सेवया नश्यति। तत्र यथा '*इति नन्दादयो गोपाः*' (भाग० १०।११।५८) इति वाक्याद् गुणगानं प्रेम च सूचितम्, तथात्र भगवदीयादि-रूपगुणगानम्।

एवं प्रमाणप्रकरणसमाप्तौ यथा तेषां प्रेमपूर्णत्वं सिद्धं तथात्र साधकस्य एतावत्साधनसम्पत्तौ प्रेमपूर्णत्वमुत्पद्यते।

-राने वाले सखाओं (वयस्यों) के दोषों का प्रतीक या मूर्त रूप है। वह दम्भात्मक कहा गया है और उसकी चोंच के ऊपर और नीचे के दो भाग लोभ और अनृत के प्रतीक बताये गये हैं। भगवान् का वकासुर की चोंच फाड़कर उसका वध कर देना लोभ और अनृत के साथ दम्भ का नाश कर देने का प्रतीक है और भगवान् की सेवा से आधुनिक पुष्टिमार्गियों के भी लोभ और अनृतसहित दम्भ आदि दोषों की निवृत्ति हो जाती है। उसके बाद, 'इस प्रकार नन्द आदि गोप'[1] (भाग० १०।११।५८) इत्यादि वाक्यों से नन्द आदि गोपों द्वारा भगवान् के गुणों का गान करने और उनके भगवत्प्रेम आदि का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गियों को भगवान् और उनके भक्तों के गुणों का गान करना चाहिए।

इस तरह जैसे भागवत में तामस प्रकरण के अवान्तर प्रमाण प्रकरण (भाग० १०।५–११) की समाप्ति के समय तक व्रजभक्तों के भगवत्प्रेम से पूर्ण हो जाने की सिद्धि की गयी है उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गीय

वकं मारितवान् इत्युपाख्यानमारभते।' (सुबोधिनी १०।११।४६)।

'वकरूपमेव च बिभर्ति.....। अत एव तरसा शीघ्रम् आगत्य कृष्णं सदानन्दं लोभानृतरूपौ तुण्डौ यस्य तादृशो बली क्रियाशक्तिप्रधानो ग्रासं कृतवान्। आनन्दो हि लोभेन सच्चानृतेन ग्रस्यत एव।' (सुबोधिनी १०।११।४८)।

१. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १६१ टिप्पणी १।

तत्र यथा देहाध्यासरूपो धेनुको[1] नाशितस्तथात्र सेवाकर्तुर्देहस्य स्वकीयत्वाध्यासो गच्छति। यथा कालीयशिरांसि विषयसंसृष्टेन्द्रियरूपाणि[2] चरणारविन्देन भक्तिरूपेण विमर्द्य शोधितानि, '*अनुग्रहोऽयं भवता कृतोऽहिनः*[3]' (भाग० १०।१६।३४) इति वाक्यात्, तथेहापि विषयोन्मुखानीन्द्रियाणि भजनेन संशोध्य भगवत्पराणि क्रियन्ते।

साधक के ऊपर निरूपित साधनों का सम्पादन कर लेने पर उसका हृदय भगत्प्रेम से पूर्ण हो जाता है।

जिस प्रकार भगवान् ने देहाध्यासरूप धेनुकासुर का नाश किया था (भाग० १०।१५।२०–३९) उसी प्रकार भगवान् की सेवा करने वाले भक्त का शरीर को अपना समझने का भ्रम नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार, जैसा कि नागपत्नियों के, 'आपने इस सर्पराज पर यह अनुग्रह किया है,' (भाग० १०।१६।३४) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, विषय से संसृष्ट इन्द्रिय के प्रतीक या तद्रूप कालियनाग के शिर या फण भक्तिरूप भगवच्चरणारविन्दों द्वारा मर्दित कर शुद्ध किये गये, उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गीय साधकों को अपनी विषयोन्मुख इन्द्रियों को भगवद्भक्ति द्वारा शुद्ध और परिष्कृत कर के भगवत्परक बनाना चाहिए।

---

१. 'प्रथमं द्वादशेऽध्याये देहाध्यासो हि धेनुकः।' (सुबोधिनीका० १०।१५।१।४)।

२. 'कालीय इन्द्रियाण्याहुर्विषयाः तद्विषं मतम्।' (सुबोधिनीका० १०।१५।१।५)।

३. 'दण्ड एवायं न भवति किन्तु अनुग्रह एव इत्याहुः, 'अनुग्रहः' इति। भवता अयम् अनुग्रह एव कृतः, अहिनः अहेः, अप्रयोजकत्वान्नपुंसकत्वम्, ततो नुम्, अतो वा अनुग्रहः। अहीनो वा अनुग्रहः।' (सुबोधिनी १०।१६।३४)।

यथा इन्द्रियदोषाभिमानिनो दावाग्नेः[१] सकाशात् सर्वेषां रक्षा,[२] तथेहापीन्द्रियदोषनियामकादासुरभावाद् भक्तस्य रक्षा। यथा अन्तःकरणदोषात्मप्रलम्बो[३] हत एवमिहापि सेवां कुर्वतोऽन्तःकरणदोषा निवर्तन्ते[४]। यथा अज्ञानात्मा आत्मदोषो द्वितीयो दावाग्निः[५] तन्निवृत्तिः कृता, तद्वदत्रापि स्वरूपा-

---

जिस प्रकार भगवान् ने इन्द्रिय दोषों के अभिमानी दैत्य अर्थात् इन्द्रियदोषरूप दावाग्नि को पीकर सभी गोकुलवासियों की रक्षा की थी[२] उसी प्रकार वे आधुनिक पुष्टिमार्गीय भक्तों की भी, उनके इन्द्रियदोषों के नियामक आसुरभाव से रक्षा करेंगे। जिस प्रकार अन्तःकरण के दोषों का प्रतीक या तद्रूप प्रलम्बासुर (भगवान् बलराम द्वारा) मार डाला गया, उसी प्रकार भगवत्सेवापरायण पुष्टिमार्गीय भक्तों के अन्तःकरण के सभी दोष निवृत्त अर्थात् समाप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार भगवान् ने अज्ञानात्मक और आत्मदोषरूप दूसरी दावाग्नि की निवृत्ति की (अर्थात् दूसरी दावाग्नि को पीकर गायों और गोपों की रक्षा की), उसी प्रकार

---

१. "तदा कालीयाविष्टो दैत्यो दोषाभिमानी सर्वभक्षणार्थं स्थितो मृत्युश्चैकीभूय वह्निर्भूत्वा गोकुलवासिनां दाहार्थमुद्गत इत्याह, 'तदा' इति।" (सुबोधिनी १०।१७।२१)।

२. द्रष्टव्य, भाग० १०।१७।२१–२५ की सुबोधिनी।

३. 'अन्तःकरणदोषाभिमानिनीं दैत्यभूतां निवारयितुम् उपाख्यानम् आरभते।....प्रलम्बोऽगाद् अन्तःकरणमेव रूपसमर्पकमिति गोपरूपी। स प्रकर्षेण लम्बो मुक्तिपर्यन्तमनुवर्तमानः।' (सुबोधिनी १०।१८।१७)।

४. 'अन्तःकरणदोषश्च महानत्र निवर्त्यते।' (सुबोधिनीका० १०।१८।१।२)।

५. 'अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्निस्तन्निवारणम्।
षोडशे प्रोच्यते सम्यङ्निरोधः सेत्स्यते यतः॥'
(सुबोधिनीका० १०।१९।१।१)।

ज्ञाननिवृत्तिर्भवति। यथा भक्तानां भावविशेषेण गानम् अष्टादशाध्याये निरूपितम्, तथा इहापि सेवाया अनवसरे भगवतः कीर्त्तनादिरूपं गानम्।

तत इन्द्रयागभङ्गं कृत्वा स्वयागः[1] कारितः। तत्र शक्रकृतोपद्रवे गोवर्धनोद्धरणेन व्रजो रक्षितः[2]। तथा सति साधकैः अन्याश्रयो न कर्तव्यः। एवं सति केवलभगवदाश्रये यदि

वे अपने आधुनिक पुष्टिमार्गीय भक्तों के स्वरूपाज्ञान की भी निवृत्ति करते हैं। जिस प्रकार अठारहवें अध्याय (भाग १०।२१) में व्रजभक्तों (गोपियों) द्वारा भावविह्वल होकर वृन्दावनविहारी कृष्ण की क्रीडाओं का गान करने का निरूपण है उसी प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गीय भक्तों को भी, सेवा का अवसर न मिलने पर भगवान् की लीलाओं का कीर्तनादिरूप गान करना चाहिए।

तदनन्तर भगवान् ने नन्दादि गोपों द्वारा किये जाने वाले इन्द्रयाग को रोक कर अपना यज्ञ करवाया (भाग० १०।२४), और इन्द्र द्वारा उपद्रव किये जाने पर गोवर्द्धन धारण कर प्रलयङ्करी वर्षा से व्रज की रक्षा की (भाग० १०।२५)। इससे यह सूचित होता है कि आधुनिक पुष्टिमार्गियों को भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य का आश्रय नहीं ग्रहण करना चाहिए और 'यदि केवल श्रीकृष्ण का ही आश्रय

---

१. देखिये, 'भगवानपि सर्व्वनिरपेक्षोऽपि स्वार्थं तत्र यज्ञं कारितवान्' (सुबोधिनी १०।२४।१) तथा भाग० १०।२४।२५, ३५ इत्यादि।

२. 'हैतुके फलभोक्तायमिन्द्रो विघ्नं चकार ह।
वृष्टिरूपं ततः कृष्णः शैलधारी बभूव ह ॥....
द्वाविंश ईर्यते कृष्ण इन्द्रेण विनिपीडितम्।
व्रजं गोवर्द्धनं धृत्वा सम्यक् पालितवानिति ॥
(सुबो० का० १०।२५।१।२,४,५)।

कश्चिदुपद्रवो भवेत्, तदा भगवान् पालयिष्यतीति विश्वासो रक्षणीयः। एवं भगवदुक्तवर्णाश्रमधर्माचरणेन परोपकारादि-धर्माचरणेन च वैष्णवान्नभक्षणेन अन्याश्रयत्यागेन भगवान् सेव्यः।

ततः कुमारिकाव्रतप्रसङ्गे[1] यज्ञपत्नीव्रतप्रसङ्गे यथाध्या-त्मिकः पक्षः सिद्धः तदुक्तं निबन्धे,

> 'कृष्णवाक्यं सदा कार्यं, मायामोहं निवार्य हि।
> वृक्षवत्तु स्थितिः कार्या शुद्धान्नेन च वर्तयेत् ॥'
> (भागवतार्थप्र० का० १०।९२)।

ग्रहण करने पर कोई उपद्रव या अनिष्ट होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा तो भगवान् उससे रक्षा करेंगे', इस प्रकार का विश्वास रखना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक पुष्टिमार्गियों को भगवान् द्वारा बताये गये वर्णाश्रम-धर्म का आचरण करते हुए, परोपकारादि धर्मों का पालन करते हुए, वैष्णवों के ही अन्न का भोजन कर जीवनयापन करते हुए, अन्य सभी का आश्रय छोड़ कर, केवल श्रीकृष्ण का ही आश्रय लेकर उन भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए।

गोपकुमारियों के व्रत[1] के प्रसङ्ग (भाग० १०।२२) और यज्ञ कर रहे ब्राह्मणों की पत्नियों के प्रसङ्ग (भाग० १०।२३) के निरूपण से जो आध्यात्मिक पक्ष सिद्ध होता है अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ ज्ञात होता है, उसे श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध की, 'श्रीकृष्ण के आदेश का सदैव पालन करना चाहिए, माया-मोह का निवारण कर, वृक्ष की भाँति (केवल परोपकारनिरत होकर) अवस्थित होना चाहिए और शुद्ध अन्न ग्रहण करके जीवनयापन करना चाहिए' (भागवतार्थप्र०

---

१. 'हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दगोपकुमारिकाः।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥' (भाग० १०।२२।१)।

अयमर्थः । व्रतप्रसङ्गे अग्निकुमारैर्लज्जां परित्यज्य सर्वं कृतम् । तेन भगवत्प्रसादोऽभूत् । अतो भगवद्वाक्यं सर्वथा कर्त्तव्यम् । तदत्र श्रुतिस्मृत्यादिरूपं कर्त्तव्यमिति फलितम् । *'मायामोहं निवार्य वृक्षवत्तु स्थितिः कार्या'* इति । मायया जातो यो मोहो ममेदमित्यज्ञानात्मकस्तं दूरीकृत्य *वृक्षवत्* केवलपरोपकारतया स्थेयम्, *'अहो एषां वरं जन्म'* (भाग० १०।२२।३३) इत्यारभ्य, *'तोक्मैः कामान् वितन्वते'* (भाग० १०।२२।३४)

का० १०।९२) इस कारिका में बताया है, जिसका आशय अधोलिखित है। व्रत के प्रसङ्ग में गोपकुमारियों (अग्निकुमारों[1]) ने लज्जा छोड़ कर सब कुछ (अर्थात् भगवान् के प्रत्येक आदेश का पालन) किया जिसके फलस्वरूप भगवान् ने उन पर प्रसन्न होकर अनुग्रह किया। इससे यह ज्ञात होता है कि भगवान् के आदेश का सर्वथा पालन करना चाहिए। भगवान् का आदेश आधुनिक लोगों को श्रुति, स्मृति आदि के वाक्यों के रूप में उपलब्ध है। **'माया-मोह का निवारण कर वृक्ष के समान रहना चाहिए'** इस वाक्यांश का अर्थ स्पष्ट करते हैं। माया से उत्पन्न हुए मोह—जिसका स्वरूप 'यह मेरा है' इत्यादिरूप अज्ञान ही है—को दूर कर वृक्ष की भाँति केवल परोपकारपरायण होकर रहना चाहिए। इस बात का ज्ञान भगवान् द्वारा, **'अहा ! इन्हीं का जीवन सबसे अच्छा है'** (भाग० १०।२२।३३), इत्यादि श्लोक से प्रारम्भ कर, **'तोक्मों[2] (अर्थात् अङ्कुरों और कोपलों) से लोगों की कामनाओं को पूरा करते हैं'** (भाग० १०।२२।३४) इत्यादि श्लोक

---

१. 'एकोनविंशे भोग्यानां कुमारीणां व्रतं यथा ।
अन्तःस्थानां कुमाराणां तथा ज्ञानमिहोच्यते ॥'
(सुबो० का० १०।२२।१५-६) ।

२. 'तोक्माः सूक्ष्मवृक्षाः शाखारूपाः ।' (सुबोधिनी १०।२२।३४) ।

इत्यनेन परोपकृतेः प्रभुणोपदिष्टत्वात्। 'शुद्धान्नेन च वर्तयेद्' इति। 'एषा वै बाधते क्षुन्नः' (भाग० १०।२३।१) इति गोपविज्ञापितः, 'मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः' (भाग० १०।२३।१४) इत्युक्त्वा यज्ञपत्नीसन्निधौ प्रेषयित्वा ताभिरानीतेन अन्नेन गोपानां तृप्तिः सम्पादिता। ता हि भगवदीयाः, 'भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः' (भाग० १०।२३।२०) इति वाक्यात्। अत इदमत्र लब्धम्, वैष्णवानामेवान्नं ग्राह्यम्। तत उक्तम्, 'शुद्धान्नेन च वर्तयेद्' इति।

तक के वाक्यों में परोपकार का उपदेश[1] दिये जाने से होता है। 'शुद्ध अन्न ग्रहण करते हुए ही जीवन-यापन करना चाहिए' इत्यादि वाक्यांश का अर्थ स्पष्ट करते हैं। गोपों के, 'हमें भूख सता रही है' (भाग० १०।२३।१) इत्यादि कहने पर, भगवान् कृष्ण ने 'तुम लोग यज्ञ कर रहे ब्राह्मणों की पत्नियों के पास जाओ और उनसे कहो कि बलराम के साथ कृष्ण यहाँ आये हैं' (भाग० १०।२३।१४) इत्यादि कह कर, उन्हें यज्ञ कर रहे ब्राह्मणों की पत्नियों के पास भेज कर, उन महिलाओं द्वारा लाये गये अन्न से गोपोंकी क्षुधा शान्त करने का प्रबन्ध किया। जैसा कि, 'दीर्घकाल से पवित्रकीर्ति, उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों और लीलाओं आदि का वर्णन सुनती रहने वाली और इसीलिये भगवान् के चरणों में अपना हृदय निछावर कर देने वाली वे महिलायें' (भाग० १०।२३।२०) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, याज्ञिकों की पत्नियाँ भगवदीय थीं। अतः इस प्रसङ्ग से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि भक्तों को केवल वैष्णवों का ही अन्न ग्रहण करना चाहिए। इसीलिये श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि 'शुद्ध अन्न ग्रहण करते हुए जीवनयापन करना चाहिए।'

---

१. द्रष्टव्य, भाग० १०।२२।३२–३५।

ततः,

'एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥'

(भाग० १०।२१।२०) इति वाक्याद्, यथा तासामासक्तिरेवं साधकस्याप्येतावत्साधनसम्पत्तावासक्तिः सिद्ध्यति। प्रतिबन्धकपापनाशे भगवत्प्रसादे च क्रियमाणायाः श्रवणादिरूपायाः पोषो बीजभावदार्ढ्यंव्यसनभावरूपो भगवति भवति। ततो वृद्धौ क्रमेण गुणानां नाशः। लीलासृष्टिस्थानां यथा,

'दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्[1]॥' (भाग० १०।२८।१४–१५) इति वाक्याद् व्यापिवैकुण्ठात्मकाक्षरब्रह्मानु-

---

'वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्ण की इस प्रकार की सारी लीलाओं का आपस में वर्णन करती हुई गोपियाँ (प्रेमाधिक्य के कारण) तन्मय हो जाती थीं' (भाग० १०।२१।२०) इत्यादि वाक्यों से जिस प्रकार गोपियों की भगवान् में आसक्ति हो जाने की सिद्धि होती है उसी प्रकार उपर्युक्त साधनों को सम्पादित कर लेने पर आधुनिक साधक की भी भगवान् में आसक्ति हो जाती है। प्रतिबन्धक पापों के नष्ट हो जाने और भगवान् की कृपा होने पर, साधक द्वारा किये जाने वाले श्रवणादि का पोषण होता है जिसका स्वरूप बीजभाव की दृढतारूप व्यसन अर्थात् भगवान् में व्यसनभाव की प्राप्ति होता है। तदनन्तर उस भाव के और अधिक वृद्धिंगत होने पर क्रमशः तामसत्व, राजसत्व और सात्त्विकत्व का नाश हो जाता है। जिस प्रकार 'भगवान् ने गोपों को तम से पार या अतीत अपने व्यापि-वैकुण्ठ नामक लोक या परमधाम के दर्शन कराये, जो अक्षर, सच्चिदानन्दस्वरूप वैकुण्ठ कहा जाने वाला ब्रह्म ही है तथा ज्योतिःस्वरूप एवं सनातन है[1]' (भाग० १०।२८।

---

१. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ ५५–५६।

भवस्तथा पूर्वोक्तरीत्या सेवया व्यसनसिद्धौ गुणनाशे ब्रह्मभावः,

'स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।'

येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते[१] ॥ (भाग० ३।२९।१४) इति वाक्यात् ।

ततः फलप्रकरणे यथा सर्वात्मभाववतीनां तासां भजनानन्दानुभवस्तथेह साधकस्यापि सर्वात्मभावोत्पत्तौ सदैव पुरुषोत्तमाविर्भावात् सेवायां भजनानन्दानुभवः फलति ।

१४–१५) इत्यादि वाक्यों से लीलासृष्टिस्थ जीवों के व्यापिवैकुण्ठात्मक अक्षर ब्रह्म का अनुभव करने का बोध होता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त रीति से सेवा करने पर, व्यसनभाव की सिद्धि हो जाने पर, गुणों का नाश हो जाने पर आधुनिक साधक को भी ब्रह्मभाव की प्राप्ति होगी, यह भगवान् के 'वह भक्तियोग ही आत्यन्तिक कहा गया है, जिसके द्वारा त्रिगुण को पार कर साधक भगवद्भाव के योग्य हो जाता है[१]', (भाग० ३।२९।१४) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है ।

तदनन्तर, जिस प्रकार तामस फल प्रकरण (भाग० १०।२९–३५) में सर्वात्मभाव रखने वाली गोपियों को भजनानन्द का अनुभव होने का निरूपण मिलता है उसी प्रकार आधुनिक साधकों को भी सर्वात्मभाव की उपलब्धि हो जाने पर, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सदैव आविर्भूत

---

१. 'भक्तियोग इति तस्यैव नाम। स एव आत्यन्तिक इति उदाहृतः। तस्य स्वातन्त्र्याय भगवत इव फलसाधकत्वमाह, 'येन' इति। येन भक्तियोगेन त्रिगुणम् अतिव्रज्य मद्भावाय भगवत्त्वाय उपपद्यते योग्यो भवति इत्यर्थः।' (सुबोधिनी ३।२९।१४)।

'अतः स उक्तलक्षण एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिकः मोक्षसाधनानां चरमकाष्ठापन्नः उदाहृतः कथितः। येन भक्तियोगेन पुरुषः, त्रिगुणं गुणत्रयकार्यसुखदुःखमोहमयं संसारम् अतिव्रज्य अतिक्रम्य, मद्भावाय भगवत्त्वाय, उपपद्यते योग्यो भवतीत्यर्थः।' (बालप्रबोधिनी ३।२९।१४)।

ततः, '*भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते*'[1] (ब्रह्मसूत्र ४।१।१९) इति सूत्रभाष्योक्तरीत्या स्थूललिङ्गशरीरयोर्नाशे भगवल्लीलोपयोगिदेहं प्राप्य नित्यलीलायां प्रविशति। स एव मुक्तिपदार्थः, '*मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः*' (भाग० २।१०।६) इति लक्षणात्। तत्र च, '*सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता*' (तैत्ति० उप० २।१।१) इति श्रुत्युक्तरीत्या पुरुषोत्तमेन

रहने अर्थात् हृदय में निरन्तर स्फुरित होते रहने के फलस्वरूप, सेवा में भजनानन्द का अनुभव होता है।

तदनन्तर, 'साधक स्थूल शरीर और लिङ्गशरीर का परित्याग कर, भगवल्लीलोपयोगी देह को प्राप्त कर, श्रुत्युक्त भोग से सम्पन्न हो जाता है' (ब्रह्मसूत्र ४।१।१९) इस सूत्र के अणुभाष्य में प्रतिपादित रीति से स्थूलशरीर तथा लिङ्गशरीर का नाश हो जाने पर, भगवल्लीलोपयोगी शरीर को प्राप्त कर, साधक भगवान् की नित्यलीला में प्रवेश करता है। जैसाकि मुक्ति के 'अन्य रूपों का परित्याग कर स्वरूप से अवस्थित होना मुक्ति है'[2] (भाग० २।१०।६) इत्यादि वाक्यों में दिये गये लक्षणों से ज्ञात होता है, यह नित्यलीलाप्रवेश ही 'मुक्ति' पद का अर्थ है। साधक वहाँ, नित्यलीलाप्रवेशरूप मुक्ति की स्थिति में, 'वह ज्ञानानन्दरूप ब्रह्म के साथ ही सारे कामों का भोग करता है' (तैत्ति० उप० २।१।१)

---

१. "पुष्टिमार्गीयफलप्राप्तौ प्रतिबन्धाभावं सोपपत्तिकमुक्त्वा तत्प्राप्तिप्रकारमाह, इतरे अग्रे प्राप्यालौकिकदेहाद्भिन्ने स्थूललिङ्गशरीरे, क्षपयित्वा दूरीकृत्य, अथ भगवल्लीलोपयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरं, भोगेन सम्पद्यते, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तैत्ति० उप० २।१.) इति श्रुत्युक्तेन भोगेन सम्पद्यते इत्यर्थः। श्रुत्यर्थस्त्वानन्दमयाधिकरणे निरूपितः। अलौकिकत्वं विना, उक्तदेहं विना च उक्तफलप्राप्तेर्व्यवच्छेदकः तुशब्दः ॥" (अणुभाष्यम् ४।१।१९)।

२. देखिये, ऊपर पृष्ठ १७४ टिप्पणी १।

सह पुरुषोत्तमात्मकानां पुरुषोत्तमात्मकभोगाशनमाश्रयप्राप्तिरिति निष्कर्षः,

'निरोधलीलामुक्त्वाथ मुक्तिस्तदनुवर्ण्यते ।
मुक्तानामाश्रयः कृष्णो नान्येषामिति शास्त्रतः ॥' इति सुबोधिन्याः ।

इति श्रीगोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे
पुष्टिमार्गीयफलविवेकः समाप्तिमफाणीत् ॥ ७ ॥

इत्यादि श्रुतिवाक्य में प्रतिपादित रीति से पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के साथ पुरुषोत्तमात्मक पदार्थों का पुरुषोत्तमात्मक भोग करता है और उसे आश्रय[1] की प्राप्ति हो जाती है । इस निष्कर्ष की पुष्टि सुबोधिनी के अधोलिखित वाक्य से होती है । 'निरोधलीला का निरूपण करने के बाद मुक्ति का वर्णन किया गया है क्योंकि शास्त्र यह मानते हैं कि कृष्ण मुक्तों के आश्रय हैं अन्य लोगों के नहीं ।'

श्रीगोवर्द्धनधर, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ के चरणों के अनुगामी (अथवा अनुचरों के) सेवक लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध बालकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित प्रमेयरत्नार्णव का पुष्टिमार्गीयफलविवेक नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

प्रमेयरत्नार्णव के पूर्वार्द्ध का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥

---

१. 'मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रयः इति ।' (सुबोधिनी २।१०।१)

॥ श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ॥

श्रीबालकृष्णभट्टविरचितः

प्रमेयरत्नार्णवः

उत्तरार्द्धः

ख्यातिविवेकः

(प्रथमोऽध्यायः)

श्रीमद्गोवर्धनाधीशं गोपिकाप्राणवल्लभम् ।
रासक्रीडारतं वन्दे भजनानन्दलब्धये ॥ १ ॥

प्रमेयरत्नार्णव के उत्तरार्द्ध का हिन्दी अनुवाद

ख्याति-विवेक

(प्रथम अध्याय)

प्रमेयरत्नार्णव उत्तरार्द्धेऽध्यायेऽद्वितीये निपुणं निबद्धे ।
सुबोधिनीप्राह्रदिशा बुधेन श्रीबालकृष्णेन विविच्य सम्यक् ॥ १ ॥
ख्यातेः मतस्याग्निनिरूपितस्य व्याख्या कृता ख्यातिविवेकरूपा ।
तस्यानुवादं लिखतीह मिश्रः केदारनाथः प्रतिभासहायः ॥ २ ॥

मैं भजनानन्द की प्राप्ति के लिये, रासलीला में रत, गोपियों के प्राणप्रिय गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्ण की वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

सह पुरुषोत्तमात्मकानां पुरुषोत्तमात्मकभोगाशनमाश्रयप्राप्तिरिति निष्कर्षः,

"निरोधलीलामुक्त्वाथ मुक्तिस्तदनुवर्ण्यते ।
मुक्तानामाश्रयः कृष्णो नान्येषामिति शास्त्रतः ॥" **इति सुबोधिन्याः ।**

इति श्रीगोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे पुष्टिमार्गीयफलविवेकः समाप्तिमफाणीत् ॥ ७ ॥

इत्यादि श्रुतिवाक्य में प्रतिपादित रीति से पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के साथ पुरुषोत्तमात्मक पदार्थों का पुरुषोत्तमात्मक भोग करता है और उसे आश्रय[1] की प्राप्ति हो जाती है । इस निष्कर्ष की पुष्टि सुबोधिनी के अधोलिखित वाक्य से होती है । 'निरोधलीला का निरूपण करने के बाद मुक्ति का वर्णन किया गया है क्योंकि शास्त्र यह मानते हैं कि कृष्ण मुक्तों के आश्रय हैं अन्य लोगों के नहीं ।'

श्रीगोवर्द्धनधर, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ के चरणों के अनुगामी (अथवा अनुचरों के) सेवक लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध बालकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित प्रमेयरत्नार्णव का पुष्टिमार्गीयफलविवेक नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

प्रमेयरत्नार्णव के पूर्वार्द्ध का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ॥

---

१. 'मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रयः इति ।' (सुबोधिनी २।१०।१)।

॥ श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ॥

श्रीबालकृष्णभट्टविरचितः

प्रमेयरत्नार्णवः

उत्तरार्द्धः

ख्यातिविवेकः

(प्रथमोऽध्यायः)

श्रीमद्गोवर्धनाधीशं गोपिकाप्राणवल्लभम् ।
रासक्रीडारतं वन्दे भजनानन्दलब्धये ॥ १ ॥

प्रमेयरत्नार्णव के उत्तरार्द्ध का हिन्दी अनुवाद

ख्याति-विवेक

(प्रथम अध्याय)

प्रमेयरत्नार्णव उत्तरार्द्धेऽध्यायेऽद्वितीये निपुणं निबद्धे ।
सुबोधिनीप्राप्तदिशा बुधेन श्रीबालकृष्णेन विविच्य सम्यक् ॥ १ ॥
ख्यातेः मतस्याग्निनिरूपितस्य व्याख्या कृता ख्यातिविवेकरूपा ।
तस्यानुवादं लिखतीह मिश्रः केदारनाथः प्रतिभासहायः ॥ २ ॥

मैं भजनानन्द की प्राप्ति के लिये, रासलीला में रत, गोपियों के प्राणप्रिय गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्ण की वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

घोषसीमन्तिनीनेत्रचकोरचयचन्द्रिरम् ।
वन्दे श्रीबालकृष्णाख्यं प्रभुमानन्दमन्दिरम् ॥ २ ॥
वन्दे श्रीवल्लभाचार्यान् पुष्टिमार्गप्रवर्तकान् ।
श्रीविट्ठलेशचरणान् आश्रये कृष्णतुष्टये ॥ ३ ॥
ये संक्षेपेण पूर्वार्द्धे पदार्था विनिरूपिताः ।
तद्व्यासं कर्तुमारब्धम् उत्तरार्द्धं मयाधुना ॥ ४ ॥

तत्र पूर्वार्द्धे पूर्वं प्रपञ्चविवेक उक्तः, तद्दार्ढ्याय ख्यातिस्वरूपनिरूपणम् आवश्यकम्, ख्यातिबोधं विना प्रपञ्चस्वरूपस्याकलयितुमशक्यत्वात्, अतः तृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रदर्शितपद्धत्या पूर्वं ख्यातिः विचार्यते ।

मैं गोपाङ्गनाओं के नेत्रों रूपी चकोरसमूह के चन्द्रमा, श्रीबालकृष्ण नामक आनन्दनिधान प्रभु की वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

मैं पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्य की वन्दना करता हूँ, तथा भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने के लिये गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ के चरणों की शरण में जाता हूँ ॥ ३ ॥

मैंने अपनी कृति प्रमेयरत्नार्णव के पूर्वार्द्ध में जिन पदार्थों और विवेच्य विषयों का संक्षेप में निरूपण किया था उनका विस्तार (से विवेचन) करने के लिये अब मैं उस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध की रचना (प्रारम्भ) करता हूँ ॥ ४ ॥

अपनी कृति प्रमेयरत्नार्णव के पूर्वार्द्ध के प्रारम्भ में हमने प्रपञ्चविवेक नामक प्रथम अध्याय में प्रपञ्च के स्वरूप का निरूपण किया है, उस विवेक को दृढ़ करने के लिये ख्याति के स्वरूप का निरूपण आवश्यक है क्योंकि ख्याति के ज्ञान के विना प्रपञ्च के स्वरूप को समझ सकना सम्भव नहीं है, अतः इस उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में हम सर्वप्रथम भागवतपुराण के तृतीयस्कन्ध की श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी टीका में प्रदर्शित पद्धति से (अर्थात् सुबोधिनी में उपलब्ध विवेचन के आधार पर)

तत्र मनःसंयुक्तचक्षुरिन्द्रियेण शुक्तेः संयोगे तज्जन्यं सामान्यज्ञानमुत्पद्यते। इदं सामान्यज्ञानम् इन्द्रियार्थसंयोगजन्यं संशयादीनां सर्वेषां ज्ञानानां पूर्वं सम्भवति, तत उद्भूतसत्त्वगुणस्य बुद्ध्या साहित्ये प्रमात्मकं ज्ञानं निश्चयशब्दवाच्यम् उद्भवति। अत एव निबन्धे सर्वनिर्णये उक्तम् 'सत्त्वसहिता बुद्धिः प्रमाणम्'' (सर्वनिर्णयप्र० प्र० १४७) इति।

ख्याति का विचार करेंगे।

मन से संयुक्त चक्षुरिन्द्रिय से शुक्ति का संयोग होने पर उससे सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सामान्य ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से जन्य (अर्थात् उत्पन्न होने वाला) होता है और संशय आदि सभी विशेष ज्ञानों के पूर्व उत्पन्न होता है। तदनन्तर सत्त्वगुण का उद्रेक होने पर और उसका बुद्धि से साहचर्य होने पर 'निश्चय' शब्द से अभिहित किया जाने वाला प्रमात्मक (विशेष-) ज्ञान उत्पन्न होता है। इसीलिये तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के सर्वनिर्णयप्रकरण में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि 'सत्त्वसहित बुद्धि प्रमाण (अर्थात् प्रमा नामक ज्ञानविशेष का साधन या उत्पादक) है'' (सर्वनिर्णयप्र० प्र० १४७)।

---

१. "सत्त्वसहिता बुद्धिः प्रमाणम्। (प्रमाणत्वे हेतुः,) सत्त्वप्रवृद्धौ अन्तःकरणं प्रमितिं जनयति, 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्' (गीता १४।१७) इति। अन्यथा सत्त्वलये सैव सामग्री भ्रमं जनयति। अतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सत्त्वमेव प्रमाणम्, तत्कार्यमेव प्रामाणिकम्; रजः तु व्यावहारिकम् (व्यवहारोपयोगि, 'पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्'— गीता १८।२० इति गीतावाक्यादित्यर्थः)। तमस्तु अप्रमाणमेव। अतोऽन्यमिश्रणे तारतम्येन वस्तुयाथात्म्यस्फुरणम्, अतो लोके चक्षुषः कदाचित् प्रामाण्यं कदाचिन्न इति व्यवस्थाभावात् (गुणान्तरस्याप्रमाणत्वाद् गुणान्तरमिश्रणे सत्त्वस्योत्तरोत्तरमपकर्षे सति न वस्तुयाथात्म्यस्फुरणम्, ज्ञानिवन्नैकरूपा प्रमा किन्तु रजःसत्त्वानुगृहीतैः इन्द्रियैः व्यावहारिकी प्रमा,

'संशयोऽर्थ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च ।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक्[1] ॥' (भाग० ३।२६।३०)

भगवान् कपिल के, 'वृत्तियों के भेद से संशय, विपर्यास (विपर्यय), निश्चय (प्रामाणिक ज्ञान), स्मृति और स्वाप (स्वप्न) भी बुद्धि के ही लक्षण कहे गये हैं' (भाग० ३।२६।३०) इत्यादि वाक्यों द्वारा

रजस्तमोभ्यां सत्त्वोपमर्दे संशयः, तत्रापि तमसो बाहुल्ये भ्रम इत्येवं जाग्रद्वृत्तौ जायन्त इति व्यवस्थाभावात्), लोकेन (लोकानुसरणेन) प्रमाणगणना नैयायिकादिभिरिव नास्माभिः कृता ।" (आवरणभङ्गसहितः सर्वनिर्णयप्र० प्र० १४७) ।

गीता १४।११,१७;१८।३१,३२, भाग० १०।२।३५ 'इत्यादिवाक्यैः सत्त्वगुणस्य प्रमाजनकत्वं, रजोगुणस्य प्रकारांशेऽपि प्रमाजनकत्वं, तमसस्तु भ्रममात्रजनकत्वमिति ।' (सर्वनिर्णयप्र० प्र० १४७ पर कल्याणराय-कृतटिप्पणी) ।

१. 'द्रव्यस्फुरणतारतम्याद् बुद्धिर्नानाविधा ।····विपर्यासो भिन्नार्थ-प्रतिपादकः ।···निश्चयो यथार्थानुभवः । अर्थो हि ज्ञानस्यार्द्धमङ्गम्, अत एव स्मृतिर्न निश्चयात्मिका, अर्थाभावात् ।····स्मृतिः स्वतन्त्रा बुद्धिः संस्कारजनिका, स्वापः स्वप्नरूपः, भिन्नसृष्टिविषयत्वान्न पूर्वोक्तेष्वन्तर्भावः । सुषुप्तिस्तु न बुद्धिः ।····एवं पञ्चधा बुद्धेः वृत्तितो लक्षणं पृथक् ज्ञेयमित्यर्थः ।' (सुबोधिनी ३।२६।३०) ।

"द्रव्यस्फुरणमेव प्रपञ्चयति 'संशय' इति । संशयः एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धानेकप्रकारकं ज्ञानं यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । विपर्यासशब्देन मिथ्याज्ञानं, तद् द्विविधम्, धर्मान्तरस्य धर्मान्तरे प्रतीतिः यथा पीतशङ्ख इति, धर्म्यन्तरस्य धर्म्यन्तरत्वेन प्रतीतिश्च यथा शुक्तिशकले 'इदं रजतम्' इति । निश्चयः तद्वति तत्प्रकारकं प्रमारूपं ज्ञानम् । स्मृतिरनुभूतवस्तुविषयकं ज्ञानम् । स्वापो निद्रा । एवं पृथक् असाङ्कर्येण स्थिताभिः वृत्तिभिः बुद्धेः लक्षणम् उच्यते ।' (बालप्रबोधिनी ३।२६।३०) ।

इति कपिलवाक्येन संशयादिज्ञानानां बुद्धिवृत्तित्वेन गणनाद् भागवतमते बुद्धेरेव विशिष्टज्ञानजनकत्वम्, 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्[1] इन्द्रियाणामनुग्रहः[2]' (भाग० ३।२६।२९) इति बुद्धिलक्षणात्।

अतो मनःसंयुक्तचक्षुषा सामान्यज्ञाने जनिते पश्चात् सत्त्वादिगुणसहितया बुद्धया तारतम्येनानेकप्रकारकं जायमानं ज्ञानं संशयाद्युच्यते। अत एव सुबोधिन्यामुक्तम्, 'द्रव्यस्य

संशयादि की गणना बुद्धिवृत्ति के रूप में की गयी है अर्थात् संशयादि ज्ञानों को बुद्धिवृत्ति कहा गया है, अतः स्पष्ट है कि भागवत मत में विशिष्ट ज्ञान का उत्पादक या जनक बुद्धि को माना गया है। बुद्धि के, 'घटादि द्रव्यों के स्फुरित होने पर होने वाला विशेष ज्ञान बुद्धि का स्वरूपलक्षण है[1] और इन्द्रियों को अनुगृहीत करना कार्यानुसारी लक्षण है[2]' (भाग० ३।२६।२९) इस भागवतोक्त लक्षण से भी इसी मत की पुष्टि होती है।

अतः मन से संयुक्त चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सामान्यज्ञान उत्पन्न होने के बाद सत्त्वादिगुणों से युक्त बुद्धि से तारतम्यपूर्वक उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के ज्ञान संशय आदि कहे जाते हैं। इसीलिये श्रीमद्वल्लभा-

---

१. 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्' इति स्वरूपलक्षणम्। द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे सति शब्देन, संस्कारेण, आलोकेन वा यद्विशिष्टज्ञानम्, यस्मात्केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात्, स्वतः स्फुरणं योगजधर्मादिभिरपि भवति, अतो द्रव्यस्फुरण एव विज्ञानं बुद्धेः लक्षणम्। (सुबोधिनी ३।२६।२९)।

२. "यथेन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः। बुद्धयैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति ('इदं तु ज्ञानसामान्यार्थकम्'—प्रकाशः), कुर्वन्ति च। अत एव ('बुद्धयधीनत्वादेव'—प्रकाशः) बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययोस्तारतम्यम्। एतत् कार्यानुसारि लक्षणम्।" (सुबोधिनी ३।२६।२९)।

घटादेः स्फुरणे प्रति शब्देन संस्कारेणालोकेन वा यद्विशिष्टज्ञानं, यस्मात्केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्याद्' (सुबोधिनी ३।२६।२९) इति। अत एव लक्ष्मीतन्त्रे त्रयोदशाध्याय उक्तम्,

'चक्षुषालोच्य वस्तूनि विकल्प्य मनसा तथा।
अहम्मत्याप्यहङ्काराद्बुद्धयैव ह्यध्यवस्यति[1] ॥'

(लक्ष्मीतन्त्रम् १३।३४) इति।

अन्ये तु प्रत्यक्षज्ञानमात्रं प्रति मनइन्द्रियविषयाणां कारणता, न तत्र बुद्धेर्निवेश इत्याहुः। अस्मन्मते तु भागवततृतीयस्कन्धीयवाक्यात् संशयादीनि ज्ञानानि बुद्धिरुत्पादयति; अतः प्रत्यक्षज्ञाने मनइन्द्रियविषयाणां सामान्यज्ञानोत्पादकत्वम्,

---

चार्य ने सुबोधिनी में कहा है कि 'द्रव्य अर्थात् घटादि के स्फुरित होने पर शब्द, संस्कार या आलोक से जो विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है वह बुद्धि का लक्षण है। केवल चक्षुरादि से होने वाले ज्ञान में तारतम्य उपपन्न न होगा।' (सुबोधिनी ३।२६।२९) इत्यादि। इसीलिये लक्ष्मीतन्त्र के तेरहवें अध्याय में कहा गया है कि 'पदार्थों का चक्षुरिन्द्रिय से आलोचन कर, मन से सङ्कल्प कर और अहङ्कार से अस्मिता की भावना करके व्यक्ति उनका अध्यवसाय बुद्धि से ही करता है।' (लक्ष्मीतन्त्र १३।३४)।

कुछ अन्य लोगों का मत है कि प्रत्यक्षज्ञानमात्र की उत्पत्ति में मन, इन्द्रिय और विषय ही कारण होते हैं और इसमें बुद्धि का कोई योगदान नहीं होता, किन्तु हमारे मत से भागवत के तृतीयस्कन्ध के वाक्यों से ज्ञात होता है कि संशय आदि (विशेष-) ज्ञानों को बुद्धि उत्पन्न करती है, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान में मन, इन्द्रिय और विषय सामान्य-

---

१. लक्ष्मीतन्त्र का उपलब्ध पाठ अधोलिखित है,
"चक्षुषालोक्य वस्तूनि विकल्प्य मनसा तथा।
अभिमत्याप्यहङ्काराद् बुद्धयैव ह्यध्यवस्यति॥" (लक्ष्मीतन्त्र १३।३४)।

बुद्धिस्तु विशेषाकारेण संशयादिशब्दवाच्यानि ज्ञानानि जनयति इति तेभ्योऽयमितरोऽस्माकं पन्थाः।

तत्र चक्षुःशुक्तिसंयोगे सामान्यज्ञानोत्तरं माया भगवतः शक्तिः तमोगुणोद्भवेन बुद्धि व्यामोहयति तदा 'इयं शुक्तिः' इति बोधो न जन्यते, '*प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च*' (गीता १४।१७) इति भगवद्वाक्यात् तमसा ह्यज्ञानस्य उत्पादितत्वात्। तथा च पदार्थयाथात्म्यस्फुरणाभावान्मायामोहिता बुद्धी रजतसंस्कारप्राबल्याच्चाकचक्यादिधर्मसादृश्यमादाय रजतं तत्र निर्माति, तदिदं बौद्धमेव रजतं बुद्ध्या विषयीक्रियते, न तु सामान्यज्ञाने चक्षुर्विषयीभूतम् इति विवेकः, तदानीं रजतस्या-

---

ज्ञान के उत्पादक हैं और संशय आदि शब्दों से अभिहित किये जाने वाले विशेष ज्ञानों अर्थात् ज्ञान के विशिष्ट आकारों या रूपों की उत्पत्ति बुद्धि से होती है। इस प्रकार हमारा मत उन लोगों के मत से पृथक् है।

चक्षुरिन्द्रिय का शुक्तिका के साथ संयोग होने पर सामान्य ज्ञान होने के बाद भगवान् की शक्ति माया तमोगुण के उद्रेक से बुद्धि को मोह में डाल देती है और तब 'यह शुक्ति है' इस प्रकार का ज्ञान नहीं उत्पन्न होता क्योंकि जैसाकि भगवान् के 'तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति होती है' (गीता १४।१७) इत्यादि वाक्य में बताया गया है, तमोगुण से अज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। 'पदार्थ (अर्थात् शुक्तिपदार्थ) के यथार्थस्वरूप का स्फुरण न होने से माया के द्वारा मोहित बुद्धि, रजत के संस्कारों के प्रबल होने से, (शुक्तिका और रजत दोनों में पाये जाने वाले) चमक इत्यादि धर्मों की समानता को लेकर, वहाँ रजत को उत्पन्न कर देती है अर्थात् रजत की कल्पना कर लेती है। यह रजत बौद्ध अर्थात् बुद्धिकल्पित तथा बुद्धिस्थ या आन्तर ही होता है और बुद्धि के द्वारा ही ग्रहीत होता है। सामान्यज्ञान में इस रजत का अभाव होता है क्योंकि यह तो सामान्य ज्ञान की उत्पत्ति

भावात्सामान्यज्ञानानन्तरं बुद्ध्या रजतोत्पादनात्। विशेषज्ञाने तु रजतस्य कल्पितत्वेन आन्तरत्वाद्बुद्ध्यैव ग्रहणं, न त्विन्द्रियैः। अतः सामान्यज्ञाने तु शुक्तिरेव विषयीभूता, तस्या एव सामान्यज्ञानम्; विशेषज्ञानं तु बुद्धिकृतम् इति तत्र बौद्धमेव रजतं विषयीभवतीति निष्कर्षः। तदुक्तम्, '*अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे*'[1] (भाग० १०।८७।३७) इति।

के बाद बुद्धि के द्वारा उत्पन्न या कल्पित किया जाता है अतः सामान्यज्ञान में यह रजत चक्षुरिन्द्रिय का विषय नहीं होता अर्थात् सामान्य ज्ञान होने के समय इस रजत का (अभाव होने के कारण इसका) चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं होता, और विशेष ज्ञान की उत्पत्ति के समय इस रजत का बुद्धिपरिकल्पित होने के कारण आन्तर या बुद्धिस्थ होने से बुद्धि के द्वारा ही ग्रहण होता है न कि इन्द्रियों द्वारा। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि सामान्य ज्ञान में तो शुक्ति ही (चक्षुरिन्द्रिय का) विषय होती है और उसी का सामान्य ज्ञान होता है किन्तु विशेष ज्ञान तो बुद्धिकृत होता है अतः उसमें बौद्ध अर्थात् बुद्धिपरिकल्पित और बुद्धिस्थ रजत ही (बुद्धि का) विषय होता है। इसीलिये श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि, 'एकरस अर्थात् सर्वदा एकरूप आप में, (शुक्ति में रजत के समान) अनुमित, प्रमातृचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य के मध्य में यह जगत् मृषा या मिथ्या ही प्रतीत होता है'

---

१. "'अनुमितमन्तरा त्वयि 'विभाति मृषा' इति। इदं जगत् मृषा एव भाति। तत्र हेतुः, 'त्वयि' इति। यद्धि यस्मिन् विद्यमाने अतिरिक्तं भासते तत्त्वेन तन्मिथ्या इति सिद्धम्, यथा शुक्तिकायां रजतम्, तथा 'सर्वमिदं ब्रह्म' (इति) श्रुत्या ब्रह्मविद्भिश्च निर्णीतम्, तथापि यदन्यथा भासते जगत्त्वेन तन्मृषैव भवितुमर्हतीत्यर्थः। हेत्वन्तरमप्याह, 'अनुमितमन्तरा' इति। प्रत्यक्षे तु रजतं न दृश्यते इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य शुक्तिविषयत्वात्। न हि रजतेन सह सन्निकर्षोऽस्ति, सतोरेव संयोगात्।

अस्य सुबोधिन्याम्, 'रजतं तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते, विषयीक्रियते च, तत्र सा बुद्धिरेव कारणम्। ....इन्द्रियार्थयोर्मध्ये भाति तन्मृषा' (सुबोधिनी १०।८७।३७) इति निरूपितम्। अत एव प्रथमस्कन्धे 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः' (भाग० १।१।१) इत्यस्य सुबोधिन्याम्¹, 'तेजसि वारिबुद्धिः मरीचितोये' (सुबो-

---

(भाग० १०।८७।३७)। इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में 'रजत तो उसके बाद बुद्धि के द्वारा उत्पन्न (अर्थात् कल्पित) और गृहीत किया जाता है और उसकी उत्पत्ति और गृहीति का करण (या कारण) बुद्धि ही होती है।....इन्द्रिय और उसके अर्थ (अर्थात् ग्राह्य विषय) के बीच में जो कुछ भी प्रतीत होता है, मिथ्या है' (सुबोधिनी १०।८७।३७) इत्यादि वाक्यों में इस उपर्युक्त निष्कर्ष का ही निरूपण हुआ है ! इसीलिये भागवत के प्रथम स्कन्ध के 'जिस प्रकार तेज, जल और पृथिवी तत्त्वों का विनिमय या व्यत्यय' (भाग० १।१।१) इस श्लोक की सुबोधिनी टीका में, 'तेज को जल समझने का भ्रम, जैसे

'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' (मीमांसासूत्र १।१।४) इति प्रत्यक्षलक्षणम्। रजतं तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते च। तत्र सा बुद्धिरेव करणम्, तेन 'ज्ञानकरणकं ज्ञानम् अनुमानम्' इति रजतमनुमितिविषयो भवति। किञ्च, 'अन्तरा विभाति' इन्द्रियार्थयोर्मध्ये भाति तन्मृषा। तथा अत्रापि प्रमातृचैतन्यब्रह्मचैतन्ययोर्मध्ये जगद् भाति इति।' यावदेतयोर्न सम्यक् परीक्षा तावत्प्रतिभासते अतोऽन्तरैव विभाति।...किञ्च, 'एकरसे त्वयि' यन्नानाप्रकारेण भाति तन्मृषैवेति ज्ञातव्यम्, यथैकस्मिन् चन्द्रे द्वैतप्रतीतिर्भ्रान्त्या।"
(सुबोधिनी १०।८७।३७)।

१. 'पृथिव्यतेजसामन्योऽन्यस्मिन् अन्योऽन्यावभासो यथा मृषा द्रष्टुरेव तथाबुद्धिजनकः न तु विषयस्तादृश इत्यर्थः। तेजसि वारिबुद्धिः मरीचितोये, वारिणि पृथिवीबुद्धिः तमिस्रायां जलादौ, तथा मण्यादिष्वग्निबुद्धिः,

धिनी १।१।१) इत्यारभ्य, '*शुक्तिरजतादिषु*' (सुबोधिनी १।१।१) इत्यन्तेन नानाभ्रमानुक्त्वा भ्रमविषयाणां बुद्धिजन्यतोक्ता, '*यथा जीवानां बुद्धिकल्पिता*' (सुबोधिनी १।१।१) इत्यनेन । निश्चयात्मके ज्ञाने तु इन्द्रियार्थ एव बुद्ध्या गृह्यते, न तत्र बुद्धिकल्पितो विषयः । इन्द्रियतदर्थयोर्मध्ये यद्बुद्धावन्यदेव भाति तन्मृषा, तादृशं ज्ञानं भ्रमात्मकम् ।

एवं सति इन्द्रियेण गृह्यमाणाद्विषयाच्छुक्त्यादिरूपादन्यस्य रजतादेः ख्यातिः अन्यख्यातिः इत्युच्यते । तदिदं भ्रमात्मकं

मरुमरीचिका में जल की भ्रान्ति' (सुबोधिनी १।१।१) इत्यादि वाक्यों से प्रारम्भ कर, 'सजातीय भ्रम, जैसे शुक्ति को रजत समझ लेना आदि' (सुबोधिनी १।१।१) इस वाक्य तक विभिन्न भ्रमों का उल्लेख कर, 'जिस प्रकार भ्रम के ये विषय जीवों की बुद्धि के द्वारा कल्पित होते हैं' (सुबोधिनी १।१।१) इत्यादि वाक्य द्वारा भ्रम के विषय के बुद्धिजन्य अर्थात् बुद्धि द्वारा कल्पित या मायिक होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है । निश्चयात्मक ज्ञान (अर्थात् प्रमा) में तो इन्द्रियार्थ (अर्थात् इन्द्रिय द्वारा गृहीत होने वाले पदार्थ या इन्द्रिय के विषय) का ही बुद्धि के द्वारा ग्रहण होता है, वहाँ बुद्धिकल्पित विषय नहीं होता । इन्द्रिय और उसके द्वारा ग्राह्य विषय या पदार्थ के बीच में जो अन्य ही पदार्थ बुद्धि में प्रतीत होता है वह मिथ्या होता है और उसका ज्ञान भ्रमात्मक होता है ।

इस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा गृहीत हो रहे शुक्ति' आदि रूप विषय से भिन्न रजत आदि रूप अन्य पदार्थ की ख्याति या प्रतीति अन्य-

---

मृदि काचादौ वारिबुद्धिः, मेघेषु चन्द्रबुद्धिः, चन्द्रकिरणे वस्त्रबुद्धिः, सजातीयभ्रमाश्च शुक्तिरजतादिषु । ते यथा जीवानां बुद्धिपरिकल्पिताः, तथा च भगवति देहेन्द्रियान्तःकरणवत्त्वम् अवतारादिषु मृषा ।' (सुबोधिनी १।१।१) । द्रष्टव्य, भाग० १।१।१ की बालप्रबोधिनी ।

ज्ञानं बुद्धिवृत्तिरूपं विपर्यासशब्दवाच्यम्। अत एव '*विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादक*' (सुबोधिनी ३।२६।३०) इत्युक्तं सुबोधिन्याम्। '*भिन्नार्थ*' (सुबोधिनी ३।२६।३०) इत्यत्र इन्द्रियसंयुक्तार्थाद्भिन्नोऽर्थ इत्यूह्यम्। एतावता निरुपाधिभ्रमे इन्द्रियाणि सन्तमेवार्थं विषयीकुर्वन्ति, न त्वसन्तम्। अत एव उद्धवं प्रति उक्तं भगवता,

'*मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।*

अहमेव न मत्तोऽन्यद् इति बुद्ध्यध्वमञ्जसा॥' (भाग० ११।१३। २४) इति। बुद्धिस्तु प्रमात्मके निश्चयापरपर्याये ज्ञाने सन्तं विषयीकरोति, विपर्यासज्ञाने तु स्वकल्पितं रजतादिकं मायिकमेव विषयीकरोति, अत इन्द्रियविषयो बाह्य एव। अत एव

ख्याति कही जाती है। यह उपर्युक्त भ्रमात्मक ज्ञान बुद्धिवृत्तिरूप है और विपर्यास कहा जाता है। इसीलिये सुबोधिनी में कहा गया है कि 'विपर्यास भिन्नार्थप्रतिपादक होता है' (सुबोधिनी ३।२६।३०)। सुबोधिनी के 'भिन्नार्थप्रतिपादक' इस पद में आया 'भिन्नार्थ' यह शब्द इन्द्रियसंयुक्त (अर्थात् इन्द्रियसन्निकृष्ट या इन्द्रिय द्वारा गृहीत हो रहे) पदार्थ से भिन्न पदार्थ का सूचक है ऐसा समझ लेना चाहिए। इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निरुपाधिक भ्रम के स्थल में इन्द्रियाँ विद्यमान पदार्थ का ही ग्रहण करती हैं, न कि अविद्यमान और अवास्तविक या मायिक पदार्थ का। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा था कि "'मन, वाणी, दृष्टि तथा अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी जो कुछ कुछ गृहीत किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझ से भिन्न और कुछ नहीं है', यह आप लोग समझ लीजिये।" (भाग० ११।१३।२४)। बुद्धि, निश्चय के नाम से अभिहित किये जाने वाले प्रमात्मक ज्ञान में विद्यमान पदार्थ को विषय बनाती अर्थात् ग्रहण करती है, किन्तु विपर्यास ज्ञान अर्थात् भ्रमस्थल में अपने ही द्वारा कल्पित रजत आदि—जो मायिक ही होते हैं—को विषय बनाती

'सर्वं पुरुष एवेदम्' (भाग० २।६।१५) इति द्वितीयस्कन्धश्लोक-व्याख्यान उक्तम्, 'इदमपि परिदृश्यमानं जडात्मकं सर्वं पुरुष एव' (सुबोधिनी २।६।१५) इति। इन्द्रियतद्विषययोर्मध्ये माया-दूषितबुद्ध्या यो विषयीक्रियते स तु अवास्तव एव बुद्धि-कल्पित इति ज्ञेयम्।

मायावादिनस्तु, "शुक्तिरूपाधिष्ठाने उत्पन्नेन अनिर्वच-नीयेन रजतेन चक्षुःसन्निकर्षे 'रजतमिदम्' इति भ्रमो भवेत्, न तत्र शुक्तिसामान्यज्ञानस्य हेतुत्वं, प्रयोजनाभावाद्" इत्याहुः। तन्मन्दम्, शुक्तेश्चाकचक्यादितिबुद्धेरुत्पादितत्वात्, शुक्ति-सामान्यज्ञानकारणतायाः निर्वचनीयत्वात्।

अर्थात् ग्रहण करती है। अतः इन्द्रियों का विषय तो बाह्य पदार्थ ही होते हैं। इसीलिये भागवत के द्वितीय स्कन्ध के 'यह सब पुरुष ही है' (भाग० २।६।१५) इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में श्रीवल्लभा-चार्य ने कहा है कि 'यह परिदृश्यमान समस्त जडात्मक (जगत्) भी पुरुष ही है' (सुबोधिनी २।६।१५)। इन्द्रिय और उसके ग्राह्य विषय के मध्य में जो आन्तरालिक पदार्थ माया के द्वारा दूषित बुद्धि से गृहीत होता है वह अवास्तविक और बुद्धिकल्पित ही होता है ऐसा समझना चाहिए।

मायावादी दार्शनिक कहते हैं कि "शुक्तिरूप अधिष्ठान में उत्पन्न अनिर्वचनीय रजत से चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर 'यह रजत है' ऐसा भ्रम होता है, ऐसा मानना चाहिए और शुक्ति के सामान्य ज्ञान को इस भ्रम का कारण नहीं कहना चाहिए क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है", किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि शुक्ति में रजतबुद्धि (अर्थात् शुक्ति के रजत होने की भ्रान्ति), शुक्ति की चमक आदि के ज्ञान के कारण ही उत्पन्न होती है अतः शुक्ति के सामान्य ज्ञान को इस भ्रान्ति (या अनिर्वचनीय रजत की प्रतीति) का

केचित्तु, 'माययानिर्वचनीयमुत्पादितं रजतं चक्षुषोपलभ्यते-ऽतो न रजतभ्रमेऽधिष्ठानसामान्यज्ञानस्य हेतुत्वम्' इति वदन्ति। तदप्ययुक्तम्। मायोत्पादितरजतस्य विद्यमानत्वे तत्कृतशुक्तिज्ञानप्रतिबन्धात् कदापि शुक्तिज्ञानं न भवेत्, रजतनाशहेतोरन्यस्याभावात्, कदापि रजतध्वंसाभावात्। 'रजतज्ञाने सत्यपि शुक्तिज्ञानम्' इति तु अनुभवविरुद्धत्वान्नाद्रियते विद्वद्भिः। तथा च अधिष्ठानरूपशुक्तिविषयकविशेषज्ञानाभावात्कदापि रजतध्वंसो न स्यात्। एवं सति सदैव रजतप्रत्यय आपद्येत। यदि तु, 'मायया विरचितं माययैव

कारण कहा जा सकता है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'रजतभ्रम के स्थल में माया द्वारा उत्पन्न किया गया अनिर्वचनीय रजत चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है अतः (शुक्तिकादिरूप) अधिष्ठान के सामान्य ज्ञान को उस रजत-भ्रम का कारण मानना ठीक नहीं है', किन्तु उन लोगों की यह बात भी अधोलिखित कारणों से युक्तियुक्त नहीं है। माया के द्वारा उत्पन्न किये गये (अनिर्वचनीय) रजत के विद्यमान होने पर उसके शुक्ति के ज्ञान के प्रतिबन्धक होने के कारण शुक्ति के ज्ञान में बाधा आ जाने से शुक्ति का ज्ञान कभी भी न हो सकेगा क्योंकि इस (मायाजन्य अनिर्वचनीय) रजत के नाश के किसी अन्य हेतु का अभाव होने के कारण इसका कभी नाश ही न होगा; और यदि वे यह कहें कि रजत के ज्ञान के होते हुए भी शुक्ति का ज्ञान हो जायेगा तो उनकी यह बात अनुभवविरुद्ध होने के कारण विद्वानों के लिये आदरणीय या स्वीकार्य न होगी। इस प्रकार अधिष्ठानरूपशुक्तिविषयक विशेषज्ञान के अभाव में रजत का नाश कभी होगा ही नहीं और तब रजत की प्रतीति के सार्वकालिक या नित्य होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। यदि मायावादी यह कहें कि वे माया द्वारा उत्पन्न किये गये रजत का माया

ध्वंस्यते' इत्युररीक्रियेत, तदा तु दार्ष्टान्तिके प्रपञ्चे तथैव स्वीकार्यत्वान्मायाघटितः प्रपञ्चो माययैव नष्टो भविष्यति इति व्यर्थो ज्ञानप्रयासो वेदान्तशास्त्रवैयर्थ्यञ्च। 'ज्ञाननाश्यः प्रपञ्चः' इति भवत्सिद्धान्तोऽपि नाशं प्राप इत्याकलनीयम् ।

अत एव 'आत्ममायायनं हरेः[1]' (भाग० ३।७।१६) इत्यस्य व्याख्याने '*मायया कृतो योऽन्तरासर्गः स त्वपार्थ एवाभाति ।...... अन्तराभानात्तलस्पर्शे च ब्रह्मावभानात्तदैव गच्छतीति निर्मूलत्वम्*' (सुबोधिनी ३।७।१६) इत्याद्युक्तम्[2] । '*मध्यस्थमात्रानुवादो वा*

के द्वारा ही नष्ट किया जाना स्वीकार करते हैं तो उन्हें दार्ष्टान्तिक प्रपञ्च अर्थात् इस जगत् के बारे में भी यही बात स्वीकार करनी पड़ेगी और मानना पड़ेगा कि माया द्वारा उत्पन्न प्रपञ्च माया के द्वारा ही नष्ट हो जायेगा। ऐसी दशा में ज्ञानप्राप्ति के लिये उनका प्रयत्न और समग्र वेदान्तशास्त्र सब व्यर्थ हो जायेंगे और उनका यह सिद्धान्त भी समाप्त हो जायेगा कि प्रपञ्च ज्ञाननाश्य है अर्थात् जगत् की निवृत्ति ज्ञान से होती है।

इसीलिये श्रीमद्भागवत के 'अत्ममायायनं हरेः' (भाग० ३।७।१६) इस श्लोक[1] की सुबोधिनी व्याख्या में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि 'व्यामोहिका माया के द्वारा की गयी जो आन्तरालिकी सृष्टि प्रतीत होती है वह अपार्थ अर्थात् अवास्तविक ही है।...उसका माया के अतिरिक्त कोई अन्य मूल न होने के कारण और उसके आन्तरालिक प्रतीति मात्र होने के कारण तथा अधिष्ठान का स्पर्श करने पर ब्रह्म की प्रतीति होने से तत्क्षण ही समाप्त हो जाने के कारण उसे निर्मूल कहा गया है[2]।'

---

१. साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः ॥ (भाग० ३।७।१६)।

२. 'आत्ममायायनं हरेः' इति। हरेः सम्बन्धिनो य आत्मानो जीवाः, तेषां या माया व्यामोहिका पूर्वं चतुःश्लोक्यां निरूपिता तस्या मायाया अयनं स्थानं विषयाकारो ब्रह्म, जडत्वेन आत्मानात्मत्वे यत् स्फुरति तद्

मायावादिवद्' (सुबोधिनी ३।७।१६) इत्यप्युक्तम् ।

अतो ज्ञायत इन्द्रियविषययोः सम्बन्धे सामान्यज्ञानानन्तरं यद्बुद्धौ माया मायिकं पदार्थं निर्माय बुद्धिविषयीकारयति तद्बौद्धं ज्ञानं भ्रमात्मकम्, तद्विषयश्च मायिको बौद्धो घटादिः, अयमेव बुद्धौ भातः पदार्थ आन्तरालिकी सृष्टिरित्यु-

---

(सुबोधिनी ३।७।१६) इत्यादि । इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा है कि 'अथवा मायावादी के समान यहाँ इस सृष्टि के मध्यस्थ मात्र होने की बात कही गयी है' (सुबोधिनी ३।७।१६) ।

इससे यह ज्ञात होता है कि इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध अर्थात् सन्निकर्ष होने पर सामान्यज्ञान की उत्पत्ति के बाद माया बुद्धि में मायिक पदार्थ का निर्माण (अर्थात् उसकी कल्पना) कर उसे बुद्धि का विषय बना देती है (अर्थात् वह पदार्थ बुद्धि द्वारा गृहीत होता है) । बुद्धि द्वारा होने वाला यह ज्ञान भ्रमात्मक होता है और इस ज्ञान का विषय भी मायिक एवं बुद्धिकल्पित बुद्धिस्थ घटादि ही होता है । बुद्धि में

अपार्थम् एव स्फुरति । मायैव वा अयनं यस्य इति । मायाकृतो योऽन्तरासर्गः स तु अपार्थम् एव आभाति । वस्तु दूरीकृत्य निर्विषयकमेव ज्ञानं मायावृतं यत्किञ्चिद्विषयत्वेन भाति । तर्हि सर्वदैव भायात्, ततश्चानिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—निर्मूलम् इति । मायातिरिक्तमूलाभावाद् अन्तराभानात्, तत्स्पर्शे ब्रह्मावभानात् तदैव गच्छतीति निर्मूलत्वम् । एवमेव हि शुक्तिकायां रजतप्रतीतिरन्तरा भासते, तत्स्पर्शे च निवर्तत इति ।... जगद् भगवान् कर्तृत्वञ्च श्रुतिसिद्धं सत्यमेव । सृष्टस्य ब्रह्मस्वरूपस्य जगतः तथात्वप्रतीतौ व्यामोहिकया मायया मध्ये अन्यथैव प्रत्याय्यते ('विषयतारूपं विकृतं जगत् कृत्वा ब्रह्मरूपे जगति जडमोहात्मकत्वं तुच्छत्वं प्रत्याय्यते, आत्मरूपेऽनात्मत्वं च प्रत्याय्यत इत्यर्थः' सुबोधिनीप्रकाशः) । अविकृतं कार्यं कारणं कृतिश्च । युष्माकम् इति वचनात्र सर्वेषामयमनुभवः । (सुबोधिनी ३।७।१६) ।

च्यते, तस्यैव मिथ्यात्वम्, न तु भगवत्कृतप्रापञ्चिकघटपटादेः, अतो महता यत्नेन परिदृश्यमानप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं दूरीकृतवान् भगवान् भाष्यकारः।

औपाधिके 'घटो भ्राम्यति', 'शङ्खः पीतः' इत्यादिभ्रमे तु चक्षुर्ग्राह्ये घटशङ्खादौ भ्रमरिकाकामलाद्युपाधिं पुरस्कृत्य भ्रमणपीतत्वादिरूपो मायिको धर्मो विषयतारूपो मायया सृज्यते। स च धर्मो धर्मिणां घटशङ्खादीनां चाक्षुषे चक्षुषा गृह्यते। अत एवोक्तं सुबोधिन्याम्, *'विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्'*[1] (सुबोधिनी २।९।३३) इति। *'विषये विषयता काचित्*

प्रतीत होने वाला यह मायिक और बुद्धिकल्पित पदार्थ ही आन्तरालिकी सृष्टि कहा जाता है, तथा मिथ्या भी यह आन्तरालिक सृष्टि रूप मायिक पदार्थ ही होता है न कि भगवान् द्वारा सृष्ट प्रापञ्चिक घटपटादिरूप वस्तुसमूह। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने बड़े परिश्रम से इस परिदृश्यमान जगत् को मिथ्या मानने के मत का निराकरण किया है।

(भ्रमरिकाग्रस्त पुरुष को होने वाले,) 'घट (मेरे चारों ओर तेज़ी से) घूम रहा है' इस औपाधिक भ्रम, तथा (कामलारोग से ग्रस्त व्यक्ति को होने वाले,) 'यह शङ्ख पीला है' इस औपाधिक भ्रम में माया, चक्षुरिन्द्रिय के ग्राह्य घट, शङ्ख आदि में घुमनी (भ्रमरिका) और कामलारोग की उपाधिपूर्वक भ्रमण (अर्थात् घट के घूम रहे होने) और पीतत्व (अर्थात् शङ्ख के पीले होने) आदि विषयतारूप मायिक धर्मों को उत्पन्न कर देती है और वे मायिक धर्म घट, शङ्ख आदि धर्मी पदार्थों के चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत होने पर उनके साथ ही चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत होते हैं। इसीलिये श्रीमद्वल्लभाचार्य ने सुबोधिनी में कहा है कि 'विषयता मायाजन्य है और विषय भगवान् (अर्थात् भगवद्रूप) है' (सुबोधिनी २।९।३३); 'अतः विषय में कोई

---

१. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १३ तथा सुबोधिनी प्रकाश, २।९।३३।

स्वीकर्तव्या.......*अन्यथा*...*भ्रमदृष्टिर्निर्विषया स्याद्*[1]" (सुबोधिनी २।९।३३) इति । '*विषयताजनितं ज्ञानं भ्रमात्मकं*[2], *विषयजनितं प्रमेति*[3]', (सुबोधिनी २।९।३३) च । तथा च तं भ्रमणपीतत्वादिरूपं मायिकं धर्ममवलोक्य मायया मोहिता बुद्धिः धर्मिणं शङ्खादिमिव पीतत्वादिकमपि वस्तुभूतं निर्धार्य तद्विशिष्टं शङ्खं स्वीकरोति, तदा तद्भ्रमात्मकं ज्ञानं भवति । एवं सति बुद्ध्या पीतत्ववैशिष्ट्येन कल्पित एव शङ्खो मायिकः, न तु चक्षुर्गृहीतः ।

विषयता स्वीकार करनी चाहिए, (जिसके कारण दृष्टि सविषया हो जाती है,) अन्यथा (विषयता स्वीकार न करने पर, भ्रमरिकाग्रस्त व्यक्ति के चारों ओर के घटपटादि पदार्थों के स्थिर होने के कारण, उन घटपटादि पदार्थों के अपने चारों ओर घूम रहे होने का भ्रमरिकाग्रस्त पुरुष का) भ्रमात्मक ज्ञान निर्विषय हो जायेगा ।' (सुबोधिनी २।९।३३); 'विषयताजनित ज्ञान भ्रमात्मक अर्थात् भ्रान्त होता है और विषयजनित ज्ञान प्रमा (अर्थात् यथार्थ, प्रामाणिक और निश्चयात्मक होता है) ।' (सुबोधिनी २।९।३३) । उन उपर्युक्त भ्रमण, पीतत्व आदि रूप मायिक धर्मों को देख कर माया के द्वारा मोहित बुद्धि, घट, शङ्ख आदि धर्मियों की ही भाँति भ्रमण, पीतत्व आदि धर्मों को भी वास्तविक समझ कर भ्रमणविशिष्ट घट एवं पीतत्वविशिष्ट शङ्ख का ग्रहण करती है और तब 'घट घूम रहा है,' 'शङ्ख पीला है' इत्यादिरूप भ्रमात्मक ज्ञान होता है । इस प्रकार बुद्धि के द्वारा पीतत्वविशिष्टरूप में कल्पित या गृहीत शङ्ख (अर्थात् जिसे बुद्धि पीला समझ रही है वह पीला शङ्ख) ही मायिक या मिथ्या है, न कि चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत हो रहा प्रापञ्चिक शङ्ख ।

---

१. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १२, तथा सुबोधिनीप्रकाश, २।९।३३ ।
२. उपलब्ध सुबोधिनी का पाठ 'भ्रान्तम्' है ।
३. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ १४, तथा सुबोधिनीप्रकाश, २।९।३३ ।

न च 'चक्षुषा गृहीतस्य घटस्य भगवत्त्वं न सम्भवति, भगवत इन्द्रियाग्राह्यत्वाद्' इति वाच्यम्, 'न चक्षुषा गृह्यते' (मुण्ड० उप० ३।१।८) इत्यादिश्रुतीनां मूलरूपपरत्वाद् गृह्यमाण-घटस्य भगवतः सदंशत्वाद् ग्राहकस्येन्द्रियस्यापि भगवत्सदंश-त्वेनादोषाच्च, ग्राह्यस्य घटस्य विषयतावैशिष्ट्येन शुद्धत्वा-भाववद् ग्राहकस्येन्द्रियस्यापि विषयतावैशिष्ट्येन तुल्यत्वाच्च।

सोऽयमौपाधिकधर्मो रजतादिभ्रमवन्नाधिष्ठाननाश्यः। कामलादिदोषो भ्रमरिकादोषश्च यदा नश्यति तदैव नश्यति।

यह कहना भी ठीक न होगा कि 'भगवान् के इन्द्रियाग्राह्य और इन्द्रियातीत होने के कारण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत होने वाले घट का भगवत्त्व (अर्थात् भगवद्रूप होना) सम्भव नहीं है,' क्योंकि 'वह चक्षु-रिन्द्रिय द्वारा गृहीत नहीं होता (अर्थात् दृष्टिगत नहीं होता) है' (मुण्ड० उप० ३।१।८) इत्यादि श्रुतिवाक्य मूलरूपपरक (अर्थात् भगवान् के मूलरूप के निरूपक) हैं और चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृह्यमाण प्रापञ्चिक घट तथा उस घट का ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय दोनों के भगवान् का सदंश होने के कारण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा भगवान् के सदंश-रूप प्रापञ्चिक घटादि का ग्रहण होने के सिद्धान्त को मानने में कोई दोष नहीं है। ग्राह्य घट के विषयताविशिष्ट होने से शुद्ध न होने की ही भाँति, ग्रहण करने वाली इन्द्रिय के भी विषयताविशिष्ट होने से उसी के समान होने (अर्थात् शुद्ध न होने) से भी सिद्धान्ती के उपर्युक्त पक्ष की ही पुष्टि होती है।

यह (भ्रमण, पीतत्व आदिरूप उपर्युक्त) औपाधिक धर्म (शुक्ति में होने वाले) 'यह रजत है' इस प्रकार के भ्रम की भाँति अधिष्ठान-नाश्य नहीं होता है, तात्पर्य यह है कि शुक्तिरजत के अधिष्ठान शुक्ति का ज्ञान हो जाने पर उसके रजत होने का भ्रम दूर हो जाता है, पर भ्रमण (घट का घूमना) और पीतत्व (शङ्ख का पीला होना) आदि रूप

भ्रमरिकादशायां 'घटे भ्रमणं नास्ति' इति ज्ञानवतोऽपि 'भ्राम्यति' इति प्रतीतेः सार्वजनीनत्वात्।

एवञ्च निरुपाधिके रज्जुभुजङ्गादिभ्रमे चक्षुषा सद्रूपैव रज्जुः गृह्यते, भुजङ्गस्तु बुद्धिकल्पितो बुद्ध्या विषयीक्रियते, न चक्षुषा, बुद्धिकल्पितस्य भुजङ्गस्य बाह्यत्वाभावात्, दशमस्कन्धजन्मप्रकरणचतुर्थाध्यायसुबोधिन्याम् *'यथानेवंविदो भेदः'* (भाग० १०।४।२०) इत्यस्य विवरणे *'बुद्ध्या बहिर्विषयोत्पादनासम्भवाद्*[1]'

औपाधिक धर्म इस प्रकार अर्थात् अधिष्ठान के ज्ञानमात्र से समाप्त या नष्ट नहीं हो जाते प्रत्युत तभी समाप्त होते हैं जब घुमनी (भ्रमरिकादोष) और कामलारोग आदि समाप्त हो जाते है, क्योंकि घुमनी की स्थिति में तो 'घट में घूम रहे होने का धर्म नहीं होता है' यह जानने वाले व्यक्ति को भी, 'घट घूम रहा है' इस प्रकार की प्रतीति होना सार्वजनीन (अर्थात् सार्वजनिक अनुभव का विषय) है।

इस प्रकार निरुपाधिक रज्जुसर्पादि के भ्रम में चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सद्रूप रज्जु का ही ग्रहण होता है (सर्प का नहीं), सर्प तो बुद्धिकल्पित होता है और बुद्धि के द्वारा ही गृहीत होता है, चक्षुरिन्द्रिय द्वारा नहीं, क्योंकि बुद्धिकल्पित सर्प के बहिर्देश में न होने के कारण उसका इन्द्रिय द्वारा ग्रहण हो सकना सम्भव नहीं है। बुद्धिकल्पित सर्प के बाह्यत्व (अर्थात् बहिर्देश में हो सकने) की सम्भावना नहीं है इस बात की सिद्धि श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के जन्मप्रकरण के चतुर्थ अध्याय के 'जैसे ऊपर प्रतिपादित तत्त्व को इसी रूप में सम्यक् प्रकार से न जानने वाले

---

१. 'भेदस्तु द्वित्वसाध्यः, न हि एकस्मिन् भेदबुद्धिर्भवति, द्वित्वं त्वपेक्षाबुद्धिजन्यम्। अतो द्वित्वं न वस्तुनिष्ठं किन्तु बुद्धिस्थविषयकमेव, बुद्ध्या बहिर्विषयोत्पादनासम्भवात्।' अतो ज्ञानकृत एव भेदो भवति, अपेक्षाविषयाणामभावात्।' (सुबोधिनी १०।४।२०)।

(सुबोधिनी १०।४।२०) इत्युक्तत्वात् ।

औपाधिकभ्रमे तु चक्षुषा सद्रूपो घटो, मिथ्याभूतो विषयतारूपो भ्रमणधर्मश्च इत्युभयं विषयीक्रियते, तदनन्तरं सदोषबुद्ध्या 'घटो भ्रमणवान्' इति स्थाप्यत इति विशेषः । इमामेव विषयतां भ्रमणादिरूपां विषयेण सह गृह्यमाणाम् अवमृश्य इन्द्रियग्राह्यस्यापि मिथ्यात्वं क्वचिद्भागवते सुबोधिन्याञ्च उक्तम्, विषयेण घटेन सह विषयतारूपभ्रमणस्यापि चक्षुर्ग्राह्यत्वात् । अत्रापि बौद्ध एव घटो मिथ्या, न तु प्रपञ्चान्तर्वर्तीति निष्कर्षः ।

व्यक्ति को भेदबुद्धि होती है' (भाग० १०।४।२०) इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में कहे गये, श्रीवल्लभाचार्य के, 'बुद्धि के द्वारा बहिर्विषय अर्थात् बाह्य या बहिर्देश में विद्यमान विषय को उत्पन्न कर सकना सम्भव न होने के कारण' (सुबोधिनी १०।४।२०), इत्यादि वाक्यों से होती है ।

औपाधिक भ्रम में उपर्युक्त (रज्जुसर्पादिरूप) निरुपाधिक भ्रम की अपेक्षा वैशिष्ट्य यह होता है कि इसमें सद्रूप घट और मिथ्याभूत विषयतारूप भ्रमणधर्म (अर्थात् घट का घूम रहा होना), दोनों गृहीत होते हैं और फिर सदोषबुद्धि के द्वारा 'घट भ्रमणशील है (अर्थात् घूम रहा है)' इस प्रकार की स्थापना की जाती है । (घटादिरूप) विषय के साथ गृहीत की जाने वाली इस भ्रमणादिरूपविषयता को दृष्टिगत करके ही भागवत तथा उसकी सुबोधिनी व्याख्या में कहीं-कहीं इन्द्रियग्राह्य पदार्थों को भी मिथ्या कह दिया गया है, क्योंकि घटादिरूप विषय के साथ ही उसका विषयतारूप भ्रमण (घूम रहा होना) भी तो चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होता ही है । इसलिये हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बौद्ध अर्थात् बुद्धिकल्पित और बुद्धिस्थ घट ही मिथ्या है न कि प्रपञ्चान्तर्वर्ती घट ।

इदमत्र ज्ञेयम्। प्रपञ्चविचारे भ्रमणवद्घट एव दृष्टान्तः। तत्र यथा घटस्य सत्यत्वं भ्रमणस्य मायिकत्वम्, एवं प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं तद्गतानां भेद-कुत्सितत्वोत्पत्तिनाशादीनां मायिकत्वम्। अत एव उद्धवं प्रति उक्तं भगवता,

'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।

नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्॥' (भाग० ११।७।७)

इति। *'नश्वरम्'* इति पदाद्यन्नश्वरं गृह्यते तदेव मायामयम् इतस्तु परं सत्यमेव इत्यर्थः स्फुटति। एतच्चौपाधिकभ्रमे स्फुटम्। अत एव *'नाशोत्पत्तिप्रतीतिर्भ्रान्ता'*[1] (विद्वन्मण्डनम्,

---

इस विषय में यह अवधेय है कि प्रपञ्च के स्वरूप के विचार के प्रसङ्ग में भ्रमणशील (अर्थात् घूमते प्रतीत हो रहे) घट का दृष्टान्त ही शास्त्रानुकूल है। जिस प्रकार प्रापञ्चिक घट सत्य है और उसका भ्रमण मायिक है (अर्थात् भ्रमरिकाग्रस्त व्यक्ति को होने वाली, 'घट घूम रहा है' यह प्रतीति मिथ्या है), उसी प्रकार प्रपञ्च भी सत्य है किन्तु प्रपञ्च में प्रतीत होने वाला भेद (अर्थात् नानात्व या वैविध्य), कुत्सितत्व, उत्पत्ति, नाश आदि मायिक है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा था कि 'हे उद्धव! यह जो कुछ भी मन, वाणी, नेत्र तथा श्रवणादि इन्द्रियों द्वारा गृहीत किया जाता है सब नश्वर, मायामय (अर्थात् मिथ्या) और मनोमय (अर्थात् मन का विलास मात्र) है, ऐसा समझो' (भाग० ११।७।७)। इस श्लोक में आये 'नश्वरम्' पद से यह अर्थ सूचित होता है कि 'जो नश्वर गृहीत होता है वही (अर्थात् नश्वरत्व ही) मायामय है, इससे भिन्न तो परम सत्य ही है।' यह बात औपाधिक भ्रम में स्पष्ट हो जाती है। इसीलिये श्रीविट्ठलनाथ ने अपने विद्वन्मण्डनम् नामक ग्रन्थ में यह प्रतिपादित

---

१. द्रष्टव्य, 'आविर्भावतिरोभावावेव श्रुत्यभिमतौ, नाशोत्पत्तिप्रतीतिभ्रान्ता इति।' (विद्वन्मण्डनम्, चौखम्बा संस्करण, पृ० ३६) इत्यादि।

पृष्ठ ३६) इति विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैर्निरूपितम्। अतो न प्रपञ्चस्य शुक्तिरजतादिर्दृष्टान्तः। अत एव शास्त्रार्थप्रकरणे, 'वाचारम्भणवाक्यानि' (शास्त्रार्थप्र० का० ८३) इति कारिका-व्याख्याने 'न तु मिथ्यात्वं शुक्तिरजतवत्, अन्यथा शुक्तिरजतादिकमेव दृष्टान्तीक्रियेत'' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ८३) इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम्।

अन्यच्च। यथा घटावच्छिन्नगगनमहाकाशयोर्वस्तुतो भेदाभावेऽपि घटोपाधिकृतो ह्यवास्तवो भेदः तथा विषयताविशिष्ट-

---

किया है कि 'क्षड़ जगत् के नाश होने और उत्पन्न होने की प्रतीति भ्रमपूर्ण है' (विद्वन्मण्डनम्, पृष्ठ ३६)। अतः प्रपञ्च के स्वरूप का निर्धारण या निरूपण करने में शुक्तिरजत आदि का दृष्टान्त देना शास्त्रानुकूल नहीं है अर्थात् प्रपञ्च को शुक्तिरजत के समान मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इसीलिये श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थप्रकरण की 'वाचारम्भणवाक्यानि' (शास्त्रार्थप्र० का० ८३) इस कारिका की अपनी प्रकाश व्याख्या में कहा है कि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छान्दो० उप० ६।१।४) इत्यादि श्रुतिवाक्य कार्यों के अपने उपादान कारणों से अनन्य होने का ही बोध कराते हैं, शुक्ति-रजत के समान मिथ्या होने का नहीं। यदि ऐसा न होता (अर्थात् यदि श्रुति का अभिप्राय कार्य के शुक्तिरजत के समान मिथ्या होने का प्रतिपादन करना ही होता) तो श्रुति में (मृत्पिण्ड, लोहमणि और नखनिकृन्तन के उदाहरण न देकर, मायावादियों के अभिमत) शुक्ति-रजत (स्वप्न, माया, गन्धर्वनगर, मृगतृष्णा और रज्जुसर्प) आदि के दृष्टान्त ही दिये जाते'' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ८३)।

जिस प्रकार घटाकाश (घटावच्छिन्न आकाश) और महाकाश में वस्तुतः भेद न होते हुए भी घटोपाधिकृत अवास्तविक भेद होता है,

---

१. 'अतः कार्याणां तदनन्यत्वमेव श्रुत्या बोध्यते न तु मिथ्यात्वं शुक्तिरजतवद्, अन्यथा शुक्तिरजतादिकमेव दृष्टान्तीक्रियेत।' (शास्त्रार्थप्र०प्र०८३)।

तद्रहितजगतोरिति ज्ञेयम् । दृष्टान्ते 'घटाकाशः चलति' इति प्रतीतावपि चलनं वस्तुतो घटधर्मः, न तु तदवच्छिन्नस्य, एवं विषयताविशिष्टे जगति उत्पत्त्यादिप्रतीतावपि उत्पत्त्यादि विषयताया एव धर्मः, न तु तदवच्छिन्नस्य, घटाकाशमहाकाशयोरभेदवद्विषयताविशिष्टतद्रहितयोरभेदेन वस्तुतस्तदवच्छिन्नजगतोऽपि ब्रह्मरूपत्वात् । अत एव श्रीमदाचार्यैर्द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्याम्, *'वस्तुतो मूलभूतं जगत्, प्रतीतितो मायिकम्'*[1] (सुबोधिनी २।९।३२) इत्यवादि ।

उसी प्रकार विषयताविशिष्ट जगत् और विषयतारहित जगत् में भी वस्तुतः भेद न होते हुए भी अवास्तविक भेद होता है, ऐसा समझना चाहिए । दृष्टान्त में 'घटाकाश चलता है' इस प्रकार की प्रतीति होते हुए भी चलना अर्थात् गतिशीलता वस्तुतः घट का ही धर्म है घटावच्छिन्न आकाश का नहीं । इसी प्रकार यद्यपि विषयताविशिष्ट जगत् में उत्पत्ति आदि की प्रतीति होती है तथापि उत्पत्ति आदि विषयता का ही धर्म है उससे (अर्थात् विषयता से) अवच्छिन्न (जगत्) का नहीं, क्योंकि घटाकाश और महाकाश के अभेद की ही भाँति विषयताविशिष्ट जगत् और विषयतारहित जगत् में भी, अभेद होने के कारण वस्तुतः विषयतावच्छिन्न (या विषयताविशिष्ट) जगत् भी ब्रह्मरूप ही है । इसीलिये श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भागवत के द्वितीयस्कन्ध के 'अहमेवासमेवाग्रे' (भाग० २।९।३२) इस श्लोक की अपनी सुबोधिनी व्याख्या में कहा है कि 'जगत् वस्तुतः मूलभूत है, किन्तु प्रतीत होने वाले रूप में मायिक है' (सुबोधिनी २।९।३२) ।

---

1. उपलब्ध प्रकाशसहितसुबोधिनी का प्रकाशित पाठ अधोलिखित है, "अहमेतद्रूपो जातः नान्यद् इति । अन्यथाभानञ्च मन्मायया इति । जडे देहादौ मध्ये जीवप्रतीतिश्च घटादावाकाशप्रतीतिवत् । आधाराधेयभावो बाह्याभ्यन्तरभेदहेतुश्च अहमेव इति । स्वरूपतो मूलभूतं जगत्, प्रतीतितो

एवं संसारिजीव-शुद्धजीवयोरप्यवास्तवो भेदः संसाररूपोपाधिकृत एव, शुद्धजीवस्य भगवदंशत्वेन संसारिजीवस्यापि तदभेदेन शुद्धब्रह्मरूपत्वात्।

मिथ्यात्वं तु संसाररूपोपाधिपर्यवसन्नम्। अत एव निबन्ध उक्तम्, *'जीवसंसार उच्यते'*[1] (शास्त्रार्थप्र० का० २३) इति। *'उच्यते न तु जायते'*[2] (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३) इति, *'असत्त्वेनास्य गणनाद्'*[2] (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३) इति व्याख्यातञ्च।

इसी प्रकार संसारी जीव और शुद्ध जीव में भी संसाररूपोपाधिकृत अवास्तविक भेद ही है क्योंकि शुद्ध जीव भगवदंश है और संसारी जीव भी उससे अभिन्न होने के कारण शुद्धब्रह्मरूप ही है।

मिथ्यात्व संसाररूप उपाधि में पर्यवसित होता है। इसीलिये तत्त्वार्थदीपनिबन्ध में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि 'भगवान् की अविद्या नामक शक्ति के कारण जीव के संसार की बात कही जाती है' (शास्त्रार्थप्र० का० २३)। अपने इस कथन की व्याख्या उन्होंने अधोलिखित वाक्यों में की है। 'भगवान् की अविद्या नामक शक्ति के कारण जीव के संसार की बात कही जाती है। जीव का यह (अहन्ता-ममतात्मक) संसार वस्तुतः उत्पन्न नहीं होता क्योंकि यह अभिमत्यात्मक अर्थात् काल्पनिक है और इसकी गणना असद्रूप पदार्थों में की

मायारूपम् अनुप्रवेशको जीव (पाठान्तरे, 'अनुप्रवेशतो जीवरूपम्') इति सर्वं जगत् सर्वप्रकारेणाहमेवेति ज्ञात्वा स्वस्वरूपमपि तथा ज्ञातव्यम्।"
(सुबोधिनी २।९।३२)।

१. 'प्रपञ्चो भगवत्कार्यः तद्रूपो माययाभवत्।
तच्छक्त्याविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते ॥'
(शास्त्रार्थप्र० का० २३)।

२. 'अस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीवस्य संसार उच्यते, न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वादसत्त्वेनास्य गणनात्। अज्ञानं, भ्रमः,

अत एव य एव बद्धः तस्यैव साधनसम्पत्तौ मुक्तिः इति बन्धमोक्षव्यवस्था च सम्यगुपपद्यते।

न च 'एवं जगत्कर्तृत्वादिविशिष्टतद्रहितब्रह्मणोरपि औपाधिकभेदाङ्गीकारे स्वसिद्धान्ताविरोध' इति वाच्यम्, '*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते*' (तैत्ति० उप० ३।१), '*तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः*' (तैत्ति० उप० २।१), '*एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च*' (मुण्ड० उप० २।१।३), '*तदात्मानं स्वयमकुरुत*' (तैत्ति० उप० २।७) इत्यादिश्रुतिसिद्धस्य जगत्कर्तृत्वादेर्नित्यसिद्धस्य धर्मस्योपाधित्वाभावात्। अतो जगत्कर्तृत्वादिश्रौतधर्मविशिष्टं निरुपाधिकमेव, न तु सोपाधिकम्

गयी है' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३)। इसीलिये 'जो बद्ध है उसी की, मुक्ति के साधन का सम्पादन कर लेने पर, मुक्ति होगी' यह मान कर बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भलीभाँति उपपन्न हो जाती है।

यह कहना भी ठीक न होगा कि इसी प्रकार जगत्कर्तृत्वादिविशिष्ट ब्रह्म और जगत्कर्तृत्वादिरहित ब्रह्म का औपाधिक भेद स्वीकार कर लेने पर ब्रह्मवादी के अपने सिद्धान्त का विरोध न होगा क्योंकि, 'जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं' (तैत्ति० उप० ३।१), 'इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ है' (तैत्ति० उप० २।१), 'प्राण, मन और सभी इन्द्रियाँ इसी से उत्पन्न होती हैं' (मुण्ड० उप० २।१।३) तथा 'उसने स्वयं अपने को (जगद्रूप से) रचा' (तैत्ति० उप० २।७) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सिद्ध जगत्कर्तृत्वादि भगवान् के नित्यसिद्ध धर्म हैं और उन्हें उपाधि नहीं कहा जा सकता। अतः जगत्कर्तृत्वादिरूप श्रुतिप्रतिपादित धर्मों से विशिष्ट ब्रह्म भी निरुपाधिक ही है सोपाधिक

असद् इत्यादिशब्दा अहं—ममेतिरूपे संसार एव प्रवर्तन्ते न तु प्रपञ्चे इत्यर्थः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्।' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३)। द्रष्टव्य, स्नेहप्रपूरणी, पृष्ठ ७९–८०।

इति । न ब्रह्मणि सोपाधिकत्वनिरुपाधिकत्वकल्पनेत्यन्यत्र विस्तरः ।

तथा च सिद्धं विषयतावैशिष्ट्येन प्रपञ्चस्य सत्यत्वं मिथ्यात्वञ्च। एवं स्वमते प्रपञ्चस्य पारमार्थिकविचारे ब्रह्मात्मकत्वेन सत्यत्वम् , परमते तु व्यवहारे सत्यत्वं पारमार्थिके मृषात्वम् इति भेदो ज्ञेयः ।

ननु, "निरुपाधिके शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति भ्रमे, पूर्वम् उत्पन्नसामान्यज्ञानानन्तरं बुद्ध्या रजतमुत्पाद्य विषयीक्रियते, तथा दार्ष्टान्तिके भगवदात्मकप्रपञ्चः चक्षुषा गृह्यते, माया-

---

नहीं । ब्रह्म में सोपाधिकत्व और निरुपाधिकत्व की कल्पना करना ठीक नहीं है इस सिद्धान्त का विस्तार से विवेचन अन्यत्र किया गया है ।

इस तरह यह स्पष्ट किया गया कि विषयताविशिष्ट प्रपञ्च यद्यपि वस्तुतः सत्य होता है तथापि उसे विषयता को दृष्टिगत करके कहीं-कहीं मिथ्या कह दिया जाता है । इस प्रकार सिद्धान्ती के अपने मत में पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर प्रपञ्च को ब्रह्मात्मक होने के कारण सत्य स्वीकार किया गया है किन्तु प्रतिपक्षी (मायावादी) के मत में उसे (अर्थात् प्रपञ्च को) व्यवहार की दृष्टि से सत्य परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से मृषा या मिथ्या माना गया है । सिद्धान्ती और मायावादी के प्रपञ्चसम्बन्धी मतों में यह मुख्य भेद है जो स्मरणीय है ।

पूर्वपक्षी का कहना है कि सिद्धान्ती यह मानता है कि "निरुपाधिक भ्रम के शुक्ति में 'यह रजत है' इस प्रकार का भ्रम होने के दृष्टान्तमें पहले उत्पन्न हुए सामान्यज्ञान के अनन्तर बुद्धि रजत को उत्पन्न (अर्थात् कल्पित) कर लेती हैं और उसे ज्ञान का विषय बनाती अर्थात् ग्रहण करती है । इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में पहले भगवदात्मक प्रपञ्च का चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण होता है तदनन्तर माया के द्वारा मोहित

मोहितबुद्धिकल्पितोऽन्तरासर्गो विषयीक्रियत" इति यदुक्तं तन्न सम्भवति, रजतसंस्कारवदान्तरालिकपदार्थसंस्कारोपलब्ध्य-भावाद्, इति चेत्? न, पूर्वकल्पमारभ्यान्तरालिकपदार्था-नुभवसत्त्वेन तत्संस्कारस्य सुवचत्वात्। अतः सुखेन रजत-वदान्तरालिको बौद्धो घटादिरुत्पद्यते।

किञ्च दृष्टान्ते यथा रजतभ्रमानन्तरं धर्मविशेषज्ञाने शुक्ति-रूपाधिष्ठाने ज्ञाते रजतं बौद्धं विलयमेति, तथात्र चक्षुः-

---

बुद्धि अपने ही द्वारा कल्पित आन्तरालिकी सृष्टि को ज्ञान का विषय बनाती अर्थात् ग्रहण करती है"; किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि जिस प्रकार शुक्तिरजतभ्रम के स्थल में बुद्धि में रजत का संस्कार—(जिसके कारण शुक्ति में रजत का भ्रम होता है)—उपस्थित रहता है, उस प्रकार आन्तरालिक पदार्थों का संस्कार बुद्धि में उपस्थित नहीं रहता।

पूर्वपक्षी के इस आक्षेप के उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी का यह मानना ठीक नहीं है कि 'आन्तरालिकी सृष्टि के संस्कार की उपलब्धि के अभाव के कारण आन्तरालिकी सृष्टि का ज्ञान होने का सिद्धान्त उपपन्न नहीं है', क्योंकि पूर्वकल्प से लेकर अब तक आन्तरालिक पदार्थों का अनुभव होते रहने के कारण बुद्धि में उसके (अर्थात् आन्तरालिकी सृष्टि के) संस्कार के उपस्थित होने की बात आसानी से कही (और समझी) जा सकती है। अतः (शुक्ति में प्रतीत होने वाले) रजत के ही समान, आन्तरालिक बुद्धिकल्पित बुद्धिस्थ घटादि के उत्पन्न होने की बात सरलता से समझ में आ जाती है और उपपन्न है।

जिस प्रकार शुक्तिरजत के दृष्टान्त में शुक्ति के रजत होने का भ्रम हो जाने के बाद धर्मविशेष (अर्थात् शुक्ति के विशेष धर्मों) का ज्ञान होने पर, शुक्तिरूप अधिष्ठान के ज्ञात हो जाने पर बुद्धिकल्पित रजत विलीन हो जाता है उसी प्रकार चक्षुःसन्निकृष्ट (अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से

संयुक्तप्रपञ्चविषयके ब्रह्मत्वज्ञाने उत्पन्ने बौद्ध एव प्रपञ्चो नश्यति न तु चक्षुर्गृहीतोऽयमित्यर्थः, दशमस्कन्धप्रक्षिप्ताध्यायतृतीयाध्याये, 'रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा'[1] (भाग० १०। १४।२५) इत्यस्य सुबोधिन्याम्[2], "'भवाभवौ' उत्पत्तिनाशौ, 'सर्पोऽयं' 'नायं सर्प' इति स्वबुद्धिकल्पितस्यैव नाशो नान्यस्य'

गृहीत होने वाले) प्रपञ्च के भगवद्रूप होने का ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर बौद्ध अर्थात् बुद्धिकल्पित प्रपञ्च का ही नाश होता है न कि चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत होने वाले इस भगवद्रूप प्रपञ्च का, क्योंकि भागवत के दशमस्कन्ध के प्रक्षिप्त अध्यायों (भाग० १०।१२–१४) में से तीसरे अध्याय के, 'जिस प्रकार रज्जु में सर्प के शरीर की उत्पत्ति और उसका नाश' (भाग० १०।१४।२५) इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि 'रज्जु में कल्पित सर्पशरीर का उत्पन्न होना और नष्ट होना अर्थात् रज्जु में 'यह सर्प है' इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रतीति होने तथा उसके बाद 'यह सर्प नहीं है' इस प्रकार की प्रतीति होने पर, अपनी बुद्धि के द्वारा कल्पित सर्प का ही नाश होता है, अन्य का नहीं'

---

१. आत्मानमेवात्मतया विजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥
(भाग० १०।१४।२५) ।

२. "ते हि आत्मानमेवात्मतया जानन्ति, अतः तेनैव भ्रमाद् यावज्जातं निखिलम् अपि प्रपञ्चितं प्रपञ्चाकारेणात्मीयतया परिकल्पितं ज्ञानेन भूयोऽपि तद् एव तावन्मात्रमेव लीयते न तु कृतिसाध्यम् । तत्र दृष्टान्तः, रज्ज्वाम् अहेः कल्पितस्यैव सर्पस्य भोगस्य कायस्य भवाभवौ उत्पत्तिनाशौ, सर्पोऽयं नायं सर्प इति स्वबुद्धिकल्पितस्यैव नाशो नान्यस्य जगतो भगवत्कृतस्य नापि स्वकृतस्य भ्रमात् सर्पदेहे रज्जुर्न पुनरावर्तते नायं सर्प इति ज्ञातेऽपि, अतोऽज्ञानकृतमेव निवर्तते नान्यद् इति अहम्ममाभिमान एव गच्छति नान्यत् ।" (सुबोधिनी १०।१४।२५)

(सुबोधिनी १०।१४।२५) इत्युक्तत्वात्। अत एव, '*अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्तात्मा ......किन्तु परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः, ,,तादृशोऽपि भगवद्रूपः*[1]' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३) इति निबन्धोक्तिर्युज्यते, '*विषयो भगवान्*' (सुबोधिनी २।९।३३) इत्युक्तिश्च।

यत्तु 'आधिदैविकः प्रपञ्चो भिन्नः स भगवद्रूपः, अयं प्रतीयमानस्तु ततो भिन्नो मृषा एव' इत्याहुः, तन्न, आधिदैविकस्यातीन्द्रियत्वेन चक्षुरादिग्राह्यत्वाभावादधिष्ठानचाक्षुषसामान्यज्ञानाभावेन चाक्षुषभ्रम एव न स्यात्, चाक्षुषभ्रमं

(सुबो० १०।१४।२५)। इसीलिये तत्त्वार्थदीपनिबन्ध का, 'यह प्रपञ्च प्राकृत अर्थात् प्रकृतिजन्य नहीं है। यह परमाणुजन्य भी नहीं है। यह विवर्तरूप भी नहीं है अर्थात् ब्रह्म का अतात्त्विक अन्यथाभाव भी नहीं है।... किन्तु यह जगत् भगवान् का कार्य है। भगवान् परमकाष्ठापन्न वस्तु हैं और इस जगत् की सृष्टि उन्हीं के प्रयत्न से हो सकती है। यह जगत् भगवान् का कार्य होते हुए भी भगवद्रूप है' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३) यह कथन तथा सुबोधिनी में कहा गया श्रीवल्लभाचार्य का 'विषय भगवान् हैं' (सुबोधिनी २।९।३३) यह वाक्य भी उपपन्न है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि आधिदैविक प्रपञ्च इस प्रतीयमान प्रपञ्च से भिन्न है और वह भगवद्रूप है किन्तु यह प्रतीयमान प्रपञ्च उससे भिन्न और मिथ्या ही है, लेकिन उन लोगों का यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आधिदैविक प्रपञ्च के अतीन्द्रिय होने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य न होने से मिथ्यारूप में प्रतीत होने की सम्भावना ही नहीं रहती। चाक्षुषभ्रमरूप विशेषज्ञान की सम्भावना वहीं होगी जहाँ चाक्षुषज्ञानरूप सामान्य ज्ञान सम्भव हो, किन्तु आधिदैविक

---

१. द्रष्टव्य, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध की स्नेहप्रपूरणी, पृष्ठ ७६।

प्रति चाक्षुषसामान्यज्ञानस्य कारणत्वात्। तस्मादयमेवास्मदादीन्द्रियैर्गृह्यमाणः प्रपञ्चो ब्रह्मात्मकः। अस्मिन्नेव प्रपञ्चे मायामोहितबुद्ध्या मायिकः प्रपञ्चः कल्प्यते, तस्यैव मिथ्यात्वम्, स हि आन्तरो न बाह्यः, न तु अस्य (मिथ्यात्वम्); अन्यथा सिद्धान्तमुक्तावल्याम्, '*अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः*'[1] (सिद्धान्तमुक्तावली, ४) इत्युक्त्वा, '*मायिकं*

प्रपञ्चरूप अधिष्ठान के अतीन्द्रिय होने के कारण उसका चाक्षुषज्ञानरूप सामान्यज्ञान नहीं हो सकता और अधिष्ठान के चाक्षुषज्ञान रूप सामान्यज्ञान के अभाव में चाक्षुषभ्रमरूप विशेषज्ञान के लिये अवकाश ही न रहेगा। अतः हम लोगों की इन्द्रियों द्वारा गृहीत हो रहा यह परिदृश्यमान प्रपञ्च ही ब्रह्मात्मक है। इसी प्रपञ्च में माया से मोहित बुद्धि द्वारा मायिक प्रपञ्च की कल्पना की जाती है, और मिथ्या वह मायिक प्रपञ्च ही होता है—जो आन्तर होता है बाह्य अर्थात् बहिर्देश में अवस्थित नहीं—न कि यह परिदृश्यमान प्रपञ्च। तात्पर्य यह है कि यह परिदृश्यमान जगत् मिथ्या नहीं है। यदि इस प्रपञ्च को मिथ्या (मानने के उपर्युक्त मत को वल्लभाभिमत) स्वीकार कर लिया जाये तो सिद्धान्तमुक्तावली में कहे गये श्रीवल्लभाचार्य के उन वाक्यों का विरोध होगा जिनमें उन्होंने 'अक्षर ब्रह्म के उपर्युक्त दो रूपों में से प्रथम रूप (या प्रपञ्च रूप में आविर्भूत अक्षर ब्रह्म अर्थात् जगत्) के सम्बन्ध में विभिन्न वादियों ने वैदिक मत से भिन्न मत का अनेक रूपों में प्रतिपादन किया है' (सिद्धान्तमुक्तावली, ४) इत्यादि कह कर, 'मायावादी

---

१. 'अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥' (सिद्धान्तमु० ४)।

"विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः, 'अपरम्' इति। वेदमताद् अपरं भिन्नं मतं, पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते, तत्र अक्षरे ब्रह्मणि इत्यर्थः। मायिकम् इति मायावादिनः, सगुणं गुणकार्यमिति

सगुणम्" (सिद्धान्तमुक्तावली, ४) इत्यादिना परमतान्युपन्यस्य, '*तदेवैतत्प्रकारेण भवति*' (सिद्धान्तमुक्तावली, ५) इत्यन्तोक्तिरपि विरुध्येत, एवं तस्य मिथ्यात्वाङ्गीकार आधिदैविकस्य चक्षुराद्यविषयीभूतस्य सत्यत्वाङ्गीकारेण परमतस्वमतयोर्भिन्नविषयत्वेन निराकरणानर्हत्वात्। न हि परे आधिदैविकं प्रपञ्चं

इसे मायिक बताते हैं और साङ्ख्य दार्शनिक इसे सगुण अर्थात् गुणों का कार्य मानते हैं' (सिद्धान्तमुक्तावली, ४) इत्यादि वाक्य द्वारा परपक्षियों के मतों को उपन्यस्त कर, 'वह अक्षर ब्रह्म ही इस प्रपञ्च के रूप में आविर्भूत होता है' (सिद्धान्तमुक्तावली, ५) इत्यादि वाक्यों द्वारा इसी प्रपञ्च के ब्रह्मात्मक होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, क्योंकि (श्रीवल्लभाचार्य के) दृश्यमान प्रपञ्च को मिथ्या मानने और चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य, इन्द्रियातीत आधिदैविक प्रपञ्च को सत्य मानने पर तो (परपक्ष के परिदृश्यमान प्रपञ्च को मिथ्या कहने और सिद्धान्ती के आधिदैविक प्रपञ्च को सत्य कहने की स्थिति में) परपक्षी और सिद्धान्ती के विषयों के परस्पर भिन्न होने के कारण (उनके द्वारा) परपक्षियों के मतों के निराकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। परपक्षी आधिदैविक प्रपञ्च को मिथ्या

सांख्याः, कार्यं द्व्यणुकादिक्रमेण ईश्वरकार्यमिति नैयायिकाः, स्वतन्त्रं न कदाचिदनीदृशं जगद् इति मीमांसकाः, चकारेण वेदबाह्यमतानि संगृह्यन्ते।" (श्रीविट्ठलनाथकृता सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिः, ४)।

"इदं तु ब्रह्मणो भौतिकं प्रपञ्चात्मकरूपं नाशोत्पत्तिमत्त्वेन भासमानत्वात् मायिकं सगुणम् इत्याद्यज्ञानविलासैः विकल्प्यते। वस्तुतस्तु....... इत्यादिश्रुतिन्यायजातैः अक्षरात्मकमुररीकार्यम्, तत्र नाशोत्पत्तिप्रतीतिभ्रान्त्या आविर्भावतिरोभाववत्त्वेन नित्यत्वात्।" (श्रीबालकृष्णभट्टकृता सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना, ४)।

१. देखिये, ऊपर पृष्ठ २४० टिप्पणी १।

मृषा वदन्ति, यदुपरि दूषणानि स्युः। अपि च परिदृश्यमानस्याविर्भावतिरोभावौ स्वीकृत्य भावविकारप्रतीतेर्मिथ्यात्वमङ्गीकृत्य एतस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वं भाष्य-निबन्ध-विद्वन्मण्डनादौ सर्वत्र स्वीकृतं तदपि विरुध्येत, प्रतीयमानप्रपञ्चस्य मृषात्वाङ्गीकारेण तादृक्प्रपञ्चे जायमानानां नाशोत्पत्त्यादिप्रतीतीनामभ्रान्तत्वेन भ्रान्तत्वकथनस्यैव दूष्यत्वापत्तेः, परिदृश्यमानस्य मिथ्यात्वाङ्गीकारे दूष्यग्रन्थस्वग्रन्थयोरैक्यापत्तेश्च। अन्यच्च *'मुक्तिः कल्पितवाक्यतः'*[1] (शास्त्रार्थप्र० का० ७९) इत्यादिनिबन्धवाक्यैः गुर्वादीनां कल्पितत्वज्ञापयेत्यादिदूषण-

---

नहीं कहते अतः यह नहीं कहा जा सकता कि (सिद्धान्तमुक्तावली, ५ में) उनके मतों का खण्डन आधिदैविक प्रपञ्च के मिथ्यात्व के निराकरण के लिये किया गया है, उनके मत में दोष दिखाने का तात्पर्य यही है कि जिस परिदृश्यमान प्रपञ्च को वे मिथ्या कहते हैं, वह मिथ्या नहीं ब्रह्मात्मक है। इतना ही नहीं, अणुभाष्य, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध और विद्वन्मण्डन आदि सभी ग्रन्थों में परिदृश्यमान प्रपञ्च के आविर्भाव और तिरोभाव होने के सिद्धान्त को स्वीकार कर, इस जगत् की उत्पत्ति और नाश की प्रतीति को मिथ्या मान कर, इस प्रपञ्च के ब्रह्म से अभिन्न होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रपञ्च को मिथ्या मान लेने पर उन सभी वाक्यों का भी विरोध होगा क्योंकि प्रतीयमान प्रपञ्च को मिथ्या स्वीकार कर लेने पर, प्रपञ्च में होने वाली नाश और उत्पत्ति आदि की प्रतीतियों के अभ्रान्त होने से उन्हें भ्रान्त प्रतीतियाँ कहने में दोष होगा। और भी, श्रीवल्लभाचार्य ने तत्त्वार्थदीपनिबन्ध के, 'वे लोग कल्पित (गुरु के) वाक्यों से मुक्ति होने के मत का प्रतिपादन करते हैं' (शास्त्रार्थप्र० का० ७९) इत्यादि वाक्यों द्वारा

---

१. 'तस्य च मोक्षः तेनैव विद्यावत्त्वेनैव कल्पितगुरोरुपदेशवाक्याद् इति।' (शास्त्रार्थप्र० प्र० ७९)।

पुञ्जानां परमत आपादितानां स्वमत आपत्तिः, अतः अस्य परिदृश्यमानजगतो मायिकत्वं नादर्तव्यं सुधीभिः[1]।

पुराणेषु क्वचिदान्तरालिकीं सृष्टिं, क्वचिद्विषयतां, क्वचिद् अहन्ताममतात्मकं संसारमवलम्ब्य मायिकत्वोक्तिः, क्वचिद् वैराग्यार्थञ्च, न वस्तुस्वरूपनिरूपणाय इति स्थितमाकरे। अतोऽयं प्रपञ्चो ब्रह्मात्मक इति सिद्धान्तो निर्दुष्ट एव।

जगन्मिथ्यात्ववादी मायावादी के पक्ष में यह दोष दिखाया है कि प्रपञ्च को मिथ्या मानने से मायावादी को गुरु आदि को भी कल्पित मानना पड़ेगा, अतः इस प्रपञ्च के मिथ्या होने की बात को (श्रीवल्लभाचार्य के द्वारा अनुमोदित) मान लेने पर, प्रतिपक्षी के मत में उद्भावित उपर्युक्त दोष तथा इसी प्रकार के अन्य दोनों के सिद्धान्त में भी होने का अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा अतः विद्वानों को इस परिदृश्यमान जगत् को मायिक मानने के मत का आदर नहीं करना चाहिए।

पुराणों में मायिकत्व की जो बात कही गयी है वह कहीं आन्तरालिकी सृष्टि को लक्ष्य कर, कहीं विषयता को दृष्टि में रखकर और कहीं अहन्ता-ममतात्मक संसार को लक्षित करके ही; कहीं कहीं वैराग्य की भावना को उद्दीप्त करने के उद्देश्य से भी मिथ्यात्व का निरूपण पुराणों में किया गया है, किन्तु (प्रापञ्चिक) वस्तुओं के स्वरूप के निरूपण करने के उद्देश्य से उन्हें मायिक कहीं नहीं कहा गया है, यह बात तत्त्वार्थदीपनिबन्ध[2], सुबोधिनी, अणुभाष्य और विद्वमण्डन आदि आकर ग्रन्थों में भली भाँति प्रतिपादित मिलती है। अतः इस प्रपञ्च को

---

१. जगन्मिथ्यात्व के खण्डन के लिये प्रमेयरत्नार्णवकार द्वारा पुरस्कृत तर्कों के विशद विवरण के लिये सिद्धान्तमुक्तावली की चतुर्थ कारिका की श्रीबालकृष्णभट्टविरचित योजनाटीका (सद्धर्मस्मारकः, वर्ष २, मास १, पृष्ठ ५९—८७ में मुद्रित) देखें।

२. द्रष्टव्य, स्नेहप्रपूरणी, पृष्ठ २७२-२७६; ३०३-३०४ आदि।

न च, 'बुद्धिकल्पितमेव रजतं मायादोषादिवशाद्बहिर्निःसृतं चक्षुषा गृह्यते ततः चक्षुर्ग्राह्यस्यापि रजतस्य मिथ्यात्वं कुतो न?' इति वाच्यम्, भुजङ्गाधिष्ठानकरज्जुस्पार्शनभ्रमे व्यभिचारात्। तथा हि, तमःसङ्घाते हस्तेन भुजङ्गस्पर्शे स्पार्शनसामान्यज्ञानानन्तरं तमोगुणोद्रेकेण माया जीवबुद्धिं व्यामोहयति, तदा भुजङ्ग इति बोधो नोत्पद्यते, ततो रज्जुसंस्कारेण बुद्धी रज्जुं निर्मोति; तद्बौद्धी रज्जुः बहिश्चेन्निस्सरेत्तर्हि करेण गृह्येतैव, भुजङ्गस्य तु हस्तस्पर्शो न स्याद्, रज्ज्वा व्यवधानात्। तथा सति को वा दशेत्? लोके तु तादृशस्थले भुजङ्गस्पर्शस्तत्कृतो दंशश्च श्रूयते। अतो बुद्धिकल्पिताया रज्जोरन्तःस्थितायाः

ब्रह्मात्मक मानने का सिद्धान्त निर्दोष ही है।

'बुद्धि के द्वारा कल्पित किया गया (अर्थात् मिथ्या) रजत ही मायादोषादि के कारण बाहर निकल कर चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है, ऐसी स्थिति में चक्षुर्ग्राह्य (प्रापञ्चिक) रजत को भी मिथ्या क्यों न माना जाये?' यह कहना, अधिष्ठानरूप सर्प को रज्जु समझ कर स्पर्श कर लेने के भ्रम में व्यभिचार होने के कारण ठीक नहीं है। घने अँधेरे में हाथ से सर्प का स्पर्श करने पर स्पर्श का सामान्य ज्ञान होने के बाद, तमोगुण के उद्रेक से माया जीव की बुद्धि को व्यामोह में डाल देती है जिससे उस समय 'यह सर्प है' यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, और तब रज्जु-संस्कार के कारण बुद्धि रज्जु का निर्माण कर लेती है; यह बुद्धिनिर्मित या बुद्धिकल्पित रज्जु यदि बाहर निकल कर बहिर्देश में अवस्थित हो तो इसका हाथ से ग्रहण अवश्य हो और इसके व्यवधान के कारण हाथ से सर्प का स्पर्श भी न हो, तथा ऐसा होने पर सर्पदंश सम्भव ही न हो क्योंकि हाथ से सर्प का स्पर्श न होने पर हाथ में काटेगा कौन? किन्तु लोक में इस प्रकार के (अर्थात् सर्प को रस्सी समझ लेने के) भ्रम के स्थल में, सर्प के स्पर्श (अर्थात् सर्प को रस्सी समझ कर पकड़

बुद्धिविषयत्वमेव, नेन्द्रियविषयत्वम्। इन्द्रियविषयस्तु अधिष्ठानरूपो भुजङ्ग एव इति ज्ञेयम्। अत एव दशमषष्ठाध्याये, '*यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः*'[1] (भाग० १०।६।८) इत्यस्य व्याख्याने, '*रज्जुबुद्धया गृहीतः सर्पः स्वस्पर्शेऽपि न ज्ञानं जनयति*' (सुबोधिनी १०।६।८) इत्युक्त्याधिष्ठानरूपसर्पस्पर्श उक्तः।

एवं शुक्तिरजतादिस्थलेऽपि बोध्यम्। एतेन शुक्त्याद्य-

लेने) और उसके द्वारा काट लिये जाने की बात सुनी जाती है। अतः बुद्धिकल्पित रज्जु अन्तःस्थित ही रहती है और वह बुद्धि का ही विषय होती है इन्द्रिय का नहीं, इन्द्रिय का विषय तो अधिष्ठानरूप सर्प ही होता है, ऐसा समझना चाहिए। इसीलिये श्रीवल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के छठे अध्याय के आठवें श्लोक के, 'जिस प्रकार कोई नासमझ व्यक्ति अज्ञानवश, सोये हुए सर्प को रस्सी समझ कर उठा ले' (भाग० १०।६।८) इस चतुर्थ चरण की अपनी सुबोधिनी व्याख्या में, 'रज्जु समझ कर गृहीत किया गया सर्प, अपना स्पर्श किये जाने पर भी, अपने सर्प होने का ज्ञान उत्पन्न नहीं करता' (सुबोधिनी १०।६।८) इत्यादि वाक्यों द्वारा अधिष्ठानरूप सर्प के स्पर्श किये जाने की बात कही है।

इसी प्रकार शुक्तिरजत आदि के भ्रम के स्थल पर भी समझना

---

१. "ननु, आरोपणे क्रियाशक्तिः प्रबुद्धा कथं न बाधिका जाता इत्याह, 'यथोरगं सुप्तम्' इति। सर्पाणामसितामसत्वात् तेषामत्यन्तं निद्रा, अतो मारणपर्यन्तं न क्रिया तेषु, तथा भगवतोऽपि क्रिया सर्वथा नाविर्भूता। ननु, 'स्पर्शेण ज्ञानशक्तिः तेजः कथं नाविर्भूतम्' इति चेत्, तत्राह, 'अबुद्धिरज्जुधीः' इति। अबुद्धया अज्ञानेन, सर्पे रज्जुधीः यस्य, रज्जुः बन्धिका, सर्पो मारकः, स्नेहेन स्तने दत्ते मय्यनुरक्तो भविष्यतीत्यापाततो बुद्धिः, न तु मारकत्वं जानाति, यथा रज्जुबुद्धया गृहीतः सर्पः स्वस्पर्शेऽपि न ज्ञानं जनयति, अतो भगवज्ज्ञानं तेजोऽपि स्पर्शेन नाविर्भूतमित्यर्थः।" (सुबो० १०।६।८)।

धिष्ठाने माययोत्पादितमनिर्वचनीयं रजतादिकं चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यम् इति वदन्तोऽपि प्रत्युक्ताः। भुजङ्गाधिष्ठानकरज्जुस्पार्शनभ्रमे ह्यनिर्वचनीयाया रज्जोः त्वगिन्द्रियेण ग्रहणाद् अधिष्ठानरूपेण व्यालेन त्वक्सम्बन्धाभावाद् भुजङ्गकृतदंशाभावनियमापत्तेः, त्वगिन्द्रियगोलकयोरेकवस्तुसम्बन्धनियमात् त्वगिन्द्रियगोलकाभ्यां रज्जोः सम्बन्धात् तस्या व्यावहारिकसत्तास्वीकारेण अर्थक्रियाकारितया तद्रज्जुकृताधिष्ठानव्यवधानाद्

चाहिए। इस विवेचन से उन दार्शनिकों के मत का भी खण्डन हो गया (समझना चाहिए) जो यह कहते हैं कि शुक्ति आदि अधिष्ठान में माया द्वारा उत्पन्न किये गये अनिर्वचनीय रजत आदि चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा गृहीत होते है क्योंकि सर्परूप अधिष्ठान में होने वाले 'यह रज्जु है' इस प्रकार के स्पार्शन भ्रम में अनिर्वचनीय रज्जु का त्वगिन्द्रिय से ग्रहण होता है यह मानने पर यह स्वीकार करना होगा कि अधिष्ठानरूप सर्प से त्वगिन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं होता है और तब इस प्रकार के भ्रमस्थल में सर्प द्वारा काट लिये जाने की कोई सम्भावना या आशङ्का नहीं होती यह (अनुभवविरुद्ध) नियम मानने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। त्वक् और त्वगिन्द्रियगोलक नियमतः सदैव एक ही वस्तु से सम्बद्ध रहते हैं अर्थात् जिस विषय या पदार्थ से त्वचा सम्बद्ध होती है उसी से त्वगिन्द्रियगोलक भी सम्बद्ध होता है। उपर्युक्त सर्परज्जुभ्रम में त्वचा और त्वगिन्द्रियगोलक दोनों का (अनिर्वचनीय) रज्जु से सम्बन्ध होता है यह मानने पर रज्जु की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करने के कारण अर्थक्रियाकारित्व के सिद्धान्त के अनुसार उस रज्जु के द्वारा त्वचा और इन्द्रियगोलक अधिष्ठानरूपसर्प से व्यवहित कर दिये जायेंगे अर्थात् अधिष्ठानरूप सर्प, तथा त्वचा और इन्द्रियगोलक के बीच अनिर्वचनीयरज्जुरूप व्यवधान आ जायेगा फलतः अधिष्ठानरूप सर्प से त्वचा और त्वगिन्द्रियगोलक का सम्पर्क न हो सकेगा और सर्प-

इति दिक्।

न च, 'सर्पस्पर्शे स्पार्शनरज्जुभ्रमे यावद्भ्रमम् अनिर्वचनीयया रज्ज्वा सह पुरुषहस्तादिसम्बन्धेऽपि भ्रमनिवृत्त्युत्तरं सर्पस्पर्शात् तत्कृतदंशे को दोषः ?' इति वाच्यम्, रज्जुज्ञानोत्पत्त्यव्यवहितसमये भ्रमनिवृत्तेरसम्भवाद्, अन्यथा भ्रमनिवृत्तिः अनुभूयेत। न च, 'सूक्ष्मकाले जायमाना भ्रमनिवृत्तिः नानुभवयोग्या तत्कालस्य शतपत्रवेधवद्दुर्लक्ष्यत्वाद्', इति वाच्यम्, भ्रमनिवृत्तेरधिष्ठानज्ञानसाध्यत्वेन तद्विरहे तस्या एवासम्भवात्।

दंश की सम्भावना समाप्त हो जायेगी।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक न होगा कि "'सर्प का स्पर्श करने पर उसके रज्जु होने का भ्रम होने के स्थल में भ्रम रहने के समय तक भ्रमग्रस्त पुरुष के हाथ आदि का सम्बन्ध अनिर्वचनीय रज्जु के साथ होता है तथा भ्रम निवृत्त हो जाने के बाद सर्प के साथ, और तब सर्प का स्पर्श होने से सर्पदंश (अर्थात् सर्प द्वारा काट लिया जाना) सम्भव होता है,' यह मान लेने में क्या दोष है ?" क्योंकि जिस क्षण सर्प के रज्जु होने का ज्ञान उत्पन्न होता है उस क्षण से अव्यवहित क्षण में भ्रम की निवृत्ति हो सकना असम्भव है; यदि यह सम्भव होता तो उस समय भी भ्रम की निवृत्ति का अनुभव होता।

पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकता कि "जिस क्षण में भ्रम की निवृत्ति होती है वह बहुत सूक्ष्म होता है अतः उसके शतपत्रवेध की तरह (जैसे सौ पत्ते एक साथ ऊपर नीचे रखकर तीर इत्यादि से छेद दिये जाते हैं तो उनके अतिसूक्ष्मकाल में विद्ध हो जाने के कारण उनमें से एक विशेष पत्ता कब विद्ध हुआ यह ज्ञात नहीं हो पाता उसी प्रकार) दुर्लक्ष्य होने के कारण उसमें होने वाली भ्रमनिवृत्ति का अनुभव नहीं हो पाता," क्योंकि भ्रमनिवृत्ति की सिद्धि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर ही हो सकने के कारण अधिष्ठान के ज्ञान के अभाव में (भ्रमनिवृत्ति) सम्भव ही नहीं हो सकती।

न च, 'दंशातिरिक्तकारणेनाधिष्ठाने ज्ञाते भ्रमनिवृत्तौ रज्जोर्नाशादधिष्ठानसंयोगे दंशः सुवचः', इति वाच्यम्, यत्र दंशहेतुकमधिष्ठानज्ञानं तत्र दंशात्पूर्वं भ्रमनिवृत्तेर्वक्तुमशक्यत्वेन भ्रमसमय एव दंशस्वीकार्यत्वाद् दंशस्य त्वधिष्ठानसम्बन्धहेतुकत्वाद् भ्रमावसर एव इन्द्रियाधिष्ठानयोः सम्बन्धप्राप्तेः भवद्राद्धान्तविरोधात्। एवं मायामोहितबुद्धिकल्पितो मिथ्याभूतः प्रपञ्चोऽपि तादृशबुद्धेरेव विषयो नेन्द्रियविषय इति विद्वद्भिर्विभावनीयम्।

एवं साधितेऽपि स्वसिद्धान्ते एकादशस्कन्धोदितनवयोगि-

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक न होगा कि "सर्पदंश से भिन्न किसी अन्य हेतु के आधार पर रज्जु के अधिष्ठानभूत सर्प का ज्ञान हो जाने पर भ्रम की निवृत्ति हो जाने पर (व्यवधानरूप) सर्परज्जु के नष्ट हो जाने से (भ्रमग्रस्त पुरुष के हस्तादि का रज्जु के) अधिष्ठानरूप सर्प से संयोग होने पर सर्पदंश होता है, यह मानकर सर्पदंश के अनुभव की व्याख्या सरलतापूर्वक की जा सकती है," क्योंकि जहाँ रज्जु के अधिष्ठानभूत सर्प का ज्ञान सर्पदंश से होता है वहाँ सर्पदंश से पूर्व भ्रमनिवृत्ति होने की बात नहीं कही जा सकती अतः भ्रमकाल में ही सर्पदंश होने की बात माननी होगी तथा (भ्रमग्रस्त पुरुष के हस्तादि में होनेवाले) सर्पदंश के (उस पुरुष के हस्तादि के,) अधिष्ठानभूत सर्प के सम्बन्ध में आने पर ही सम्भव होने के कारण, भ्रमकाल में ही त्वगादि इन्द्रिय और (सर्परज्जु के) अधिष्ठानभूत सर्प के सम्बन्ध की बात स्वीकार करनी होगी और इसे स्वीकार करने पर पूर्वपक्षी के सिद्धान्त का विरोध होगा। इसी प्रकार माया-मोहित बुद्धि के द्वारा कल्पित मिथ्याभूत प्रपञ्च भी माया के द्वारा मोहित बुद्धि का ही विषय है (अर्थात् बुद्धि द्वारा ही गृहीत होता है) न कि इन्द्रिय का (अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा गृहीत नहीं होता) ऐसा विद्वानों को विचार करके समझ लेना चाहिए।

प्रसङ्गीयप्रश्नोत्तरवाक्येषु पदार्थशोधनाभावाद्भ्रमः सम्भवति, तथा सति साधितोऽपि राद्धान्तः शिथिल इव प्रतिभायाद्, अतः साधितराद्धान्तदार्ढ्याय नवयोगिप्रसङ्गीयप्रश्नोत्तरवाक्यानां तत्रत्यसुवोधिनोवाक्यानाञ्चार्थः पूर्वपक्षोत्तरपक्षनिरूपणपूर्वकं विमृश्यते ।

तथा हि, "एकादशे निमिनवयोगिप्रसङ्गे, *'परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् । मायां वेदितुमिच्छामः'* (भाग० ११।३।१) इति निमिना मायास्वरूपे पृष्टे, अन्तरिक्षेण, *'एभिर्भूतानि भूतात्मा'* (भाग० ११।३।३) इत्यादिना

इस प्रकार सिद्धान्ती द्वारा अपने सिद्धान्त की सिद्धि कर दिये जाने के वाद भी, भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के नौ योगियों के प्रसङ्ग में निमि के प्रश्नों और योगियों द्वारा दिये गये उनके उत्तरों के वाक्यों में आये 'माया' पद के अर्थ के शोधन के अभाव में 'माया' के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रम होना सम्भव है और ऐसी स्थिति में ब्रह्मवादी द्वारा सिद्ध किये जाने के वावजूद भी उसका सिद्धान्त शिथिल प्रतीत हो सकता है अतः अब यहाँ पहले ही सिद्ध किये जा चुके सिद्धान्त को सुदृढ़ करने के लिये निमि और नौ योगियों के प्रसङ्ग के प्रश्नों और उत्तरों के वाक्यों तथा उनकी सुबोधिनी टीका के वाक्यों के अर्थ का पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष के निरूपणपूर्वक विचार किया जाता है ।

यहाँ मायावादी अधोलिखित पूर्वपक्ष पुरस्कृत करता है । "भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में निमि और नौ योगियों के प्रसङ्ग में निमि के 'हम पूर्ण, परमेश्वर भगवान् विष्णु की ज्ञानियों को भी मोह में डाल देने वाली माया को जानना अर्थात् समझना चाहते हैं'[1] (भाग० ११।३।१) इत्यादि वाक्य द्वारा माया का स्वरूप पूछने पर, उन नौ

---

१. द्रष्टव्य, भाग० ११।३।१ की वंशोधरकृतप्रकाशसहित श्रीधरस्वामिविरचित भावार्थदीपिका टीका ।

सृष्टिर्निरूपिता । तेन मायायाः स्वरूपप्रश्नात् तदनुरूपमेवोत्तरेण भाव्यम् । इह तु प्रपञ्चोत्पत्तिरुत्तरे निरूपिता, अतो ज्ञायते प्रपञ्चो मायाकार्यः, अन्यथा मायाप्रश्ने कृते प्रपञ्चम् उत्तरे न वदेत् । तथा च प्रपञ्चनिरूपणे माया निरूपिता भवति इति मायायाः कार्यलक्षणं सिद्ध्यति । एवं सति प्रपञ्चस्य मायिकत्वमायाति न ब्रह्मता", इति पूर्वपक्षे, स्वसिद्धान्तं वक्तुं

योगियों में से एक अन्तरिक्ष के 'भूतात्मा अर्थात् भूतों के कारणरूप आदि पुरुष ने (जिस शक्ति से) इन स्वनिर्मित महाभूतों से उच्चावच भूतों (प्राणियों) की सृष्टि की[1]' (भाग० ११।३।३) इत्यादि वाक्यों द्वारा सृष्टि की निरूपण करने का वर्णन मिलता है । माया के स्वरूपविषयक प्रश्न का उत्तर भी तदनुरूप ही होना चाहिए । यहाँ इस प्रश्न का उत्तर भी तदनुरूप ही होना चाहिए । यहाँ इस प्रश्न के उत्तर में प्रपञ्च की उत्पत्ति का निरूपण किया गया है । इससे ज्ञात होता है कि प्रपञ्च माया का कार्य है (यह सिद्धान्त ही अन्तरिक्ष का प्रतिपाद्य है), अन्यथा माया के स्वरूपसम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में अन्तरिक्ष प्रपञ्च का निरूपण न करते । (अन्तरिक्ष का अभिप्राय यह है कि) प्रपञ्च का निरूपण करने से माया का निरूपण हो जाता है (तात्पर्य यह है कि माया का स्वरूपतः निरूपण असम्भव होने के कारण उसके अर्थात् माया के कार्यरूप जगत् द्वारा उसका निरूपण किया जाता है) और इस प्रकार माया के कार्यलक्षण (अर्थात् 'माया वह है जिसका कार्य यह जगत् है' इस लक्षण[2]) की सिद्धि हो जाती है अर्थात् इस लक्षण का प्रतिपादन हो जाता है । इस प्रकार प्रपञ्च का मायिक होना ही (भागवतसम्मत सिद्धान्त) सिद्ध होता है, न कि ब्रह्मरूप होना ।"

१. द्रष्टव्य, भाग० ११।३।३ की प्रकाशसहित भावार्थदीपिका टीका ।

२. "मायायाः स्वरूपतो निरूपणासम्भवात् सृष्ट्यादिकार्यद्वारेण निरूपयितुमाह ('मायाया नीरूपत्वेन स्वरूपतो निरूपणं न सम्भवति इति

प्रपञ्चस्य भगवदात्मकत्वसाधनाय श्रीमदाचार्यचरणा अन्तरिक्ष-दत्तोत्तराशयं विशदयितुं मायाशब्दस्य शक्तिं निरूपयन्ति, '*मायाशब्दः शास्त्रेषु*' (सुबोधिनी ११।३।३) इत्यारभ्य, '*तथा प्रयुक्तः शब्द*' (सुबोधिनी ११।३।३) इत्यन्तेन[१]। तथा च, भगवतः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया, व्यामोहिका माया, ऐन्द्रजालिकविद्या, कापट्यादि चेति चत्वारो मायाशब्दार्थाः।

मायावादी द्वारा पूर्वोक्त रीति से पूर्वपक्ष प्रस्तुत करने पर, उसका खण्डन कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेके उद्देश्य से, प्रपञ्च के भगवदात्मक होने की सिद्धि करने के लिये, श्रीवल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी टीका में **'माया शब्द शास्त्रों में'** (सुबो० ११।३।३) इत्यादि वाक्यांश से लेकर, **'उन विभिन्न अर्थों में (माया शब्द) प्रयुक्त किया गया है'** (सुबो० ११।३।३) इत्यादि वाक्यांश तक, अन्तरिक्ष द्वारा निमि को दिये गये उत्तर का आशय स्पष्ट करने के लिये माया शब्द की शक्ति का (अर्थात् माया शब्द का प्रयोग कितने अर्थों में होता है इसका) निरूपण किया है और यह बताया है कि माया शब्द के चार अर्थ हैं भगवान् की सर्वभवनसामर्थ्यरूप माया, व्यामोहिका माया,

---

सृष्ट्यादिलक्षणं यन्मायाकार्यम् तद्द्वारेण तद्द्वारीकृत्य मायां निरूपयितुम् सृष्ट्यादि मायाकार्यमाह इत्यर्थः'—प्रकाशः)।" (भाग० ११।३।३ की भावार्थदीपिका टीका)। मिलाइये,

'कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।'(विवेकचूडामणि ११०)

१. 'मायाकथने' स्वयमसंसक्तोऽन्तरिक्ष उवाच। मायाशब्दः शास्त्रेषु लोके च बहुधा प्रयुक्तः, सर्वभवनसामर्थ्यं, व्यामोहिका च शक्तिः, ऐन्द्रजालिकविद्या च, कापट्यादि च तत्तद्रूपनिरूपणार्थं तथा तथा प्रयुक्तः शब्दः। समाधावपि एकैव शक्तिरुभयकार्यरूपोक्ता। प्रवाहस्तु अत्र मायाशब्देन उच्यते। स च भगवत्कृतो भगवद्रूपश्च।' (सुबोधिनी ११।३।३)। द्रष्टव्य, सूक्ष्मटिप्पणीप्रकाशः ११।३।३।

ननु अत्र भगवतः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया, व्यामोहिका माया च पृथग्गणिता। व्यासः समाधौ तु,

'अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदुपाश्रयाम्।

यया सम्मोहितो जीव'' (भाग० १।७।४-५) इति वाक्याद् व्यामोहिकामेव मायां दृष्टवान्। समाधेश्च मुख्यं प्रामाण्यम्। तथा च मायाया व्यामोहकत्वमेव, न सर्वभवनसामर्थ्यरूपता

ऐन्द्रजीलिक विद्या और कपटता आदि।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सुबोधिनी के उपर्युक्त वाक्यों में भगवान् की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया और व्यामोहिका माया को अलग-अलग गिनाया गया है किन्तु जैसा कि भागवत के, 'व्यास ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु को तथा उनकी आश्रित उस माया को भी देखा जिसके द्वारा सम्मोहित जीव' (भाग० १।७।४–५) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है, व्यास ने समाधि में व्यामोहिका माया को ही देखा था और समाधि की प्रामाणिकता प्रमुख (अर्थात् अधिक) है अतः माया को

---

१. "तत्र यद्दृष्टवान् तदाह 'अपश्यद्' इति द्वयेन।
साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा।
तया सर्वत्र संमोहः साक्षाद्भक्तिश्च मोचिका॥

इति पूर्णं पुरुषं पुरुषोत्तमं ('पुरा आस' इति व्युत्पत्त्या पुरुषपदेनैव पुरुषोत्तमप्राप्तेः पूर्णपदमनतिप्रयोजनमित्यरुच्या पूर्णपदस्य प्रयोजनान्तरमाहुः,) जीवराशिभिराकीर्णं ब्रह्माण्डकोटिभिर्वा मायाञ्च अपश्यद् भगवदेकशरणाम्। तस्याः कार्यञ्चापश्यत् 'यया संमोहितः' इति। यद्यपि प्रपञ्चोऽपि तस्याः कार्यं तथापि तत्र कारणत्वेन तस्या अन्वयः संमोहने तु कर्तृत्वेन स्वातन्त्र्यात्, एतदेवाह, 'यया' इति। वस्तुता जीवोऽपि ब्रह्मैव इति परोऽपि प्रकृतेर्नियामकोऽपि त्रिगुणात्मकं गुणत्रयभावापन्नं जडरूपं मन्यते तत्कृतञ्च अनर्थं जन्ममरणादि प्राप्नोति।" (प्रकाशसहिता सुबोधिनी १।७।४–५)। द्रष्टव्य, भाग० १।७।४-५ की बालप्रबोधिनी।

इत्याशङ्क्य समादधते, *'समाधावपि'* (सुबोधिनी ११।३।३) इत्यादिना। सर्वभवनसामर्थ्यरूपाया मायाया एव रूपान्तरं व्यामोहिका माया अतो व्याससमाधावेकस्या एवोक्तिः, तयैव द्वितीयाप्यायातीति न कश्चिद्दोषः।

ननु अत्र तु प्रपञ्चसृष्टिरुत्तरे निरूपिता; न तु पूर्वोक्तेषु चतुर्षु अन्यतरद्, इत्याशङ्क्याहुः, *'प्रवाहस्तु'* (सुबोधिनी ११। ३।३) इति। तु शब्दः प्रकारान्तरबोधकः। तथा च अत्र माया-

---

व्यामोहक ही मानना चाहिए, सर्वभवनसामर्थ्यरूप नहीं।

पूर्वपक्षी की इस उपर्युक्त आशङ्का का समाधान श्रीवल्लभाचार्य 'समाधि में भी' (सुबोधिनी ११।३।३) इत्यादि वाक्य से करते हैं। उनके 'समाधानप्येकैव शक्तिरुभयकार्यरूपोक्ता' (सुबो० ११।३।३) इस कथन का तात्पर्य यही है कि व्यामोहिका माया सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया का ही रूपान्तर है अतः व्यास की समाधि में एक ही माया के दर्शन होने की बात कही गयी है और उसी के उल्लेख से दूसरी (अर्थात् सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया) भी अर्थोपात्त हो जाती है। इस प्रकार व्यास की समाधि में एक ही माया का उल्लेख होने पर भी वल्लभाचार्य के सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया और व्यामोहिका माया का अलग-अलग उल्लेख करने में कोई दोष नहीं है।

"उपर्युक्त प्रसङ्ग (भाग० ११।३) में निमि के माया के स्वरूप-विषयक प्रश्न के उत्तर में अन्तरिक्ष ने पूर्वोक्त सुबोधिनी के वाक्य (सुबो० ११।३।३) में उल्लिखित माया के चार रूपों में से किसी एक का भी निरूपण न कर प्रपञ्चसृष्टि का निरूपण किया है", इस आशङ्का का समाधान करने के लिये कहते हैं 'प्रवाहस्तु अत्र मायाशब्देन उच्यते' अर्थात् प्रकृत प्रसङ्ग में माया शब्द से अभिप्राय प्रवाह (अर्थात् सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा माया द्वारा की गयी सृष्टि) से है। इस वाक्य में प्रयुक्त 'तु' शब्द प्रकारान्तर का बोधक है। तात्पर्य यह है कि प्रकृत प्रसङ्ग में

शब्देन सर्वभवनसामर्थ्यरूपमायाकरणकः सृष्टिप्रवाह उच्यत इत्यर्थः। अतः चतुर्ष्वेवान्तर्भाव इति भावः। तस्य प्रवाहस्य स्वरूपमाहुः, *'स च भगवत्कृतो भगवद्रूपश्च'* (सुबोधिनी ११।३।३) इति। *'आत्मानं स्वयमकुरुत'* (तैत्ति० उप० २।७) इत्यादिश्रुतिः। अत एव निवन्ध उक्तम्, *'प्रपञ्चो भगवत्कार्यः तद्रूपः'* (शास्त्रार्थप्र० का० २३) इति।

ननु एवं प्रपञ्चस्य भगवद्रूपत्वे तत्र मायाशब्दप्रयोगो नोचित इत्याशङ्क्याहुः, *'विषयैश्च व्यामुग्धाः सर्वे भवन्ति'* (सुबोधिनी ११।३।३) इति। तथा च विषयरूपस्य प्रपञ्चस्य विचित्रत्वेन

माया शब्द से सर्वभवनसामर्थ्यरूप माया द्वारा किये जाने वाले सृष्टि-प्रवाह का बोध होता है अतः प्रपञ्चसृष्टिनिरूपण का भी माया के उपर्युक्त चार रूपों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उस सृष्टिप्रवाह का स्वरूप बताते हैं, 'वह सृष्टिप्रवाह अर्थात् प्रपञ्च भगवत्कृत है और भगवद्रूप भी है' (सुबो० ११।३।३)। श्रुति में भी कहा गया है कि 'उसने स्वयं अपने को (जगद्रूप से) रचा' (तैत्ति० उप० २।७) इत्यादि। इसीलिये तत्त्वार्थदीपनिबन्ध में श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि 'प्रपञ्च भगवान् का कार्य है और भगवद्रूप है' (शास्त्रार्थप्र० प्र० २३)।

पूर्वपक्षी कहता है कि "यदि प्रपञ्च सचमुच भगवद्रूप है तो उसके लिये माया शब्द का (भागवतादि शास्त्रों में) प्रयोग उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रपञ्च को भगवद्रूप मानने का सिद्धान्ती का मत स्वीकार कर लेने पर उसके लिये भागवतादि शास्त्रों में माया शब्द का प्रयोग अव्याख्येय और अनुपपन्न हो जायेगा।" पूर्वपक्षी की इस आशङ्का का समाधान करने के लिये श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि 'विषयों (अर्थात् विषयरूप प्रपञ्च) से सभी लोग व्यामुग्ध अर्थात् मोहित हो जाते हैं' (सुबो० ११।३।३)। तात्पर्य यह है कि शास्त्रों में प्रपञ्च के लिये माया शब्द का प्रयोग उसको मायिक बताने के अभिप्राय

व्यामोहकत्वात्प्रपञ्चे मायाशब्दः प्रयुक्तो न तु मायिकत्वमभिप्रेत्य इत्यर्थः ।

एवं सर्वभवनसामर्थ्यं, व्यामोहिका माया, ऐन्द्रजालिकविद्या, कापट्यं, मायाकरणको भगवदात्मकः प्रपञ्चश्च इति पञ्चसु पदार्थेषु मायाशब्दं शिष्टाः प्रयुञ्जन्ते, तेषु अत्र कोऽर्थो वाच्यत्वेन युक्त इत्याहुः *'अतोऽत्र'*[1] (सुबोधिनी ११।३।३) इति। सिद्धान्तमाहुः, *'माया शक्तिर्भगवतः'* (सुबोधिनीका० ११।३।३।१)

से नहीं प्रत्युत उसके (अर्थात् विषयरूप प्रपञ्च के) विचित्र होने के कारण व्यामोहक होने से किया गया है।

इस प्रकार शिष्ट लोग माया शब्द का प्रयोग सर्वभवनसामर्थ्य, व्यामोहिका माया, ऐन्द्रजालिक विद्या, कपटता तथा मायाकरणक (अर्थात् माया द्वारा सृष्ट) भगवदात्मक प्रपञ्च इन पाँच पदार्थों के बोधक के रूप में करते हैं। प्रकृत प्रसङ्ग में माया शब्द का वाच्यार्थ उपर्युक्त पाँच पदार्थों में से कौन है यह बताने के लिये श्रीवल्लभाचार्य 'अतः प्रकृत प्रसङ्ग में माया शब्द का कौन सा अर्थ मानना ठीक है इस प्रश्न का उत्तर देते हैं' (सुबो० ११।३।३) इत्यादि वाक्य द्वारा अपने मत को (कारिकाबद्ध रूप में) पुरस्कृत करते हैं। श्रीवल्लभाचार्य 'माया भगवान् की शक्ति है' (सुबो० का० ११।३।३।१) इत्यादि कारिकाओं द्वारा मायासम्बन्धी अपने ब्रह्मवादसिद्धान्त का उपपादन

---

१. 'अतोऽत्र किं युक्तम् इति चेद् ? उच्यते,
माया शक्तिर्भगवतः नात्र कार्या विचारणा ।
समाधौ तु तथा भानात् प्रयोगस्तु विचार्यते ॥ १ ॥
विचारे भगवद्वाक्यं लक्षणं कार्यगोचरम् ।
प्रतीतिश्चाप्रतीतिश्च साधिष्ठानस्य तद्धि हि ॥ २ ॥
सुवर्णजलवत्कार्ये प्रक्रियेयं पुराणगा ।
तया सह क्रीडितुं क्वापिच्छादनं वा सतोऽपि वा ॥३॥' (सुबोधिनी ११।३।३)।

इति। 'मम माया दुरत्यया' (गीता ७।१४) इति गीतोपनिषद्ग्रन्थः। अत एव आहुः, 'नात्र कार्या' (सुबोधिनीका० ११।३।३।१) इति। तर्हि विचारस्य क्वोपयोग इत्याशङ्क्याहुः, 'समाधौ तु' (सुबोधिनीका० ११।३।३।१) इत्यादि। व्यासकृतसमाधौ तु व्यामोहकत्वेन मायाया दर्शनात् तत्र तादृश्यां व्यामोहिकायां शक्त्यां मायाशब्दप्रयोग उचितः, अत्र तु सृष्टिप्रवाहे मायाशब्दप्रयोगः किम्प्रयोजकः किन्निबन्धन इति विमृश्यत इत्यर्थः। 'विचारे' (सुबोधिनीका० ११।३।३।२) इति। विचारे क्रियमाणे 'भगवद्वाक्यम्' (सुबोधिनीका० ११।३।३।२), 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत'

करते हैं। गीतोपनिषद् के 'मेरी माया दुरत्यय 'अर्थात् दुरतिक्रमा है' (गीता ७।१४) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि माया भगवान् की शक्ति है, इसीलिये श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि 'इस विषय में (अर्थात् माया के भगवान् की शक्ति होने के विषय में) विचार करने की आवश्यकता या सन्देह करने की गुञ्जाइश नहीं है' (सुबो० का० ११।३।३।१)। (तात्पर्य यह है कि गीतोपनिषत्प्रसिद्ध, शब्दप्रमाण से सिद्ध बात की विचार या तर्क से सिद्धि करने की आवश्यकता नहीं है और तर्क से इसका निराकरण भी सम्भव नहीं है)। '(यदि यहाँ नहीं) तो विचार का उपयोग कहाँ है' इस आशङ्का का समाधान करने के लिये कहते हैं, 'समाधौ तु' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि व्यास द्वारा समाधि में माया का व्यामोहिका माया के रूप में दर्शन किये जाने से वहाँ (अर्थात् भाग० १।७।४–५ में) उस व्यामोहिका शक्ति के लिये माया शब्द का प्रयोग उचित ही है, किन्तु यहाँ (अर्थात् भाग० ११।३।३ आदि में) सृष्टिप्रवाह के लिये माया शब्द का प्रयोग किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये और क्यों हुआ है यह विचार किया जाता है। 'विचारे' इस पद से प्रारम्भ होने वाली सुबोधिनीकारिका (सुबो० का० ११।३।३।२) का अर्थ स्पष्ट करते हैं। विचार करने पर

(भाग० २।९।३३) इति वाक्यमित्यर्थः । '*लक्षणम्*' (सुबोधिनीका० ११।३।३।२) इति, व्यामोहिकामायाया ज्ञापकम् इत्यर्थः । लक्षणस्य स्वरूपमाहुः, '*कार्यगोचरम्*' (सुबोधिनीका० ११।३।३।२) इति, कार्यलक्षणमित्यर्थः । एवं व्यामोहिकामायायाः कार्यलक्षणमुक्तम् ।

ननु 'एतस्या व्यामोहिकाया एव कार्यं जगद् इत्येव मन्तव्यम्, बहुभिरादृतत्वात्; ततश्च एतस्य विश्वस्य मिथ्यात्वमेव उररीकार्यम्', इत्याशङ्क्य, 'नेदं जगद् व्यामोहिकायाः कार्यमपि तु स्वसर्वभवनसामर्थ्यरूपमायया भगवानेव स्वात्मस्वरूपं जगन्निर्मिमीते' इत्याहुः, '*सुवर्णजलवत् कार्ये*' (सुबो-

---

'जो अर्थ के विना भी (या अभाव में) प्रतीत हो अर्थात् वस्तु का अपने स्वरूप से अन्यथा प्रतीत होना' (भाग० २।९।३३) इत्यादि भगवद्वाक्य व्यामोहिका माया का कार्यलक्षण अर्थात् ज्ञापक ज्ञात होता है । उपर्युक्त कारिका में प्रयुक्त '**कार्यगोचरम्**' पद से लक्षण का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' (भाग० २।९।३३) इत्यादि भगवद्वाक्य व्यामोहिका माया का कार्यलक्षण है[1] । इस प्रकार (सुबो० का० ११।३।३।२ में) व्यामोहिका माया के कार्यलक्षण का निरूपण किया गया है ।

पूर्वपक्षी का कहना है कि, "'यह जगत् इस व्यामोहिका माया का ही कार्य है' इस मत के अनेक लोगों द्वारा समादृत होने के कारण इसे ही मान लेना चाहिए और 'इस समग्र प्रपञ्च का मिथ्या होना' ही ठीक सिद्धान्त है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए" । पूर्वपक्षी की इस आशङ्का का उल्लेख कर इसका समाधान करने के उद्देश्य से 'यह जगत् व्यामोहिका माया का कार्य नहीं है प्रत्युत स्वयं भगवान् ही अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया से इस स्वात्मस्वरूप (अर्थात् भगवद्रूप) जगत् का निर्माण करते हैं' यह प्रतिपादित करने के लिये श्रीवल्लभाचार्य

---

१. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ ११ ।

इति । '*मम माया दुरत्यया*' (गीता ७।१४) इति गीतोपनिषद्भ्यः । अत एव आहुः, '*नात्र कार्या*' (सुबोधिनीका० ११।३।३।१) इति । तर्हि विचारस्य क्वोपयोग इत्याशङ्क्याहुः, '*समाधौ तु*' (सुबोधिनीका० ११।३।३।१) इत्यादि । व्यासकृतसमाधौ तु व्यामोहकत्वेन मायाया दर्शनात् तत्र तादृश्यां व्यामोहिकायां शक्त्यां मायाशब्दप्रयोग उचितः, अत्र तु सृष्टिप्रवाहे मायाशब्दप्रयोगः किम्प्रयोजकः किन्निबन्धन इति विमृश्यत इत्यर्थः । '*विचारे*' (सुबोधिनीका० ११।३।३।२) इति । विचारे क्रियमाणे '*भगवद्वाक्यम्*' (सुबोधिनीका० ११।३।३।२), '*ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत*'

करते हैं । गीतोपनिषद् के 'मेरी माया दुरत्यय अर्थात् दुरतिक्रमा है' (गीता ७।१४) इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि माया भगवान् की शक्ति है, इसीलिये श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि 'इस विषय में (अर्थात् माया के भगवान् की शक्ति होने के विषय में) विचार करने की आवश्यकता या सन्देह करने की गुञ्जाइश नहीं है' (सुबो० का० ११।३।३।१) । (तात्पर्य यह है कि गीतोपनिषत्प्रसिद्ध, शब्दप्रमाण से सिद्ध बात की विचार या तर्क से सिद्धि करने की आवश्यकता नहीं है और तर्क से इसका निराकरण भी सम्भव नहीं है) । '(यदि यहाँ नहीं) तो विचार का उपयोग कहाँ है' इस आशङ्का का समाधान करने के लिये कहते हैं, 'समाधौ तु' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि व्यास द्वारा समाधि में माया का व्यामोहिका माया के रूप में दर्शन किये जाने से वहाँ (अर्थात् भाग० १।७।४–५ में) उस व्यामोहिका शक्ति के लिये माया शब्द का प्रयोग उचित ही है, किन्तु यहाँ (अर्थात् भाग० ११।३।३ आदि में) सृष्टिप्रवाह के लिये माया शब्द का प्रयोग किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये और क्यों हुआ है यह विचार किया जाता है । 'विचारे' इस पद से प्रारम्भ होने वाली सुबोधिनीकारिका (सुबो० का० ११।३।३।२) का अर्थ स्पष्ट करते हैं । विचार करने पर

(भाग० २।९।३३) इति वाक्यमित्यर्थः । '*लक्षणम्*' (सुबोधिनीका० ११।३।३।२) इति, व्यामोहिकामायाया ज्ञापकम् इत्यर्थः । लक्षणस्य स्वरूपमाहुः, '*कार्यगोचरम्*' (सुबोधिनीका० ११।३।३।२) इति, कार्यलक्षणमित्यर्थः । एवं व्यामोहिकामायायाः कार्यलक्षणमुक्तम् ।

ननु 'एतस्या व्यामोहिकाया एव कार्यं जगद् इत्येव मन्तव्यम्, बहुभिरादृतत्वात्; ततश्च एतस्य विश्वस्य मिथ्यात्वमेव उररीकार्यम्', इत्याशङ्क्य, 'नेदं जगद् व्यामोहिकायाः कार्यमपि तु स्वसर्वभवनसामर्थ्यरूपमायया भगवानेव स्वात्मस्वरूपं जगन्निर्मिमीते' इत्याहुः, '*सुवर्णजलवत् कार्ये*' (सुबो-

'जो अर्थ के विना भी (या अभाव में) प्रतीत हो अर्थात् वस्तु का अपने स्वरूप से अन्यथा प्रतीत होना' (भाग० २।९।३३) इत्यादि भगवद्वाक्य व्यामोहिका माया का कार्यलक्षण अर्थात् ज्ञापक ज्ञात होता है । उपर्युक्त कारिका में प्रयुक्त 'कार्यगोचरम्' पद से लक्षण का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' (भाग० २।९।३३) इत्यादि भगवद्वाक्य व्यामोहिका माया का कार्यलक्षण है[1] । इस प्रकार (सुबो० का० ११।३।३।२. में) व्यामोहिका माया के कार्यलक्षण का निरूपण किया गया है ।

पूर्वपक्षी का कहना है कि, "'यह जगत् इस व्यामोहिका माया का ही कार्य है' इस मत के अनेक लोगों द्वारा समादृत होने के कारण इसे ही मान लेना चाहिए और 'इस समग्र प्रपञ्च का मिथ्या होना' ही ठीक सिद्धान्त है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए" । पूर्वपक्षी की इस आशङ्का का उल्लेख कर इसका समाधान करने के उद्देश्य से 'यह जगत् व्यामोहिका माया का कार्य नहीं है प्रत्युत स्वयं भगवान् ही अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया से इस स्वात्मस्वरूप (अर्थात् भगवद्रूप) जगत् का निर्माण करते हैं' यह प्रतिपादित करने के लिये श्रीवल्लभाचार्य

१. द्रष्टव्य, ऊपर पृष्ठ ११ ।

धिनीका० ११।३।३।३) इति। यथा सञ्चायकप्रतिमां मृदा निर्माय तत्र सुवर्णजलं निःक्षिप्यते ततः सञ्चायकप्रतिमाकारा सुवर्णप्रतिमानायासेन सिद्ध्यति, तथा सर्वप्रतिकृतिरूपां मायां सञ्चायकस्थानापन्नां कृत्वा स्वात्मरूपं जगद् भगवान् विरचयति, अतो न मायिकं किन्तु ब्रह्मात्मकमेव इत्यर्थः। एवं सति त्वत्पुराणेऽपि जगतो भगवत्त्वम् उक्तं परन्तु प्रकारभेदेन इत्याचार्यवर्याणामाशयः। तत्र पुराणे यः प्रकारः सोऽयं सञ्चायकदृष्टान्तेन 'सुवर्णजलवत्' (सुबोधिनीका० ११।३।३।३) इति कारिकया स्फुटीकृतः । तथा च मायायाः सञ्चायकत्वेन

कहते हैं 'सुवर्णजलवत् कार्ये' (सुबो० का० ११।३।३।३) इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार साँचे की प्रतिमा को मिट्टी से निर्मित कर अर्थात् प्रतिमा बनाने के लिये उसका मिट्टी का सञ्चायक या साँचा बना कर उसमें सुवर्णजल (अर्थात् गर्म किया हुआ तरल सोना) डाला जाता है और तत्र साँचे (की मिट्टी की प्रतिमा) के आकार की सुवर्णमयी प्रतिमा अनायास ही (अर्थात् बिना किसी कठिन परिश्रम के, ढल कर) तैयार हो जाती है, उसी प्रकार भगवान् सर्वप्रतिकृतिरूप माया को साँचा बना कर स्वात्मरूप जगत् की रचना करते हैं (अर्थात् माया के साँचे में अपने को जगत् के रूप में ढाल देते हैं), अतः यह जगत् मायिक नहीं प्रत्युत ब्रह्मात्मक ही है[१]। इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य का आशय यह है कि पूर्वपक्षी द्वारा उपन्यस्त पुराणवाक्यों (भाग० ११।३।१–३) में भी (त्वत्पुराणेऽपि) जगत् को भगवद्रूप ही कहा गया है यद्यपि वहाँ प्रतिपादन करने का प्रकार दूसरा है। वहाँ जगत् के भगवद्रूप होने के प्रतिपादन का जो प्रकार अभिप्रेत है उसको सुबोधिनी में साँचे का दृष्टान्त देकर 'सुवर्णजलवत्' इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होने वाली उपर्युक्त कारिका द्वारा स्पष्ट किया गया है। सृष्टिकार्य में भगवान्

---

१. द्रष्टव्य, स्नेहप्रपूरणी, पृष्ठ ७७–७८।

सृष्टौ भगवताङ्गीकृतत्वात् सृष्टिप्रवाहे मायाशब्दः प्रयुज्यते। तथा सति इह निमिनवयोगीश्वरप्रसङ्गे मायाशब्देन सृष्टिप्रवाह उच्यत इति निष्कर्षः। एवञ्च सुबोधिन्याम् *'अतोऽत्र किं युक्तम्'* (सुबो० ११।३।२) इति पूर्वमुक्तया फक्किकया कृतस्य प्रश्नस्य, 'सृष्टिप्रवाहो मायाशब्दवाच्यत्वेनास्मिन् प्रसङ्गे युक्त' इत्युत्तरं सम्पन्नम्। इत्थं मायाशब्दवाच्यस्य सृष्टिप्रवाहस्य सञ्चायकरीत्या निर्माणाद्भगवत्त्वम्। एतदभिसन्धायैव पूर्वम् उक्तम्, *'स च भगवत्कृतो भगवद्रूपश्च'* (सुबोधिनी ११।३।३) इति। वेदे तु मायारूपसाधननैरपेक्ष्येण भगवान् स्वात्मस्वरूपं

द्वारा माया के साँचे के रूप में स्वीकार किये जाने के कारण पुराणों (भाग० ११।३ इत्यादि) के वाक्यों में माया शब्द का प्रयोग सृष्टि-प्रवाह के लिये किया गया है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि निमि और नौ योगियों के प्रश्नोत्तर के उपर्युक्त प्रसङ्ग में माया शब्द का प्रयोग सृष्टिप्रवाह के लिये किया गया है। इस तरह सुबोधिनी (सुबो० ११।३।३) में कारिकाओं के ठीक पहले, 'यहाँ माया शब्द के उपर्युक्त अर्थों में से कौन सा अर्थ ठीक या अभिप्रेत है ?' (सुबो० ११।३।२) इत्यादि वाक्य द्वारा किये गये प्रश्न का उत्तर यह प्राप्त हुआ कि 'इस प्रसङ्ग में माया शब्द का वाच्य सृष्टि-प्रवाह को मानना ही ठीक है।' इस प्रकार माया शब्द के वाच्य सृष्टिप्रवाह का सञ्चायकरीति (साँचे में ढाल कर बनाने की रीति) से निर्माण होने के कारण उसका भगवद्रूप होना उपपन्न है। उसके भगवदात्मक होने के इस सिद्धान्त को दृष्टिगत करके ही श्रीवल्लभाचार्य ने (ऊपर पृष्ठ २५४ पर उद्धृत, सुबोधिनी के) पूर्वोक्त वाक्य में कहा है कि 'वह सृष्टिप्रवाह अर्थात् प्रपञ्च भगवत्कृत है और भगवद्रूप भी है' (सुबो० ११।३।३)। वेदों में भगवान् द्वारा, मायारूपसाधन की अपेक्षा किये बिना ही, स्वात्मस्वरूप जगत् की सृष्टि करने का प्रतिपादन है।

जगत्करोति इति विभेदः। एतदेव प्रथमस्कन्धे 'सदसद्रूपया चासौ' (भाग० १।२।३०) इत्यस्य सुबोधिन्यां स्फुटमकारि 'घटितपूरणपात्रभेदवद्वैदिकपौराणिकजगतोर्भेदः'[1] (सुबोधिनी १।२।३०) इत्यनेन। तत्रैव सुबोधिन्यां सर्वप्रतिकृतिरूपत्वं मायाया निरूपितम्[2]। तथा च घटितसुवर्णप्रतिमा यथा सुवर्णात्मिका

सृष्टिप्रवाह या प्रपञ्चसम्बन्धी वैदिक और पौराणिक सिद्धान्तों में यही भेद है और भागवत के प्रथम स्कन्ध के 'सदसद्रूपया चासौ' (भाग० १।२।३०) इस श्लोक की सुबोधिनी टीका में श्रीवल्लभाचार्य ने 'वैदिक (अर्थात् वेदों में निरूपित) और पौराणिक (अर्थात् पुराणों में निरूपित) जगत् का भेद घटितपूरणपात्रभेद (अर्थात् घटितपात्र और पूरित पात्र के भेद) के समान है' (सुबो० १।२।३०) इत्यादि वाक्य द्वारा इसी को स्पष्ट किया है तथा वहीं (अर्थात् उक्त श्लोक की सुबोधिनी में ही)

१. "भगवान् इति वैष्णवशास्त्रे एव इयं (='मायाकरणिका'—प्रकाशः) प्रथमा सृष्टिः। ('वैदिकप्रथमसृष्टेः सकाशादस्याः को भेद इत्यत आहुः'—प्रकाशः) वैदिके तु स्वधर्मत्वशक्तिकालकर्मस्वभावानां सृष्टिः प्रथमा ('तथा च वेदे शक्तेर्जननम्, अस्यां तु सा करणं, तेन सा सृष्टिरितः प्राथमिकी इत्यर्थः।'—प्रकाशः) ।·········('वैदिकपौराणिकजगतोर्भगवद्रूपत्वाविशेषेऽपि यो भेदः तं प्रकारं बोधयितुमाहुः'—प्रकाशः) वेदे तु मायासाधनराहित्येनैव स्वत एवात्मानं जगद्रूपं करोतीत्युच्यते। घटितपूरणपात्रभेदवद्वैदिकपौराणिकजगतोर्भेदः। व्यलीकपक्षस्तु न प्रामाणिकः।" (प्रकाशसहिता सुबोधिनी १।२।३०)।

देखिये, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध की स्नेहप्रपूरणी व्याख्या, पृष्ठ ७६–७८।

२. मायास्वरूपमाह—सद्रसद्रूपया इति। सा हि उच्चनीचसर्वप्रतिकृतिरूपा (='सञ्चायकरूपा'—प्रकाशः)। तस्याम् आत्मानं संयोज्य ('पूरयित्वा'—प्रकाशः) प्रकटीकुर्वन् जगद्रूपेण जायते। एवं सति सुगमः सृष्टिर्भवति, सुवर्णकाराणां प्रतिमादिनिर्माणवत्। (सुबो० १।२।३०)।

तथा पूरितप्रतिमापि सुवर्णात्मिकैव। सञ्चायकरीत्या जगन्निर्माणप्रयोजनम् अत्रैव सुबोधिन्याम् उक्तम्, *'एवं सति सृष्टिः सुगमा भवति'* (सुबोधिनी १।२।३०) इति। सञ्चायकरीत्या प्रतिमानिर्माणे सौकर्यं लोके स्फुटम्[1]। एवं मायासाधननिरपेक्षतया वेदे निरूपितं जगन्मायासञ्चायकत्वेन पुराणे निरूपितं जगच्च भगवदात्मकमेव। एवं श्रुतिपुराणसिद्धोऽस्मत्सिद्धान्त इति मञ्जुलमखिलम्।

माया के सर्वप्रतिकृतिरूप होने का निरूपण किया है।

जिस प्रकार घटितसुवर्णप्रतिमा (अर्थात् सुवर्णपिण्ड से गढ़ कर बनायी गयी प्रतिमा) सुवर्णात्मक होती है उसी प्रकार पूरित सुवर्ण प्रतिमा (अर्थात् प्रतिमा के मिट्टी के साँचे में गर्म किया हुआ तरल सोना डाल कर, ढाल कर बनायी गयी प्रतिमा) भी सुवर्णात्मक ही होती है। सञ्चायकरीति से (ढलाई द्वारा) जगत् का निर्माण करने का प्रयोजन भी यहीं (अर्थात् भाग० १।२।३० की) सुबोधिनी में 'इस प्रकार सञ्चायकरीति से जगत् का निर्माण करने में सृष्टिरचना सुगम हो जाती है' (सुबो० १।२।३०) इत्यादि वाक्य द्वारा बताया गया है। सञ्चायकरीति से (ढलाई द्वारा) प्रतिमा का निर्माण करने में (गढ़ाई करने की अपेक्षा) आसानी होती है यह लोक में स्पष्ट अनुभव किया जाता है। इस प्रकार, वेदों में निरूपित परमकाष्ठापन्न ब्रह्म द्वारा मायासाधननिरपेक्ष होकर रचित जगत् तथा पुराणों में निरूपित मायारूपी सञ्चायक का उपयोग करके निर्मित जगत् भी भगवदात्मक ही है। इस तरह हमारे सिद्धान्त का श्रुतियों और पुराणों में प्रतिपादित होना सिद्ध हो गया। अतः हमारा ब्रह्मवाद सिद्धान्त निरवद्य है तथा उपर्युक्त सारा विवेचन निर्दोष और सुन्दर है।

---

१. देखिये, ऊपर पृष्ठ २६० की टिप्पणी २।

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन विरचिते प्रमेयरत्नार्णवे उत्तरार्द्धं ख्यातिविवेकः समाप्तः ॥ १ ॥

(एतावानेव ग्रन्थ उपलब्धः ।)

श्रीगोवर्द्धनधर, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविठ्ठलनाथ के चरणों के अनुचर, लालूभट्ट के नाम से प्रसिद्ध बालकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित प्रमेयरत्नार्णव के उत्तरार्द्ध का ख्यातिविवेक नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ[1] ॥ १ ॥

बाराबङ्कीतिनाम्नि प्रथितजनपदे पुण्यसाकेतसीम्नि,
शाकद्वीपीयविप्रेषु विजयनगरेऽभूद् भरद्वाजगोत्रः ।
शम्भोर्भक्तः भवानीपदयुगमधुलिड्विप्रपादानुरक्तः,
लक्ष्मीनारायणाख्यः सुविदितमहिमा राजमान्यो मनीषी ॥१॥
सूनोस्तस्यात्मजन्मा विमलमतिरुमाशङ्करस्य द्वितीयः,
मिश्रः केदारनाथः सहृदयहृदयोऽध्यापको दर्शनानाम्;
हिन्दूनां प्राणभूते स्मरहरनगरीविश्वविद्यालयेऽस्मिन्,
ग्रन्थस्यास्यात्मतुष्ट्यै व्यलिखदिह मुदा राष्ट्रभाषानुवादम् ॥२॥
आपौगण्डात् पितृवदनिशं पोषयन् प्रेमपूर्वम्,
कर्तुं यो माम् उपचितगुणं सर्वयत्नान्यकार्षीत् ।
सन्तुष्टः स्याद् अनुजरचितं वीक्ष्य भाषानुवादम्,
अग्रेजातः सुकविगिरिजाशङ्करो मिश्र एनम् ॥ ३ ॥
वस्वक्ष्याकाशनेत्रेऽस्मिन् वीरविक्रमवत्सरे ।
पूर्तिं भाषानुवादोऽयं गुरुपूर्णातिथावितः ॥ ४ ॥

---

१. यह ग्रन्थ हमें यहीं तक उपलब्ध हो सका है और हमारे लिये निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि श्रीबालकृष्णभट्ट ने इसके आगे कुछ अन्य विवेक (या अध्याय) भी लिखे थे या नहीं।

नोट्स

पृष्ठ ४ पंक्तियाँ ३–४. जगन्मिथ्यात्व के मत का विस्तार से खण्डन कर सिद्धान्त का प्रतिपादन श्रीबालकृष्णभट्ट ने सिद्धान्तमुक्तावली की अपनी योजना व्याख्या में किया है। देखिए, सिद्धान्तमुक्तावली-योजना ४।

पृष्ठ २२ पंक्ति ३. भगवन्मूर्ति की प्रापञ्चिक पदार्थों से विलक्षणता के श्रीबालकृष्णभट्टकृत विवेचन के लिए देखिए परिशिष्टम् १।

पृष्ठ ३० पंक्तियाँ ८ एवं २३. 'शुद्धसत्त्वव्यवस्थितिः' यह उद्धरण लक्ष्मीतन्त्र १३।३७ का है।

पृष्ठ ४५ पंक्तियाँ ९-१० तथा पृष्ठ ४६ पंक्ति ८. प्रकाशित लक्ष्मी-तन्त्र के अनुसार इस उद्धरण के पूर्वार्द्ध का पाठ 'चैतन्यमस्य धर्मो यः प्रभा भानोरिवामला' है और यह तेरहवें अध्याय के पचीसवें श्लोक का उत्तरार्द्ध है। प्रस्तुत उद्धरण का उत्तरार्द्ध प्रकाशित लक्ष्मी-तन्त्र के तेरहवें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक का पूर्वार्द्ध है।

पृष्ठ ४९ पंक्तियाँ १२ तथा २४. 'आनन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घ-तापम्' यह पाद श्रीमद्भागवत के अधोलिखित श्लोक का चतुर्थ चरण है जिसका तात्पर्य यही है कि आनन्दमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण का आलि-ङ्गन कर कुब्जा ने अतिदीर्घ ताप (अर्थात् अतिदीर्घ त्रिविध ताप अथवा अनेक जन्मों से अनुस्यूत होने के कारण अतिदीर्घ हो गये कामताप) से छुटकारा पा लिया। (देखिए, सुबोधिनी १०।४८।७)।

सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णोः
जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्तम्
आनन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम्॥ (भाग० १०।४८।७)।

पृष्ठ ५८ पंक्ति ४. आविर्भाव-तिरोभाववाद के श्रीबालकृष्णभट्टकृत विस्तृत विवेचन के लिए देखिए निर्णयार्णवः, पृष्ठ ५३–५५।

पृष्ठ ६२ पंक्ति ६. अक्षरतत्त्व के श्रीबालकृष्णभट्टकृत विवेचन के लिए देखिए निर्णयार्णवः, पृष्ठ ५१–५२।

पृष्ठ १४४ पंक्तियाँ ३-४. श्रीहरिराय ने 'सर्वात्मभावनिरूपणम्' नामक अपने लघु ग्रन्थ में सर्वात्मभाव का जो निरूपण किया है वह श्रीबालकृष्णभट्ट को प्रस्तुत अध्याय लिखने में प्रायः उसी प्रकार बुद्धिस्थ रहा है जिस प्रकार चतुर्थ अध्याय लिखते समय उनका 'श्रीपुष्टिमार्गलक्षणानि' नामक लघुग्रन्थ। अतः पाठकों की सुविधा के लिए हमने श्रीहरिराय की यह कृति परिशिष्टम् ५ के रूप में अन्त में यहाँ मुद्रित कर दी है।

पृष्ठ १५७ पंक्ति २. 'निरोध' के श्रीबालकृष्णभट्टकृत विवेचन के लिए देखिए परिशिष्टम् २।

पृष्ठ २१० पंक्तियाँ ४–५. यह सुबोधिनीकारिका नहीं अपितु श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत एकादशस्कन्धार्थनिरूपणकारिकाः का प्रथम श्लोक है। जैसा कि स्वयं श्रीबालकृष्णभट्टके 'एकादशस्कन्धार्थनिरूपणकारिकाः सुबोधिनीतो भिन्नतयैवोपलभ्यमानाः सन्ति' (निर्णयार्णवः, पृष्ठ २९) इस वाक्य से स्पष्ट है एकादशस्कन्धार्थनिरूपणकारिकाः 'सुबोधिनी' से भिन्न कृति है। इस श्लोक की श्रीबालकृष्णभट्टकृत विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए परिशिष्टम् ३।

पृष्ठ २१२ पंक्ति ११. अन्यथाख्याति एवं अन्यख्याति में भेद के श्रीबालकृष्णभट्टकृत विवेचन के लिए देखिए परिशिष्टम् ४, तथा ख्यातिसम्बन्धी वाल्लभ सिद्धान्त के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए श्रीरमानाथभट्ट द्वारा सम्पादित 'वादावलिः' (पृष्ठ ११९–१२०) में मुद्रित गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमविरचित 'ख्यातिवादः'।

परिशिष्टम् १

अत्र हि प्रापञ्चिकपदार्थेभ्यो भगवन्मूर्तौ विशेषः प्रतिपादितः। अत्रेदं विचार्यते। ननु घटपटादौ यथा चिदानन्दयोस्तिरोभावः तथैव भगवन्मूर्तावपि। अत्रापि चिदानन्दयोरनुपलभ्यमानत्वाद्घटपटतः को वा विशेषः स्फूर्ताविति चेत्? शृणु। घटपटादौ चिदानन्दयोस्तिरोभावो द्रष्टॄन् प्रति, घटपटादीन् प्रत्यपि। न हि घटादयः स्वस्मिंस्तिरोहितौ चिदानन्दावुपलभन्ते, स्वनिष्ठज्ञानानुभवाभावात् स्वकीयसुखानुभवाभावाच्च। श्रीमूर्तिस्तु स्वस्मिन् वर्तमानौ चिदानन्दौ स्वयमनुभवति। अत एव हरिमूर्तिः सर्वज्ञत्वेन सेवमानाय सकलाभीष्टं ददाति। न हि घटपटादीनां स्वसेबनस्वावज्ञादिदोषबोधोऽस्ति। न वा दुःखानुभवः। अतस्तेषां जडत्वात्तेषु चिदानन्दयोस्तिरोभावोऽन्येषां विषयोऽस्ति। श्रीविग्रहे तु चिदानन्दतिरोभावौ स्वेच्छयैवान्यान् प्रति जातौ, अन्यान् प्रति विषयौ, स्वस्य तु स्वनिष्ठौ चिदानन्दौ विषयाविति घटपटादिभ्यो वैलक्षण्यम्। भगवन्मूर्तौ ज्ञानशक्तिः सर्वापि विराजते। अत एव कस्मैचिद्भाग्यवते पुरुषाय उत्तमप्रकारेणाधमप्रकारेण वा सेवा वृत्तेति स्वप्नादौ ज्ञापयति। घटपटादयः परकीयविषयकस्वविषयकज्ञानशून्याः। अतश्चिदानन्दतिरोभाववन्तो जडपदेन व्यवह्रियन्ते। हरिमूर्तिस्तु स्वविषयकपरविषयकज्ञानवती दिव्याचिन्त्यालौकिकज्ञानवती भूतभविष्यद्वर्तमानपदार्थविषयकज्ञानवती भगवानेवेति वेदज्ञैर्व्यवह्रियते। तादृशसर्वज्ञत्वं तु अचिन्त्यपदार्थबोधनादचिन्त्यकार्यकरणाच्च ज्ञायते। अतोऽन्येषां बुद्ध्या भगवन्मूर्तौ चिदानन्दतिरोभावसत्त्वेऽपि न वस्तुतः चिदानन्दतिरोभावः, जडजीवयोस्तु वस्तुतश्चिदानन्दतिरोभावः। अत एव अस्मदादिष्वानन्दो नान्यैरनुभूयते, अस्माभिरपि न स्वकीय आनन्दोऽनुभूयते, अतो युक्त एवास्मास्वानन्दतिरोभावः। एवं घटे चैतन्यमानन्दश्च नान्यज्ञानविषयो

न वा घटविषय इति तदुभयोस्तिरोभावाज्जडत्वम्। श्रीविग्रहेण तु स्वानन्दः स्वचैतन्यं विषयीक्रियत इति महावैलक्षण्यान्न जडत्वलवोऽपि। एवमेवं श्रीशालग्रामेऽपि। अत एव गोपालोत्तरतापिन्यारम्भे,[1]

"विष्णोरर्चायां[2] शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः,
विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः;
मन्त्रे तन्नाम्नि विष्णोः पुरुषकलुषहे शब्दसामान्यबुद्धिः,
विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी सः॥"

इत्यनेन भगवन्मूर्तौ शिलाबुद्धिमतो नरकप्राप्तिः श्रूयते। 'विष्णोरर्चायां शिलाधीः' इत्यादौ शिलादिसामान्यबुद्धिरित्यर्थो वक्तव्यः। उत्तरार्द्धे 'शब्दसामान्यबुद्धिः' इत्यत्र सामान्यपदात्तदेकान्वयिनां तथैवार्थस्योचितत्वात्। तथा च शिलादिबुद्धिर्जडत्वबुद्धिर्यस्य स नारकी किन्तु सच्चिदानन्दरूप एव चिदानन्दतिरोभावरहितो भगवान् श्रीकृष्णो जीवोद्धाराय मूर्तिरूपेण प्रकटसच्चिदानन्देनाविर्भूत इति बुद्धिमन्तो भक्ताः पुरुषोत्तमं प्राप्नुवन्तीत्यवदातो महानुभावानां मार्गः। भक्तिज्ञानरहितानां भगवन्मूर्तौ चिदानन्दस्फुरणाभावस्तु तस्यैव मूर्तिरूपस्य भगवत इच्छाविशेषेणेति दिक्॥ (निर्णयार्णवः, पृष्ठ ६३–६५)।



---

१. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः में मुद्रित गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद् में हमें यह श्लोक नहीं मिला अतः (ऊपर पृष्ठ २० टिप्पणी १ में) हमने इसे शूद्रकमलाकर से उद्धृत किया है।

२. यह पद श्लोक को छन्दःशास्त्र की दृष्टि से अशुद्ध बना देता है, अतः ऊपर बीसवें पृष्ठ पर हमने इसका 'अर्चाविष्णौ' पाठ स्वीकार किया है।

परिशिष्टम् २

ननु निरोधलक्षणग्रन्थे, 'यच्च दुःखं यशोदाया' (निरोधल० १) इत्यादिना श्रीमदाचार्यवर्यैः भगवद्विरहादिसामयिकदुःखादि स्वयं याचितम् । एतावता निरोधस्य किं लक्षणं सिद्धमिति चेत्? श्रृणुत । भगवद्विरहे दुःसहदुःखं भगवत्संयोगे परमाह्लादश्चेत्यादि कार्यं निरोधजन्यमेव, यतो निरुद्धानामेव भगवद्विरहे दुःखं श्रूयते संयोगे महानन्दश्च,

'गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने ।

क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवद् ॥' (भाग० १०।१९।१६)

इतिवाक्यात् । एवं सति तादृशदुःखादेर्निरोधकार्यत्वात् कार्यलक्षणमत्र सुखसाध्यमित्याकलय । भगवद्विरहसामयिकपरमदुःखकारणत्वं निरोधत्वं, भगवत्संयोगसामयिकपरमानन्दसाधकत्वं निरोधत्वमित्यादिलक्षणानि निरोधस्य सिद्ध्यन्ति । निरोधस्य निबन्धसुबोधिन्योर्बहुधा निरूपितस्य परस्परविरुद्धतया प्रतीयमानलक्षणस्य सम्यगविरोधप्रकारो मया सुबोधिनीयोजनायां (सुबो० का० १०।१।१।९–१० योजनायां) विवृत इति विशेषजिज्ञासायां ततोऽवधेयम् । (निर्णयार्णवः, पृष्ठ २३–२४) ।

परिशिष्टम् ३

अथ श्रीमदाचार्यचरणा निरोधस्यैव परमफलप्रापकत्वेन अग्रिम-लीलयोर्वैयर्थ्यमाशङ्क्य उभयोः सार्थकत्वाय प्रयोजनं वर्णयन्तः उक्त-विवक्षितयोः सङ्गतिमाहुः, 'निरोधलीलामुक्त्वा' इत्यादिना। निरोध-लीलाम् इति, स्वशक्तिभिः सह प्रपञ्चे भगवत्कर्तृकक्रीडया त्रिविध-जीवानां प्रपञ्चविस्मरणरूपामित्यर्थः। तदनुवर्ण्यत इति तदनुसारिणी मुक्तिः निरूप्यत इत्यर्थः। इह उक्त्वा इति क्त्वाप्रत्ययेन आनन्तर्यं प्राप्तम्, अतः तदनु वर्ण्यते इत्यस्य तदनुसारी मोक्षो निरूप्यते इत्यर्थो ज्ञेयः। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्' (तैत्ति० उप० २।६) इति श्रुतौ क्त्वाप्रत्ययेन आनन्तर्यसिद्धौ अनुप्राविशद् इति 'अनु'—उपसर्गस्य न आनन्तर्यमर्थः किन्त्वनुप्रवेशः कश्चित्पदार्थविशेष एव इति जन्मप्रकरणसुबो-धिन्यां स्थितम्। तद्वदिह 'अनु'—उपसर्गस्य न आनन्तर्यमर्थः किन्तु आनुगुण्यमर्थः। निरोधानुगुण्यं तु यादृशो मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधो निरोधः तादृशी द्विविधा मुक्तिः इति। तत आश्रयः। निरोधलीलायां निरुद्धैर्भक्तैः यादृग्भगवत्सुखमनुभूतं तादृगेव आश्रयप्राप्तौ अनुभूयते, अतो निरोधस्याश्रयतुल्यत्वम्। परमेतावान् विशेषः ; निरोधलीलायां सुखं परिच्छिन्नम्, प्रपञ्चे जायमानत्वात्। अत एव यावत्यो रात्रयो वरत्वेन दत्ताः तावतीष्वेव फलप्रकरणे रमणम्। आश्रयलीलायां तु तदेव सुखमपरिच्छिन्नम्, व्यापिवैकुण्ठाधिकरणके आधिदैविकवृन्दावने प्रपञ्चा-तीते कालाद्यनधीने जायमानत्वात्। आश्रयप्राप्तिः तु न मुक्तिं विना

भवति इति मुक्तिर्निरूप्यत इत्यर्थः। एवं निरोधमुक्त्योर्निरूपणे संगतिमुक्त्वा मुक्त्याश्रययोर्निरूपणे सङ्गतिमाहुः, 'मुक्तानामाश्रयः कृष्ण' इति। यतो 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्' (ब्रह्मसूत्र १।३।२) इति न्यायेन मुक्तमात्रप्राप्यो भगवान् अतो मुक्तिं निरूप्य आश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः। स आश्रयः क इत्याकाङ्क्षायामाहुः, आश्रयः कृष्ण इति।

'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥' (भाग० २।१०।७)

इति शुकवाक्यात्परब्रह्मण आश्रयत्वम्। परब्रह्मत्वं कस्य इत्याकाङ्क्षायां कृष्णस्य इति बोध्यम्,

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥'

इति गोपालतापिनीसमारम्भश्रुतेः,

'येषां गृहानावसतीति साक्षाद्गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्' (भाग० ७।१०।४८) इति श्रीभागवतवाक्याच्च। नान्येषाम् इति। अन्येषाम् अमुक्तानाम् इत्यर्थः। अमुक्तैराश्रयत्वेन भगवान्न प्राप्यतेऽतः पूर्वं मुक्तिरपेक्षिता। ननु कस्यचिद्भक्तस्य मुक्तिं विनापि भगवत्प्राप्तिः स्मर्यते, तत्कथं सेत्स्यति इत्याशङ्क्य आहुः, शश्वत इति। शश्वतः तु एवमेव व्यवस्था। प्रमेयबलेन मुक्तिं विनापि भगवत्प्राप्तिर्भवति, सा न केनापि निवार्या इति भावः॥ (निर्णयार्णवः, पृष्ठ ३०–३२)।

परिशिष्टम् ४

दशमसुबोधिन्याम्, 'अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते।' (सुबो० का० १०।१।१।२८) इति। इदमिह विमृश्यते। ननु अन्यथाज्ञानं न प्रमात्मकम्, अतो भ्रमरूपं मन्तव्यम्। तथा सति अन्यथाख्यातिरेव स्यात्। सा तु 'संशयोऽथ विपर्यास' (भाग० ३।२६।३०) इति तृतीयस्कन्धश्लोकसुबोधिन्यां दूषिता, अन्यख्यातिरेव स्थापिता। सा अन्यथाज्ञानस्वीकारे विरुद्ध्यत इति चेत्? शृणु। 'संशयोऽथ विपर्यास' (भाग० ३।२६।३०) इत्यत्र बुद्धिवृत्तित्वेनोक्तो यो विपर्यासशब्दाभिधेयो भ्रमः सा अन्यख्यातिरेव। तस्या अन्यख्यातेः भ्रमशब्दवाच्याया विषयस्य रजतादेः बुद्धिजन्यतास्वीकाराद् बाह्यत्वाभावेन केवलमान्तरत्वेन बुद्ध्यैव गृह्यमाणतया इन्द्रियविषयाच्छुक्त्यादिरूपादन्यस्य रजतादेः ख्यातिरन्यख्यातिः इति सिद्धान्तात्। तदुक्तं वेदस्तुतिविवृतौ, 'रजतं तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते च' (सुबो० १०।८७।३७) इति। विवर्तमते मायाकल्पितमनिर्वचनीयं रजतं चक्षुषा गृह्यत इत्यनिर्वचनीयख्यातिस्तेषाम्। अस्मन्मते तु शुक्तिरेव नयनैर्विषयीक्रियते। रजतं तु बुद्ध्योत्पाद्यते बुद्ध्यैव गृह्यत इति न चक्षुर्ग्राह्यं रजतम्। ततश्चक्षुर्ग्राह्यात् शुक्त्यादेरन्यस्य रजतादेः ख्यातिः बुद्धिवृत्तिरूपा अन्यख्यातिः भ्रमशब्दवाच्या। अन्यथाज्ञानं तु संशयविपर्यासादिभ्यो भिन्नं मायिकं ज्ञानान्तरमेव न तु भ्रमः। 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' (भाग० २।९।३३) इत्युपक्रम्य, 'तद् विद्यादात्मनो मायाम्' (भाग० २।९।३३) इति भगवद्वाक्यात्। अस्मिन्नन्यथाज्ञाने मायाजन्यधर्मयुक्तो विषयो भासते। घटो भ्राम्यति, सिता कट्वी, शङ्खः पीत इत्यादौ घटस्य, सितायाः, शङ्खस्य च प्रत्ययो न बाध्यतेऽपि तु घटे भ्रमणं, सितायां कटुत्वं, शङ्खे पीतत्वं विषयतारूपमधिकं भाति इति स्थिरेऽपि घटे भ्राम्यत्त्वेन, मिष्टायां सितायां कटुत्वेन, श्वेते शङ्खे पीततया प्रत्ययान्मायिकधर्मयुक्तो भगवद्रूपो घटादिर्विषयो भवतीत्यन्यथाज्ञानत्वमेतस्य। शुक्तिरजतस्थले तु शुक्तिप्रत्ययबाधात् केवलं रजतप्रत्ययो बुद्धौ भवतीति

इन्द्रियगृहीतायाः शुक्तेरन्यस्य रजतस्य ख्यातिर्भवतीति नान्यथाज्ञानं किन्त्वन्यज्ञानमित्यन्यख्यातिरेव । सैव भ्रमशब्दवाच्या, बुद्धिवृत्तिरूपत्वात्, 'संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च' (भाग० ३।२६।३०) इति वाक्ये विपर्यासरूपत्वेनोक्ताया बुद्धिवृत्तेरेव भ्रमत्वात् । तस्यां ख्यातौ विषयो रजतादिः बुद्धिकल्पितः, स आन्तर एव इत्युपपादितं ख्यातिविवेके । अन्यथाज्ञाने तु विषयो बाह्यश्चक्षुरादीन्द्रियगृहीतव्यः, यथा प्रमात्मके ज्ञाने सितायां रसनेन्द्रियगृहीतायां तदीयं वास्तवं मिष्टत्वं रसनया गृह्यते । एवं सितायां रसनेन्द्रियगृहीतायाम् उपाधिविशेषपित्तादिदोषवशाद् आगन्तुकमवास्तवमपि कटुत्वं विषयतारूपं गृह्यते । एवं मिष्टत्वज्ञानाभावं सम्पाद्य कटुत्वेन सितायाः प्रत्ययं प्रकटयन्ती माया स्वचमत्कृतिं दर्शयति । तदेतदन्यथाज्ञानम् । अत एव सुबोधिन्यां भणितम्, 'अन्यस्मिन्नन्यविषयतां सम्पादयति' (सुबो० २।९।३३) इति । अन्यस्मिन् घटादौ अन्यस्य चक्षुषः विषयतारूपं भ्रमणं सम्पादयति इत्यर्थः । तदुक्तं तत्रैव सुबोधिन्याम्, 'अन्यत्र स्थिता भ्रमिरन्यत्र आनीयते' (सुबो० २।९।३३) इति । 'तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थानन्यथा मन्यते' (सुबो० २।९।३३) इति च । अन्यथा यदि भ्रमद्घटो भिन्न एव माययोत्पादितः स्यात्तदा 'अन्यत्र स्थिता भ्रमिरन्यत्रानीयते' (सुबो० २।९।३३) इति नोक्तं स्यात्, भ्रमिसहितस्यैव माययोत्पादितत्वात्पुनर्भ्रमेरानयने प्रयोजनाभावात् । 'विषये विषयता काचित्स्वीकर्तव्या' (सुबो० २।९।३३) इत्यपि नोच्येत, भ्रमणविशिष्टस्य घटान्तरस्यैव त्वयाङ्गीकृतत्वाद् भ्रमदृष्टेः तादृशघटविषयत्वेन सविषयत्वान्निर्विषयताया अनवसरपराहतत्वात् । अतो 'घटो भ्राम्यति' इत्यादिरूपे अन्यथाज्ञाने विषयः स एव घटः परं मायया विषयतारूपं भ्रमणं तत्र निक्षिप्यते । ततो विषयताविशिष्टं घटं दृष्ट्वा 'घटो भ्राम्यति' इत्यन्यथाज्ञानमुद्भवति । एवं प्रकृते श्रीकृष्णे परब्रह्मणि परमतत्त्वरूपे स्वेच्छया सकलदृग्गोचरेऽपि ये ज्ञानभक्तिरहितास्तेषामयं मनुष्य इति मनुष्यत्वेन बोधः, तदिदमन्यथाज्ञानम् । अत एव, 'मायामनुष्यस्य' (भाग०

१०।१।७) इति श्लोकसुबोधिन्यां, 'तथा प्रतीतिविषयस्य' इत्युक्त्या अन्यथाज्ञानमुक्तं भगवद्विषयकम्। 'माययैव रूपान्तरम्' इत्यस्य टिप्पण्यां 'रूपान्तरत्वेन भानम्' इति व्याख्याय अन्यथाज्ञानं प्रदर्शितम्। ये तु शास्त्रेण श्रीकृष्णं परं ब्रह्म जानन्ति तेषां भगवति मायया मनुष्यधर्मभानेऽपि बुद्धौ न मनुष्यत्वनिर्द्धार इति न तेषां भ्रमः किन्तु अन्यथाज्ञानमात्रं मायया। तदपि शास्त्रोत्थेन परब्रह्मत्वबोधेन बाध्यत एव। अतो बुद्धौ तु तेषां पुरुषोत्तमज्ञानं प्रमात्मकमेव। ये पुनर्बहिर्मुखाः तद्बुद्धेर्मायया व्यामोहितत्वात् पुरुषोत्तमत्वनिर्द्धाराभावात् केवलमनुष्यत्वेन भानाद् अन्यथाज्ञानत्वमेव।

एवं सति सिद्धमेतत्। मायाकल्पितमिथ्याधर्मयुक्तस्य सत्यपदार्थस्य चक्षुरादिभिर्बाह्यैर्भानं यत् तदन्यथाज्ञानं, बुद्धिकल्पितस्य रजतादेः केवलमन्तरेव भानं भ्रमः, इत्यन्यथाज्ञानभ्रमयोर्विवेकः। तत्र अन्यथाज्ञानं द्विविधम्, लौकिकालौकिकविषयभेदात्। लौकिके 'शङ्खः पीत' इत्यादौ पीतत्वेन भानं मायानिर्मितपीतत्ववैशिष्ट्येन जायते, शङ्खे पीतत्वस्य मायाकार्यत्वात्। भगवति परब्रह्मणि श्रीकृष्णे यन्मनुष्यत्वेन भानं तदन्यथाज्ञानं, परं तत्र मायया न मनुष्यत्वमुत्पाद्यते किन्तु भगवानेव स्वमायया जीवानां बुद्धिं व्यामोहयित्वा स्वस्मिन् मनुष्यत्वज्ञानं सम्पादयति। अतो न भगवति मनुष्यत्वं न वा शरीरित्वम्। अत एव अन्तस्तद्धर्माधिकरणभाष्ये ब्रह्मणः शरीरं नाङ्गीकृतम्, 'सर्वसमर्थस्य ब्रह्मणः का वा अनुपपत्तिः येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत् किन्तु लीलार्थमन्यथा प्रदर्शयेन्नटवद्' (अणुभाष्यम् १।१।१९) इत्युक्तम्। तेन भगवता प्रदर्शितं मनुष्यत्वं जीवप्रत्ययगोचरो भवति। तदेतदन्यथाज्ञानम्। अतो न मायिकं शरीरं हरावङ्गीकर्तव्यम्, अपि तु केवलानन्दविग्रह एव माययान्यथा प्रतीयते। तन्निवृत्तिप्रकारः सुबोधिन्यां पठितः, 'अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते' (सुबो० का० १०।१।१।२८) इत्यनेन इति निखिलं निरवद्यम्। (निर्णयार्णवः, पृष्ठ ६५—६८)।

परिशिष्टम् ५

गोस्वामिश्रीहरिरायविरचितम्

सर्वात्मभावनिरूपणम्

कृष्णस्य कृपया किञ्चिद् हृदयागतया मया।
सर्वात्मभावशब्दार्थः कश्चनात्र विविच्यते ॥ १ ॥
सर्वेषामिन्द्रियाणां हि देहादीनां तथा पुनः।
आत्मभावो भगवति सर्वभावः स कथ्यते ॥ २ ॥
आत्मभावश्च सर्वत्र स्वसम्बन्धविचारणम्।
स्वस्य सम्बन्धितास्फूर्तिरस्माकं भगवानिति ॥ ३ ॥
देहेन्द्रियाणां प्रत्येकमाकाङ्क्षारहिता हरौ।
आकांक्षायां तु विषये भावसत्त्वान्न सर्वता ॥ ४ ॥
अत एव हि तद्भावे देहाद्यस्फूर्तिरुच्यते।
स्फूर्त्या तत्रापि वै भावो भवेत्पोषादिहेतुकः ॥ ५ ॥
तथैव विषयत्यागः सर्वतासाधनाय हि।
कामभावे कामफले भावतो नहि सर्वता ॥ ६ ॥
'अहं भगवतः सर्वं' इति सर्वात्मभावनम्।
'प्रभुर्ममे'ति भावो हि कामभावो यतो मतः ॥ ७ ॥
अतो विचारकैर्भेदः काम-सर्वात्मभावयोः।
बोद्धव्यः श्रीमदाचार्यकृपयातिविचक्षणः ॥ ८ ॥
सर्वात्मभावसाध्यो हि स्वरूपानन्द उच्यते।
तद्वतामत एवात्र भावानन्दो निरूपितः ॥ ९ ॥
भावस्वरूपमेवास्ति भेदबोधेन भिन्नता।
कामभावे बहिःस्थे तु स्पष्टा बुद्ध्येत भिन्नता ॥ १० ॥

अभेदोऽपि स्वरूपस्य कामाद्याश्रयबोधनात् ।
कामभावफलं नित्यसंयोगः प्रभुणा मतम् ॥ ११ ॥
यतस्तथैव तत्रास्ति ह्यपेक्षा कामभावने ।
सर्वात्मभावे सततं सर्वत्यागात्मके मतम् ॥ १२ ॥
स्वस्य सम्बन्धितारूपे भावप्राप्ति फलं पुनः ।
अनपेक्षत्वतो नैव कामादि दीयते फलम् ॥ १३ ॥
स्वरूपमेव देयं हि, स भावः श्रुतिसम्मतः ।
अतः सर्वात्मभावस्य फलभावो न चान्यथा ॥ १४ ॥
स चानपेक्षितारूपो यत्र नापेक्षिता हरेः ।
विरहे भाववैक्लव्यात्सापेक्षत्वं कथञ्चन ॥ १५ ॥
'सन्त्यज्य सर्वविषयान्' इत्यत्र निरपेक्षिता ।
स्वरूपनिरपेक्षत्वं वियोगे दृश्यते हरेः ॥ १६ ॥
अत एवोद्धवैरुक्तं दौत्येन व्रजमागतैः ।
'सर्वात्मभावोऽधिकृतो···विरहेणे'ति तद्वचः ॥ १७ ॥
अतः सर्वात्मभावो हि त्यागात्मोपेक्षया युतः ।
भावस्वरूपफलकः स्वसम्बन्धप्रकाशकः ॥ १८ ॥
देहादिस्फूर्तिरहितो विषयत्यागपूर्वकः ।
भावात्मकामसम्बन्धिरमणादिक्रियः सदा ॥ १९ ॥
स्वतन्त्रभक्तिशब्दाख्यः फलात्मा ज्ञायतां जनैः ।
प्रवृत्तिः कामभावेऽस्ति, निवृत्तिस्तु द्वितीयके ।
अधिकं लेखितुं नैव शक्यते मन्दबुद्धितः ॥ २० ॥
स्वाचार्यकृपयाभिज्ञैः सदा तद्भावभावुकैः ।
सुबोधिनीदर्शकैः स विज्ञेयस्तु स्वतो जनैः ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्धरिरायकृतं सर्वात्मभावनिरूपणं समाप्तम् ॥

पुस्तक में उद्धृत एवं उल्लिखित ग्रन्थों की सूची

अणुभाष्यम् (पुरुषोत्तमकृतप्रकाशव्याख्यासहित, चौखम्बा संस्करण)।

अणुभाष्यम् (श्रीघरपाठककृतबालबोधिनीसहित)।

आथर्वणिकब्रह्मसूक्तम्

आदित्यहृदयम्

ऋग्वेदः

एकादशस्कन्धार्थनिरूपणकारिकाः (श्रीवल्लभाचार्यविरचिताः)।

ऐतरेयोपनिषद्

कठोपनिषद्

कालनिर्णयदीपिका

कृष्णोपनिषद्

गीता (श्रीमद्भगवद्गीता)।

गोकुलनाथकृतविज्ञप्तिः

गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्

गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद्

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः (श्रीकेदारनाथमिश्रकृतस्नेहप्रपूरणीव्याख्यासहित, भारतीयविद्याप्रकाशन वाराणसी से प्रकाशित)।

तैत्तिरीयोपनिषद्

नारायणोपनिषद्

निरोधलक्षणम्

नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः (श्रीमत्पीताम्बरकृतव्याख्यासहित)।

प्रश्नोपनिषद्

प्रस्थानरत्नाकरः (श्रीपुरुषोत्तमविरचित, चौखम्बासंस्करण)।
बालबोधः
बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्रह्मवैवर्तपुराणम्
ब्रह्मसूत्राणि
भक्तिहेतुनिर्णयः (विवृतिसहित, गुजराती अनुवादयुक्त)।
भक्तिहंसः (भक्तितरङ्गिणी, तीर्थ एवं विवेक टीकाओं सहित)।
भागवतार्थप्रकरणम् (प्रकाश, आवरणभङ्ग, योजना तथा निबन्ध-कठिनांशविवेचनसहित)।

महानारायणोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
लक्ष्मीतन्त्रम् (पं० वी० कृष्णमाचार्यसम्पादित, अड्यार लाइब्रेरी मद्रास से १९५९ में प्रकाशित)।

विट्ठलनाथकृतविज्ञप्तिस्तोत्रम्
विद्वन्मण्डनम् (सुवर्णसूत्रसहित, चौखम्बासंस्करण)।
विद्वन्मण्डनम् (सुवर्णसूत्र, हरितोषिणी तथा गङ्गाधरभट्टीटीका सहित)।
विवेकचूडामणिः
विष्णुधर्म
वैयाकरणभूषणसारः (चौखम्बासंस्करण)।
शाङ्करभाष्य (उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों एवं गीता का श्रीशङ्कराचार्यकृतभाष्य)।

शाण्डिल्यभक्तिसूत्राणि
शास्त्रार्थप्रकरणम् (प्रकाश, आवरणभङ्ग, टिप्पणी, योजना एवं सत्स्नेहभाजनसहित)।

शूद्रकमलाकरः
श्रीपुष्टिमार्गलक्षणानि (गोस्वामिहरिरायविरचित)।

श्रीभागवतसुधासागर (भागवत का श्लोकानुसारी हिन्दी अनुवाद, गीताप्रेस से प्रकाशित)।

श्रीमद्भागवतम् (सुबोधिनी, सुबोधिनीप्रकाश एवं श्रीवल्लभकृतलेखसहित)।

श्रीमद्भागवतम् (श्रीधरस्वामिकृत भावार्थदीपिका, वंशीधरकृतप्रकाश, सुबोधिनी, पुरुषोत्तमकृतप्रकाश, गोस्वामिगिरिधरकृत बालप्रबोधिनी आदि अनेक टीकाओं सहित, श्रीकृष्णशङ्करशुक्लसम्पादित)।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

सर्वनिर्णयप्रकरणम् (प्रकाश, आवरणभङ्ग एवं टिप्पणी सहित)।

सिद्धान्तमुक्तावली ('सद्धर्मस्मारकः' वर्ष २, मास १ के अङ्क में प्रकाशित विवृति, प्रकाश, योजना आदि अनेक टीकाओं सहित)।

सुबोधिनी (श्रीवल्लभाचार्यकृत श्रीद्भागवत की टीका, पुरुषोत्तमकृत प्रकाश एवं श्रीवल्लभकृत लेख सहित)।

सेवाकौमुदी (श्रीरमानाथभट्टसम्पादित)।

सेवाफलम् (द्वादशविवरणसमेतम्)।

मुद्रण में हो गयी अशुद्धियों का शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित पाठ	अभीप्सित शुद्ध पाठ
२	२२	उपनिषत्सद्ध	उपनिषत्सिद्ध
७	१९	ब्रह्म–	(ब्रह्म–
१२	२०	फो	को
१४	४	।	इति ।
२०	४	विद्यमानत्वात्	विद्यमानत्वात्
२०	२५	पृष्ट	पृष्ठ
४०	५	"स वा एष आत्मा हृदि	'स वा एष आत्मा हृदि'
४०	२१	य	यं
४१	३	।	इति ।
४२	६	चस्पक	चम्पक
४४	५	'व्यापकत्वम्',	व्यापकत्वम्,
५५	६	त्रिधा	द्विधा
५५	१९	तीन	दो
५८	२३	एवं	"एवं
६२	१६	कूठस्थ	कूटस्थ
६३	११	होने वह	होने से वह
६४	१८	इस	इस
७२	२४	समतिः	संमतिः
७४	२२	प्रक्कारोऽपि	प्रकारोऽपि
७६	१४	इद्र	इन्द्र
७७	२	।	इति ।
७८	१३	गहा	कहा
७८	१५	मो	भी

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित पाठ	अभीप्सित शुद्ध पाठ
७९	१८	सिद्धयर्थं	सिद्धयर्थे
८१	८	पुष्टिरूपं	पुष्टिभक्तिरूपं
८२	२३	अक्षण्वता···पर	अक्षण्वतां···परं
८३	२	'वीक्ष्यालकावृतमुखं	एतच्च, 'वीक्ष्यालकावृतमुखं
८९	२२	ननु	'ननु
९१	७	फलाकङ्क्षा	फलाकाङ्क्षा
९२	२०	६।१७ २८	६।१७।२८
९३	५	रहित्यादि	राहित्यादि
९४	३	तामस	तामस–
९५	२	सिद्धिर्लौकिकी	सिद्धिलौंकिकी
९५	२७	माययाः	मायायाः
९८	४	चोर्यादि	चौर्यादि
१००	४	श्रुतिरपि अत्र	(पाठान्तरे,) श्रुतिरत्रापि
१०३	२३;२४	ना	नां
१२१	५	तदा	ततः
१२१	१८	कणरन्ध्र	कर्णरन्ध्र
१२२	३–४	रित्यभिधीयते	रित्युच्यते
१२२	५	यक्ता	युक्ता
१३०	१८	नित्य लीला	नित्यलीला
१३२	३	पुष्टि-पुष्टि	पुष्टिपुष्टि
१३२	२१	अलौकिक सामर्थ्यरूप	अलौकिकसामर्थ्यरूप
१३५	१४	का	को
१४७	१४	जा	जो
[illegible]	[illegible]	म्बरीषस्य	ऽम्बरीषस्य
१५७	४;११	अनुशय	अनुशयन
१६१	२७	शयना	शय्या

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित पाठ	अभीप्सित शुद्ध पाठ
१८३	२	उद्धवोपदिष्टं	उद्धवद्वारोपदिष्टं
१७३	११	रहते	रहें।
१७९	५	परिचर्यादि	परिचर्याश्रवणादि
१८०	८	।	इति ।
१८४	२	अत एव	अत
१८४	२४	पुष्टिमागियों	पुष्टिमार्गियों
१८७	२६	)	),
१८७	२७	प्रतिवन्धक	प्रतिबन्धकं
१९५	१३	को यह	को
१९६	१३	भगवन्	भगवान्
१९८	२२	अध्याय	अध्याय[२]
२०४	१०	।	इति ।
२०८	३	।'	।
२०८	४	॥	॥'
२०९	१२	हैं	है
२५२	२४	वस्तुता जीवापि	वस्तुतो जीवोऽपि
२२४	८	स्पर्शं	स्पर्शं
२५२	२५	भावापन्न	भावापन्नं

१

नोट—प्रमादवश पृष्ठ १४५, १४७, १४९, १५१, १५३ और १५५ पर अध्याय का शीर्षक 'सर्वात्मभावविवेकः' के स्थान पर 'पुष्टि-भक्त्यधिकारविवेकः' छप गया है। पृष्ठ ४४ तथा ८६ पर 'पूर्वार्द्धं', पृष्ठ ९७ पर 'चतुर्थोऽध्यायः' एवं पृष्ठ २२८ पर 'उत्तरार्द्धं' अशुद्धरूप में छपा है।